अध्ययन मण्डल

अध्यक्ष
कुलपति
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
1.प्रो0 अरविंद के जोशी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उत्तर प्रदेश)
2.प्रो0 बी.मोहन कुमार, जी.बी.पंत कृषि व प्रोद्योगिकी विश्वविद्यालय, पंतनगर, उत्तराखण्ड

संयोजक
निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ0 दीपक पालीवाल, सहायक प्राध्यापक समाजशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	इकाई संख्या
प्रो0 इला शाह, समाजशास्त्र विभाग, एस0एस0जी परिसर कुमांऊ विश्वविद्यालय, अल्मोड़ा	1,4,5
डॉ0 भावना डोभाल, समाजशास्त्र विभाग, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	2,3
श्री यादव गुंजन रामराज	7,8,9
डॉ0 अरुण कुमार, राजकीय (पी0जी0) कालेज, अल्मोड़ा	6
Translation of Units: Punit Chaturvedi	**7,8,9**

संपादन

डॉ0 दीपक पालीवाल, सहायक प्राध्यापक समाजशास्त्र, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन वर्ष- 2020

प्रकाशन- उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी- 263139

सर्वाधिक सुरक्षित। इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी

MASO-602

भारतीय समाजशास्त्रीय विचार – I
Indian Sociological Thought-I

Block I	**Indological/Textual Perspective**	
Unit 1:	Radhakamal Mukherjee डॉ0 राधाकमल मुकर्जी	पृष्ठ–1–41
Unit 2:	G.S.Ghurye जी0 एस0 घुर्ये	पृष्ठ–42–56
Unit3:	Louis Dumount लुई ड्यूमो	पृष्ठ–57–74
Block II	**Structural-Functional Perspective**	
Unit 4:	M.N.Srinivas एम0 एन0 श्रीनिवास	पृष्ठ–75–101
Unit 5:	S.C.Dube श्यामाचरण दुबे	पृष्ठ–102–126
Unit 6:	Mckim Marriott मैकिम मैरियट	पृष्ठ–127–143
Block III	**Marxist Perspective**	
Unit 7:	D.P.Mukerjii डी .पी मुखर्जी	पृष्ठ–144–158
Unit 8:	A.R.Desai ए.आर देसाई	पृष्ठ–159–171
Unit 9:	Ramkrishna Mukherjee रामकृष्ण मुखर्जी	पृष्ठ–172–180

इकाई–1

डॉ0 राधाकमल मुकर्जी (Radhakamal Mukerjee)

इकाई की रूपरेखा

1.1 उद्देश्य
1.2 प्रस्तावना
1.3 राधाकमल मुकर्जी का जीवन परिचय
1.4 राधाकमल मुकर्जी की प्रमुख कृतियां
1.5 मूल्य
1.6 मूल्य का अर्थ एवं परिभाषा
1.7 मूल्यों का उद्भव एवं विकास
1.8 दुर्खीम का मूल्यों का समाजशास्त्र
1.9 सामाजिक मूल्यों के प्रकार
1.10 सामाजिक जीवन में मूल्यों का गठन
1.11 बाह्यता एवं बाध्यता
1.12 चार्ल्स बगल एवं सामाजिक मूल्य
1.13 मूल्य का अर्थ एवं उत्पत्ति
1.14 मूल्य एवं प्रतीक
1.15 व्यक्ति समाज एवं मूल्य
1.16 मूल्यों का सोपान व संस्तरण
1.17 मूल्यों के नियम
1.18 मूल्यों के महत्व
1.19 गैर मूल्य क्या हैं?
1.20 गैर मूल्य के कारण
1.21 मूल्य व गैर मूल्य में अंतर
1.22 सारांश
1.23 सामाजिक परिस्थिति विज्ञान
1.24 सामाजिक परिस्थिति विज्ञान की अवधारणा
1.25 सामाजिक परिस्थिति की विशेषताएँ
1.26 सामाजिक परिस्थिति का महत्व
1.27 राधाकमल मुकर्जी के सामाजिक परिस्थितिकी संबंधी विचार
1.28 सामाजिक परिस्थितिकी के प्रकार्य
1.29 परिस्थितिगत अवधारणाएँ एवं आदिकालीन समाज
1.30 परिस्थितिगत अवस्थाओं से अनुकूलन के प्रमुख तीन स्तर
1.31 प्रादेशिक समाजशास्त्र
1.32 प्रादेशिकता का अर्थ

1.33 प्रादेशिक समाजशास्त्र का अध्ययन विषय
1.34 प्रादेशिक समाजशास्त्र के आधारभूत तत्व
1.35 प्रादेशिकता की वास्तविकता
1.36 सारांश
1.37 शब्दावली
1.38 अभ्यास प्रश्न
1.39 संदर्भ सूची
1.40 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामाग्री
1.41 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 उद्देश्य–

1– राधाकमल मुखर्जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से विद्यार्थियों को परिचित कराना।

2– उनकी प्रमुख कृतियों का अध्ययन कर विद्यार्थियों को समाज को नवीन दिशा प्रदान करने के लिए प्रेरित करना।

3– उनके मूल्यों के सिद्धान्त के आधार पर विद्यार्थियों को अवगत कराने का प्रयास किया जायेगा कि समाज के लिए मूल्यों का क्या महत्व है।

4– मूल्यों के समाजशास्त्र में राधाकमल मुकर्जी का अंशदान किस प्रकार पूर्वी तथा पश्चिमी विचारों का समन्वय है। अवगत कराना।

5– मूल्यों के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में मुकर्जी का क्या सहयोग रहा, से विद्यार्थियों को अवगत कराना।

1.2 प्रस्तावना

राधाकमल मुकर्जी अपने मूल्य सिद्वान्त के कारण भारत में ही नहीं, अपितु संसार के समाजशास्त्रियों में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाये हुए हैं। यही कारण था कि बोगार्ड्स ने राधाकमल मुकर्जी को पूर्वी देशों का समाजशास्त्री व सामाजिक दार्शनिक कहकर संबोधित किया है। उनके अविस्मरणीय योगदान के लिए उन्हें भारतीय समाजशास्त्र का संस्थापक (founder of Indian sociology) माना जाता है। यूरोप में शिक्षा प्राप्त करने के कारण उनको पूर्व और पश्चिम की विचारधाराओं को समन्वित करने की योग्यता प्राप्त हो गयी थी। समाज के एक सामान्य सिद्धान्त (A General theory of Sociology) के अन्तर्गत उन्होंने सामाजिक विचारधारा के एक समन्वय का परिणाम है। यहाँ सर्वप्रथम राधाकमल मुकर्जी के जीवन परिचय का अध्ययन किया जायेगा।

1.3 राधाकमल मुकर्जी का जीवन परिचय (Biographical Sketch of Radhakamal Mukerjee)

राधाकमल मुकर्जी का जन्म 7 दिसम्बर 1889 में पश्चिमी बंगाल के बरहमपुर जिले में हुआ था। उनके पिता गोकुल चंद्र मुकर्जी एक प्रख्यात अधिवक्ता (advocate) थे। मुकर्जी का पारिवारिक परिवेश एक आर्थिक रूप से सम्पन्न तथा पुस्तकों से भरा हुआ था, जहाँ पूरब एवं पश्चिम के साहित्य पर

सभी की रूचि थी। सुविधाजनक इस बौद्धिक वातावरण व पालन–पोषण की प्रक्रिया के कारण भारतीय दर्शन के ज्ञानी थे। इस विद्वान को भारतीय दर्शन के संबंध में अपने ज्ञान को बढ़ाने का पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ। इसके साथ ही इतिहास में भी उनका विशेष लगाप होने के कारण उन्होंने इसका भी गहन अध्ययन किया। मुकर्जी का स्वभाव अत्यंत चिन्तनशील था। इतिहास दर्शन में रूचि होने के पश्चात् भी कोलकता की गन्दी बस्तियों का अद्यःपतन दुख–दरिद्रता से परिचय होने के पश्चात् उनकी रूचि अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र की ओर परिवर्तित हो गयी। उन्होंने लिखा है–''कलकत्ता की गन्दी बस्तियों में दुख–दारिद्रय, गन्दगी और अद्यःपतन के साथ मेरा जो आमने–सामने का परिचय हुआ, उसने मेरी भविष्य रूचि को अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र की ओर अग्रसर किया।'' इन गन्दी बस्तियों के दूषित व अमानवीय वातावरण के बारे में उन्होंने अपनी पुस्तक 'the Indian working class' में लिखा है–''इन असंख्य गन्दी बस्तियों में मनुष्यता का निःसन्देह ही निर्दयता के साथ गला घोंटा जाता है। नारीत्व का अपमान होता है, और शिशुता को आरम्भ से ही जहर पिलाया जाता है।'' इसी दूषित माहौल से क्षुब्ध होकर उन्होंने स्वयं को समाज कल्याण कार्यों में लगाया और सन् 1906 ई में प्रौढ शिक्षा केन्द्रों की स्थापना एवं संचालन के अतिरिक्त अनेक सामाजिक कल्याण से संबंधित कार्यों में सक्रिय भागीदारी का निर्वहन किया इस कार्य को करते हुए उन्हें काफी नये–नये अनुभव प्राप्त हुए।

कॉलेज स्तर पर कोलकाता के प्रेसीडेंसी कॉलेज में शिक्षा प्राप्त करते हुए उन्होंने काम्टे, लेस्टरवार्ड, बैगहॉट, गिडिंग्स, हॉबहाउस आदि की कृतियों का गहन अध्ययन किया, तो इतिहास के क्षेत्र में बर्कले, टेन, लीकी ऐक्टन तथा अर्थशास्त्र के क्षेत्र में रिकार्डो, मिल, मार्शल, वॉकर, कारवर आदि की कृतियों से मुकर्जी अत्यधिक प्रभावित हुए। मुकर्जी के जीवन में प्रो0 विनय कुमार सरकार के आदर्शवादी व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक दिखायी पड़ती है।

सन् 1910 से 1915 तक अपने गृहनगर बरहमपुर के कृष्णनाथ कॉलेज में पांच वर्ष तक अर्थशास्त्र के अध्यापक बनकर अनेक अर्थशास्त्र विषयक मामलों में उन्होंने प्रयोग सिद्ध कार्य कर अनेक सामग्री संग्रह की और 1916 में अपनी प्रथम कृति 'The foundation of Indian economis' को प्रकाशित किया। इससे पूर्व 1915 में भी बंगाल सहकारिता आन्दोलन पर उनके सामाजिक सर्वेक्षण व शोध कार्य के लिए उनको प्रसिद्ध 'प्रेमचन्द–रायचन्द छात्रवृत्ति' प्रदान की गयी थी।

सन् 1916 में मुकर्जी की नियुक्ति लाहौर (पंजाब) के सनातन धर्म कॉलेज में हुई, जहां उनका कार्यकाल मात्र एक वर्ष का ही रहा। 1917 में पंजाब विश्वविद्यालय में 'भारतीय अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' विषय पर दस महत्वपूर्ण व्याख्यान दिये। 1917 से 1921 अर्थात् अर्थात् पांच वर्षों तक कलकत्ता में अध्यापन कार्य के दौरान अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र विषयों को पढ़ाने का कार्य किया, और 1920 में यहीं से 'भारतीय ग्रामीण समुदाय में सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन' विषयक शोध निबंन्ध पर 'डॉक्टर' की उपाधि प्राप्त की।

सन् 1945–1947 की अवधि में ग्वालियर सरकार के आर्थिक सलाहाकार के रूप में कार्य किया। इसके अतिरिक्त मुकर्जी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के विभिन्न सरकारी व शैक्षिक संगठनों के चेयरमैन, सदस्य आदि रहे और अपनी योग्यता व बौद्धिक प्रखरता के कारण सारे विश्व में प्रसिद्ध हुए। सन् 1955–1958 तक लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर रहते हुए अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह्

किया और इसके पश्चात् इसी विश्वविद्यालय में 'जे0 के0 इंस्टीट्यूट ऑफ सोशियोलॉजी एंड ह्यूमन रिलेशन' बने और इसी पद पर अगस्त 1968 में उनकी मृत्यु हो गयी।

देश–विदेश की प्रायः सभी प्रख्यात पत्रिकाओं में असंख्य लेखों व शोध रचनाओं के अतिरिक्त मुकर्जी ने अपने जीवन काल में 53 आधारभूत पुस्तकों की रचना कर शिक्षा जगत को आने वाली पीढ़ी के चिन्तन हेतु अतुलनीय योगदान दिया। अर्थशास्त्र, परिस्थितिशास्त्र, प्रादेशिक समाजशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, संस्कृति, सभ्यता, मानव–उद्विकास, कला, धर्म, आचार, रहस्यवाद, प्रतीकात्मक समाशास्त्र, मूल्य, मानवता कोई भी क्षेत्र मुकर्जी की बौद्धिक पकड़ से अछूता न था, अर्थात् उनकी प्रत्येक क्षेत्र में बौद्धिक पकड़ जबरदस्त थी। अन्तिम वर्षों में आध्यात्म की ओर झुकाव ने उन्हें 'भगवत् गीता की अपनी एक व्याख्या प्रस्तुत् करने (the song of the self superme-1971) का सफल प्रयास किया, जिसका प्रकाशन उनकी मृत्यु के पश्चात हुआ।

1.4 राधाकमल मुकर्जी की प्रमुख कृतियाँ

विद्यार्थियों की जानकारी के लिए राधाकमल मुकर्जी की कुछ प्रमुख कृतियों का वर्णन निम्नवत् किया गया है–

द फाउण्डर ऑफ इण्डियन इकानॉमिक्स (The founder of Indian Econmics-1916), द प्रिंसपल ऑफ कम्पैरेटिव इकॉनोमिक्स (The Principles of comparative Economics-1922), डैमोक्रेसीज ऑफ द ईस्ट (Democracies of the east-1923), बॉडरलैंड ऑफ इकानॉमिक्स (Borderland of Economics-1952), रिजनल सोसायोलॉजी (Regional Sociology (1926), माइन्ड इन सोसाइटीः इन्ट्रोडक्शन टू सोशल साइकोलॉजी (mind in society Introduction to social Psychology-1928), मैन एण्ड हिज हैबीटेशन (man and his habitation–1940, द सोशियल फंक्शन ऑफ आर्ट (The social function of art-1948) द सोशियल स्ट्रक्टर ऑफ वैल्यूज (the social structure of Values (1949), द इंडियन स्कीम ऑफ लाइफ (The Indian scheme of life 1949), द डायनामिक्स ऑफ मोराल (The Dynamics of moral 1951), द हिस्ट्री ऑफ सिविलाईजेसन (the history of civilization 1956), द होरिजन ऑफ मैरिज (The horizon of Marriage 1956), द डाइमैंसन्स ऑफ वैल्यूज (the Dimensions of values 1964), द फिलॉसफी ऑफ मैन (the philosophy of man 1966)] द सॉग ऑफ सैल्फ सुप्रीम (The song of self supreme 1971)

1.5 मूल्य (value)

यह सर्वविदित है कि सामाजिक मूल्यों के अध्ययन में राधाकमल मुकर्जी का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। प्रत्येक समाज के कुछ निश्चित मानदण्ड होते हैं। जो समाज की अच्दाई व बुराई का मूल्यांकन करते हैं, और जिनका आधार 'क्या करना चाहिए अथवा क्या नहीं करना चाहिए? पर केन्द्रित होता है। जब हम विभिन्न विषयों और परिस्थितियों का मूल्यांकन करते हैं तो अपने पास कुछ निश्चित आधार रखते हैं, जिन्हें मूल्य के नाम से जाना जाता है। ये मूल्य व्यक्ति व समाज दोनों में अपनी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। प्रत्येक समाज की भिन्न–भिन्न परिस्थितियों के कारण एक समाज के मूल्य दूसरे समाज से भिन्न होते हैं। सर्वप्रथम मूल्य का अर्थ एवं परिभाषा की चर्चा की जाएगी।

1.6 मूल्य का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and definition of values)

मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इच्छाएँ एवं लक्ष्य हैं। जिनका आन्तरिकरण सीखने या सामाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है। और जो व्यक्तिनिष्ठ अधिमान, मान तथा अभिलाषाएं बन जाते हैं। इनकी उत्पत्ति एवं विकास मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पारस्परिक अंतःक्रिया के द्वारा सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में होता है जो ऐसे मान, लक्ष्य या आदर्श बन जाते हैं, जिनके द्वारा विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों तथा विषयों पर मूल्यांकन किया जाता है।

सामाजिक विज्ञानों में मूल्यों की क्रियाशील अवश्यकरणीय या कर्तव्य के रूप में परिभाषित किया जाता है। जो कि मूल्यों की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट नहीं करते। इनकी उत्पत्ति एक सामाजिक संरचना विशेष के सदस्यों के बीच होने वाली अन्तःक्रिया के फलस्वरूप धीरे–धीरे होती है, जो मनुष्य को उसके जीवन से, पर्यावरण से, स्वयं से, समाज से, संस्कृति से, मानव अस्तित्व तथा अनुभव से प्राप्त होते हैं। अतः मूल्य आदर्श नियमों से घनिष्ठ रूप से संबंधित होते हैं। जिनका एक संगठन व संकलन होता है और जो व्यवस्था और शांति बनाये रखने के लिए सार्वभौमिक मानवीय इच्दा की अभिव्यक्ति है।

बर्गेस और लॉक के अनुसार मूल्य समाज और व्यक्ति दो के पास होते है। जिनमें समाज के मूल्य प्राथमिक प्राथमिक है, क्योंकि व्यक्ति सामाजिक मूल्यों के संसार में जन्म लेता है। इन्हीं के आधार पर अपनी मनोवृत्ति का विकास करता है। मूल्य सामाजिक जीवन शैली का निर्माण करने के लिए कुछ निश्चित मूल्यों की स्थापना करता है। जिनकी सहायता से पारस्परिक अन्तःसंबंधों को परिभाषित किया जाता है।

परिभाषा (Definition)

विभिन्न विद्वानों द्वारा मूल्यों को निम्नवत् परिभाषित किया गया है–

इलिएट एवं मेरिल (Ellioll and merill)–''सामाजिक मूल्य वे वस्तुएँ हैं, जो हमारे लिए अर्थपूर्ण होती हैं और जिन्हें हम अपनी जीवनचर्या में महत्वपूर्ण मानते हैं।''

जॉनसन (Johnson H.M.)–''मूल्य की एक संकल्पना मानव के रूप में परिभाषित किया जाना है, जो कि सांस्कृतिक हो सकता है या मात्र व्यक्तिगत और जिसके द्वारा चीजों की एक दूसरे के साथ तुलना की जाती है–स्वीकृति अथवा अस्वीकृति प्राप्त होती है। एक–दूसरे की तुलना में उचित अनुचित, अच्छा–बुरा, सही–गलत माना जाता है।

राधाकमल मुकर्जी (R.K.Mukherji)– ''मूल्य समाज द्वारा स्वीकृति प्राप्त वे इच्छाएँ या लक्ष्य हैं। जिनका आन्तरीकरण सीखने या सामाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है जो की प्रतीतिक, अधिमान्यताएँ, मानक तथा अभिलाषाएँ बन जाती हैं।''

वारेन एच0सी0 (warren H.C)–''मूल्य वह महत्व है जो हम किसी एक वस्तु को, उसी वर्ग की अन्य वस्तुओं की तुलना में देते हैं।

थामस और जैनिकी (Thomas And Znaniecki)–''मूल्य वे वस्तुएँ हैं जो सामाजिक समूह के सदस्यों के लिए कुछ अर्थ और तथ्य रखते हैं।''

ब्रेनावस्की (Jacob Brronwaski)–''मूल्य वह अवधारणा है जो समाज में व्यवहार के प्रकारों को एक साथ जोड़ती है।''

डोरोथी ली(Dorothy lee)– ''मानवीय मूल्यों या मूल्यों अथवा मूल्य व्यवस्था से हमारा तात्पर्य उस आधार को समझना है। जिसके अनुसार एक व्यक्ति एक मार्ग को अन्य मार्ग की अपेक्षा चुनेगा और अच्छे तथा बुरे का निर्णय करेगा।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि मूल्य समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं। सामाजिक समूह के सदस्यों के लिए अर्थपूर्ण व महत्वपूर्ण होते हैं तथा शान्ति व्यवस्था व संगठन के लिए आवश्यक माने जाते हैं।

अतः सामाजिक मूल्यों को सामाजिक पैमाने के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। जिसके माध्यम से विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों और घटनाओं का मूल्यांकन किया जाता है।

मूल्यों की विशेषताएँ (characteristics of values)- उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर मूल्यों की विशेषताओं की चर्चा निम्नवत् करेंगे–

1. समाज और मूल्यों का घनिष्ठ संबंध है अर्थात् मूल्य और समाज अन्तः संबंधित हैं जिन्हें एक–दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इस प्रकार मूल्य एक सामाजिक घटना (social phenomena) है।
2. मूल्य अमूर्त होते हैं। इनका न तो कोई भौतिक आकार होता है न ही इनका प्रयोग किया जाता है।
3. मूल्यों का संबंध मानव मस्तिष्क से होता है, क्योंकि समाज में मूल्यों का निर्माता व्यक्ति ही होता है।
4. मूल्य सामाजिक विरासत (social heritage) के अंग होते हैं, जिन्हें परम्परागत रूप से स्वीकार किया जाता है।
5. मूल्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरण होने की एक प्रक्रिया है।
6. व्यक्तित्व विकास की प्रक्रिया में मूल्यों का महत्वपूर्ण योगदान होता है, क्योंकि व्यक्ति के सामाजीकरण में इनकी प्रभावशाली भूमिका होती है।
7. मूल्य संस्कृति निर्धारण हेतु आवश्यक व महत्वपूर्ण है।
8. मूल्यों पर समरूपता निर्भर करती है। प्रत्येक व्यक्ति को परस्पर के मूल्यों का ध्यान रखना पड़ता है। समस्त सामाजिक संबंध व व्यवहार मूल्यों के सहयोग एवं संघर्षों पर आधारित हैं।
9. मूल्य आदर्श भी होते हैं। प्रत्येक समाज के मूल्यों में भिन्नता होने के पश्चात भी कुछ ऐसे सार्वभौमिक मूल्य होते हैं जो मानव समाज में समान रूप से लागू होते हैं और सभी के द्वारा स्वीकार्य भी। अतः सामाजिक प्रगति के निर्धारण में मूल्यों का विशेष स्थान है।
10. समय के अनुसार परिवर्तन मूल्यों की विशेषता है। अतः मूल्यों की प्रकृति गतिशील है।

1.7 मूल्यों का उद्भव एवं विकास (Emergence and development of values)

मूल्यों का विकास निम्नलिखित परिस्थितियों में होता है–

1. सर्वप्रथम लक्ष्य निर्मित होते हैं।
2. तत्पश्चात आदर्शों का निर्माण होता है।
3. आदर्शों की प्राथमिकता के अनुरूप सामाजिक मान्यता मिलती है।
4. यही मान्यताएँ शनै–शनैः सामाजिक मूल्य बन जाती हैं।

इसको निम्नवत् रेखांकित किया जा रहा है–

मूल्यों का उद्भव

लक्ष्य–आदर्श–सामाजिक मान्यता– सामाजिक मूल्य

जैसा कि सर्वविदित है कि मूल्यों के क्षेत्र में अन्य समकालीन विचारकों की तुलना में राधाकमल मुकर्जी का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। अतः इसकी विस्तृत चर्चा करने से पूर्व अन्य विचारकों के द्वारा दिये गये योगदान को संक्षेप में प्रकाश डाला जायेगा–

1.8 दुर्खीम का मूल्यों का समाजशास्त्र (Durkheim sociology of values)

दुर्खीम ने मूल्यों के समाजशास्त्र के सिद्धान्त की विवेचना प्रत्यक्षवादी पद्धति के आधार पर की है। उनके अनुसार–समाज प्रत्येक प्रकार के मूल्यों के स्रोत होते हैं। यही कारण है कि उसमें सामाजिक संदर्भ में मूल्यों के अध्ययन पर जोर दिया गया है। व्यक्ति के कुछ विचार होते हैं। ये विचार व्यक्ति की आदत और क्रिया के रूप में विकसित होकर सामाजिक मान्यता प्राप्त करके मूल्य बन जाते हैं।

दुर्खीम ने मूल्यों की विवेचना समूहवाद (Aghelicism) के आधार पर की है। समूहवाद को परिभाषित करते हुए बोनाल्ड और मेस्ट्री ने लिखा है–''सामाजिक समूह व्यक्ति को अनुभव प्रदान करता है तथा उसे गठित करता है और संस्कृति तथा समस्त उच्चतर मूल्यों का स्रोत है।'' इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्तित्व के गुणों का विकास सामाजिक समूह के द्वारा ही होता है। समूहवाद की भावना ही संस्कृति और उच्चतर मूल्यों को जन्म देती है। दुर्खीम ने 1911 में मूल्यों के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए लिखा है–''सामाजिक अन्तःक्रिया के परिणामस्वरूप मूल्यों का जन्म होता है।'' व्यक्ति सामाजिक प्राणी होने के नाते स्वयं को अन्य सामाजिक प्राणियों से पृथक नहीं रह सकता। दूसरे व्यक्तियों के सम्पर्क में आने के कारण ही व मानसिक अन्तःक्रिया करता है जो मूल्यों को जन्म देती हैं। विभिन्न सामूहिक उत्सव या सामान्य सभाओं पर ये मानसिक क्रियाएँ अत्यन्त तीव्र हो जाती हैं। या सामान्य सभाओं पर ये मानसिक क्रियाएँ अत्यन्त तीव्र हो जा जाती हैं और व्यक्ति अपना व्यक्तित्व खो देता है। तात्पर्य यह है कि ऐसी स्थिति में वैयक्तिक व्यक्तित्व सामूहिक व्यक्तित्व में परिवर्तित हो जाता है। यही वह स्थिति है जो उच्चतर आदर्शों और मूल्यों को जन्म देती है।

दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य (social facts) सिद्धान्त के द्वारा स्पष्ट किया है कि सामाजिक मूल्य ही सामाजिक तथ्य है। जिनका वैषयिक रूप से निरीक्षण किया जा सकता है। इन सामाजिक तथ्यों को दो विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट किया गया है।

1.9 सामाजिक मूल्यों के प्रकार (Types of social values)

सामाजिक मूल्यों का वर्गीकरण विभिन्न विद्वानों द्वारा अपनी–अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम से अलग–अलग ढंग से किया है जिसकी चर्चा निम्नवत् है–

1. इलियट एवं मैरिल– इन दोनों विद्वानों ने सामाजिक मूल्यों का वर्गीकरण अमेरिकन समाज को दृष्टि में रखकर किया तथा उसको तीन प्रकारों में विभाजित किया है–

अ–देशप्रेम या राष्ट्रवाद की भावना।
ब–मानव का मानव के प्रति प्रेम।
स–आर्थिक सफलता।

2. कैण्टन– इनके द्वारा मूल्यों के छः प्रकारों का उल्लेख किया गया है जो इस प्रकार हैं–

अ–मानव जीवन– जो स्वयं में एक सामाजिक मूल्य है।
ब–मानव कला और मानव संबंधों की दृष्टि से उत्पादक उपलब्धि।
स–सहयोग– जो सुखी जीवन के लिए अनिवार्य है।
द–शक्तिपूजा– जो सम्पूर्ण मानव समाज से अधिक शक्तिशाली है
फ–नैतिक चरित्र का सर्वोत्तम विकास
ह–मानव बुद्धि एवं उसकी योग्यता का सर्वोच्च विकास

3. प्रो0 सी0 एस0 केस– इन्होंने सामाजिक मूल्यों को चार भागों में विभाजित किया है–

अ– **सामाजिक मूल्य (Social value)–** ये मूल्य सामाजिक जीवन से संबंधित होते हैं। जैसे–सत्य ही जीवन की सबसे बड़ी शक्ति और कर्मफल अनिवार्य है।

ब– **सांस्कृतिक मूल्य (cultural values)–** मूल्य संस्कृति से संबंधित है। जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं और इनके अन्तर्गत प्रथा, परम्पराएँ, धर्म, संगीत आदि को सम्मिलित किया जाता है।

स– **विशेष मूल्य (special values)–** मूल्यों का संबंध विशेष परिस्थितियों से होता है, जो विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए होते हैं। अतः उद्देश्य परिवर्तन के साथ मूल्य भी परिवर्तित होते हैं।

द– **शारीरिक मूल्य (organic value)-** इनका सीधा संबंध शारीरिक रक्षा से होता है जैसे–'शरीर का विकास' और 'शरीर की रक्षा' से संबंधित मूल्य।

स्पैंगर– इन्होंने छः आधरभूत मूल्यों का वर्णन किया है–

अ– सैद्वान्तिक या बौद्धिक मूल्य।
ब–आर्थिक या व्यवहारिक मूल्य।
स–सौन्दर्यबोधी मूल्य।
द–सामाजिक या परार्थवादी मूल्य।
फ–राजनीति या सत्ता संबंधी मूल्य
ह–धार्मिक या रहस्यात्मक मूल्य।

राधाकमल मुकर्जी द्वारा मूल्यों का दो प्रकार से वर्गीकरण किया गया है–

अ–साध्य मूल्य–जो वे लक्ष्य या सन्तोष हैं। जिन्हें व्यक्ति समाज जीवन तथा मस्तिष्क विकास व विस्तार की प्रक्रिया में अपने लिए स्वीकार कर लेते हैं।

ब–साधन मूल्य– वे मूल्य हैं जिन्हें मनुष्य व समाज प्रथम प्रकार के मूल्यों की सेवा हेतु उन्नत करने के साधन के रूप में मानते हैं।

सामाजिक मूल्यों का विभिन्न विद्वानों द्वारा किस प्रकार वर्गीकरण किया गया है। इसके पश्चात सामाजिक मूल्यों के महत्व पर प्रकाश डालेंगे–

1.10 सामाजिक जीवन में मूल्यों का गठन (Importance of values of social life)

जैसा कि पूर्व में चर्चा की जा चुकी है कि मूल्य की धारणा सार्वभौमिकता व निरपेक्षता के गुणों पर आधारित है। किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति, व्यक्ति व समाज की प्रगति मूल्यों के बिना संभव नहीं है। सामाजिक जीवन को समझने के लिए मूल्य आवश्यक होते हैं। अतः समाज में मूल्यों के महत्व का विवेचन निम्नवत् किया जा रहा है–

1. **मूल्य व्यक्ति की आन्तरिक भावनाओं पर आधारित होते हैं–** मूल्य सामाजिक जीवन को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान करते हैं,क्योंकि मूल्यों का संबंध व्यक्ति। की आन्तरिक भावनाओं पर आधारित होता है। मूल्यों के कारण ही व्यक्ति के सामाजिक सम्पर्क में वृद्धि होती है और सामाजिक व्यवस्था व संगठन मजबूत होता है।
2. **सामाजिक जीवन में शान्ति व्यवस्था बनाये रखने में मूल्यों की अहम् भूमिका होती है–** समाज में रहते हुए व्यक्ति का सम्पर्क अनेक सामजिक घटनाओं व समस्याओं से होता है। इनमें कुछ समाज को संगठित करती हैं तो कुछ विघटन की ओर ले जातीी है। ऐसी स्थिति में मूल्य इन समस्यों व घटनाओं का मूल्यांकन कर व्यक्ति के व्यवहार को निर्धारित करते हैं। परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में शान्ति व्यवस्था बनी रहती है।
3. **एकरूपता का विकास करने में सहायक–** मूल्यों पर समरूपता निर्भर होती है। अतः सामजिक एकरूपता स्थापित करने के लिए मूल्य व्यक्ति के व्यवहारों का निर्धारण करते हैं और समाज के सदस्यों से अपेक्षा की जाती है कि उनके द्वारा किये गये कार्य सामाजिक मूल्य एवं प्रतिमानों के अनुकूल हो, ताकि समाज में शांति के साथ–साथ स्वस्थ संगठन का निर्माण हो सके।
4. **मूल्य जो होना चाहिए से संबंधित है–** मूल्य व्यक्तियों को सही–गलत, उचित–अनुचित का बोध कराते हुए समाज में सही आचरण के लिए प्रेरित करता है, क्योंकि मूल्य व्यक्तिगत न होकर सामाजिक होते हैं। अतः समाज के लिए क्या उपयुक्त है, का पालन ही व्यक्ति की अनिवार्यता है। पर मूल्य बल देती है और समाज में एकरूपता को विकसित करता है। मूल्य व्यक्ति की सामाजिकरण की प्रक्रिया को भी सुदृढ़ करता है।
5. **मूल्य सामाजिक विरासत के पोषक हैं–** मूल्य व्यक्ति की प्रवृत्तियों को विकसित कर व्यक्तित्व विकास में सहायक होते हैं। अतः व्यक्तित्व निर्माण में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। मूल्य सामाजिक विरासत के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तिरित होकर उनमें मूल्यों के प्रति लगाव उत्पन्न करते हैं।
6. **सामाजिक गतिविधियाँ मूल्यों से जुड़ी हुई हैं–** मूल्य जीवन के उद्देश्य और उन्हें प्राप्त करने के साधनों को स्पष्ट करते हैं। हमारी तमाम सामाजिक गतिविधियाँ मूल्यों से जुड़ी हुई हैं। जो हमें

बतलाता है कि समाज के लिए कौन सा आचरण सबसे अधिक अपेक्षित है। अर्थात् मूल्य के साथ हमेशा समाज के लिए सबसे जरूरी क्या है? का भाव जुड़ा रहता है जो उसी प्रकार की गतिविधियों के लिए व्यक्ति को प्रेरित करता है।

7. **मूल्य संस्कृति निर्धारण की प्रक्रिया है**– मूल्यों के आधार पर किसी समाज की संस्कृति का निर्धारण होता है। इसमें प्रथा, परम्परा, विश्वास, संगीत आदि को सम्मिलित किया जाता है।

उपरोक्त मूल्यों के महत्व पर प्रकाश डालने से स्पष्ट होता है कि मूल्य स्थिर नहीं होते हैं। समय–परिस्थितियों के अनुसार उनमें परिवर्तन निश्चित हैं, लेकिन मूल्यों के बिना समाज की शान्ति, संगठन, समरूपता, आदर्श की कल्पना नहीं की जा सकती। परिवर्तित होते रहने के पश्चात भी मूल्यों की अपनी महत्ता अतुलनीय है।

1.11 बाह्यता (Exteriority) एवं बाध्यता (Constraint)

दुर्खीम के अनुसार सामाजिक तथ्यों के समान ही मूल्यों की भी दो विशेषताएँ होती हैं–

1–बाह्यता– सामाजिक मूल्यों में बाह्यता इस रूप में पायी जाती है कि इनका स्वतंत्रता व वास्तविकता के साथ अनुभव किया जा सकता है। मूल्य की ये विशेषताएँ व्यक्ति विशेष से संबंधित न होकर समस्त समाज से संबंधित होती हैं जिनका विकास मनुष्यों के पारस्परिक सहयोग के परिणामस्वरूप होता है। यहीं कारण है कि व्यक्ति से परे इन मूल्यों का पृथक अस्तित्व होता है।

2– बाध्यता– ये वे मूल्य होते हैं जो व्यक्ति कते उपर अनिवार्यता का आरोपण करते हैं। जिससे सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति होती है। इस चेतना के परिणामस्वरूप व्यक्ति बाध्य होकर सामूहिक बाध्य होकर सामूहिक मूल्यों के अनुसार कार्य करते हैं।

1.12 चार्ल्स बगल एवं सामाजिक मूल्य (Charles bougle and social values)

अपनी प्रमुख कृति 'मूल्यों का उद्विकास (evolution of values) में चार्ल्स बर्गल ने मूल्यों के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। बगल दुर्खीम के विचारों के अनुयायी थे। उन्होंने ऐसी मानवीय प्रक्रियाओं की व्याख्या की है। जिनमें सामाजिक मूल्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं। उनके अनुसार–व्यक्ति जब व्यवहार करता है तो उसके मन में सामूहिक जीवन से संबंधित ऐसे विचारों का जन्म होता है। जो सामूहिक कल्याण से संबंधित होते हैं, जिन्हें समूह अपनी स्वीकृति प्रदान करता है और वे मूल्य के रूप में बदल जाते हैं।

सामाजिक मूल्य सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होते हैं। जिसका आधार उनकी यथार्थ प्रकृति है। यद्यपि अनेक मूल्य असात्य भी होते हैं और मूल्य लोगों की रूचि के अनुरूप भी होते हैं। जिनके कारण लोग इन्हें स्वीकार करते हैं और इनमें आस्था रखते हैं। बगल के अनुसार–''मूल्य निरंतर परिवर्तित होने वाली अवधारणा है। मूल्य से संबंधित विचार समूह के किसी सदस्य के मस्तिष्क में पैदा होते हैं। जो अन्तः क्रियाओं के परिणामस्वरूप समूह के विचारों में परिवर्तित हो जाते हैं और मूल्य का रूप धारण कर लेते हैं। ये व्यक्तिगत विचार सामूहिक विचार का रूप तब धारण करते हैं। जब लोगों में सामूहिक क्रिया संबंध चेतना का विकास हो।''

बगल के अनुसार मूल्य एकपक्षीय (one sided) होते हैं, क्योंकि इसका संबंध जीवन के किसी एक पक्ष से होता है। नैतिक नियमों को इसका अपवाद कहा जा सकता है, क्योंकि ये सम्पूर्ण जीवन से संबंधित हैं। जबकि मूल्यों में विवेक सर्वश्रेष्ठ होता है, जिसकी सहायता से हम विभिन्न प्रकार के व्यवहारों का सम्पादन करते हैं।

बगल का मानना है कि प्रत्येक समाज में प्राचीन व नवीन दोनों प्रकार के मूल्यों की एक व्यवस्था बनायी जाती है, जहां पुराने मूल्यों का कार्य समाज की परम्परागत व्यवस्था को बनाये रखना है। वहीं नवीन मूल्य इस व्यवस्था को परिवर्तित करने के पक्ष में होते हैं। ऐसी स्थिति में प्राचीन व नवीन मूल्यों के बीच संघर्ष संभव हो जाता है, लेकिन बगल मानते हैं कि संघर्ष की स्थिति बहुत कम आती है। इसका कारण सामाजिक संगठन में दोनों प्रकार के मूल्यों का संबंध पाया जाता है। और सामाजिक जीवन में संतुलन का विकास होता है। जैसे–जैसे श्रम विभाजन (Division of labour) विकसित होता है।

सामाजिक मूल्यों (con-comitant diherentation) का विकास होता जाता है। श्रम विभाजन के आध्यात्मिक पक्ष का प्रतिनिधित्व मूल्य करते हैं। समाज में लक्ष्य विकसित होकर व्यक्ति को व्यवहारों के माध्य से मूल्य को जन्म देने के लिए विवश करते हैं।

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है कि सामाजिक मूल्यों के क्षेत्र में डॉ0 राधाकमल मुकर्जी का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि जितनी विस्तृत व व्यापक चर्चा मूल्यों के संबंध में मुकर्जी द्वारा की गयी है, उतनी किसी अन्य विद्वानों द्वारा नहीं की गयी है। वे मानते थे कि सम्पूर्ण सामाजिक संगठन व व्यवस्था का आधार सामाजिक मूल्य ही है। अतः मुकर्जी द्वारा प्रतिपादित सामाजिक मूल्यों की चर्चा का विस्तापूर्वक विश्लेषण करना आवश्यक होगा।

1. मूल्यों की सामाजिक संरचना (the social structure of values). प्रत्येक विज्ञान मूल्य केन्द्रित है, क्योंकि सभी विज्ञानों का उद्देश्य यह ज्ञान प्रेषित करना है कि व्यक्ति, समाज, प्रकृति एक सूत्र में बंधे हुए स्तर हैं। मुकर्जी ने सामाजिक मूल्य संबंधी विचार प्रस्तुत् करते हुए स्पष्ट किया है कि मूल्य सामाजिक मान, लक्ष्य या आदर्श हैं। जो हमारे जीवन के लिए महत्वपूर्ण तथा समाज के लिए आवश्यक होते हैं। मूल्यों की एक सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि होती है। जिसके कारण प्रत्येक समाज के मूल्यों में भिन्नता पायी जातीी है। उदाहरणार्थ हिन्दू विवाह धार्मिक संस्कार होने के कारण यहाँ विवाह–विच्छेद की भावना पनप नहीं पाती है, क्योंकि मूल्यों का सामाजिक प्रभाव प्रति–पत्नी को एक–दूसरे के प्रति आजीवन वफादार बने रहने पर आधारित होता है। जबकि अमेरिकन समाजों में इस प्रकार के मूल्यों को नितांत अभाव है। सामाजिक मूल्य सामाजिक मान हैं, जो कि सामाजिक जीवन के अन्तः संबंधों को परिभाषित करने में सहायक होते हैं।

मूल्यों के द्वारा सभी प्रकार की चीजों, भावनाएँ, विचार, क्रिया, गुण, वस्तु, व्यक्ति, समूह, लक्ष्य या साधन आदि का मूल्यांकन किया जा सकता है। मूल्यों को एक उद्वेगात्मक आधार होता है। जो समाज के सदस्यों के उद्वेगों की अपील करता है और उन्हीं के भरोसे जीवित रहता है। इसका उदाहरण प्रस्तुत् कर मुकर्जी ने लिखा है– ''हिन्दुओं में विवाह से संबंधित अन्तः विवाही नियम एक दृढ़ मूल्य है। जिसमें सामाजिक नियम का पालन कर एक जाति के सदस्यों को अपनी ही जाति में विवाह करने की अनिवार्यता होती है। और यदि किसी ने इसके विपरित अन्तर्जातीय विवाह कर लिया

तो सभी जगह उसकी चर्चा इसके विपरित अन्तर्जाजीय विवाह कर लिया तो सभी जगह उसकी चर्चा उद्वेगपूर्ण शब्दों में की जाती है। अतः स्वीकृत मूल्यों की सामाजिक मान्यता अत्यधिक दृढ है। मुकर्जी के अनुसार सामजिक जीवन विभिन्न पक्षों, कार्य–कलापों से संबंधित विभिन्न प्रकार के मूल्य होते हैं। जैसे परिवार में पिता से संबंधित, राष्ट्र के शासन से संबंधित, विवाह के संबंध में, सामाजिक सहवास, धार्मिक आचरण, राजीनतिक, आर्थिक जीवन आदि के संबंध में एकाधिकार मूल्य होते हैं। इसके अतिरिक्त मूल्यों में निहित बोधात्मक तत्व क्या उचित हैं की धारणा उसके 'क्या है' या 'क्या संभव है' की धारणा पर निर्भर करती हैं।

अतः राधाकमल मुकर्जी के मूल्यों की सामाजिक संरचना को विद्यार्थियों की सुविधा के लिए निम्नलिखित बिन्दुओं के द्वारा संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है–

मुकर्जी के अनुसार–

- मूल्य सामाजिक मान, लक्ष्य, या आदर्श हैं।
- प्राकृतिक रूप से समस्त मानव संबंध तथा व्यवहार मूल्य ही हैं।
- प्रत्येक समाज की अपनी सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि होने के कारण ''मूल्यों में भिन्नता पायी जाती है।
- मूल्यों के द्वारा–भावनाएँ, विचार, क्रिया, गुण, वस्तु, व्यक्ति, समूह, लक्ष्य या साधन सभी का मूल्यांकन करता है।
- मूल्यों का एक उद्वेगात्मक आधार होता है।
- सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों, विभिन्न कार्य–कलापों से संबंधित विभिन्न प्रकार के मूल्य होते हैं।

1.13 मूल्य का अर्थ एवं उत्पत्ति (Meaning and origin of values)

डॉ0 राधाकमल मुकर्जी के अनुसार–''मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इच्छाएं तथा लक्ष्य हैं। जिनका आंतरीकरण सीखने अथवा सामाजीकरण के माध्यम से किया जाता है तथा जो कि प्रातीतिक अधिमान्यताएँ तथा अभिलाषाएँ बन जाती है।'' मुकर्जी के अनुसार सभी मूल्य सामाजिक होते हैं। इसलिए उन्होंने सामाजिक मूल्यों को सामाजिक जीवन में ढूंढने का प्रयास किया। उन्होंने मूल्यों को रहस्यवादी आधार देते हुए स्पष्ट किया कि यह एक ऐसी शक्ति है। जिसके द्वारा एक तटस्थ नैतिक दृष्टि का विकास होता है। इसके साथ साथ ही आत्म विश्लेषण एवं आत्मानुशासन के लिए मूल्य अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। मूल्य व्यक्ति को लघु मानव से विश्व मानव में परिवर्तित होने की शक्ति प्रदान करता है। इन मूल्यों के विकसित होने से व्यक्ति व समाज को एकाकार कर देता है। व्यक्ति समझने लगता है कि प्रकृति व मुझमें कोई अंतर नहीं है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति व समस्याओं के समाधान के संदर्भ में उसे अनेक सामाजिक अनुभव होते हैं। सामाजिक विकास और प्रगति के लिए समाज में व्यवस्था निर्मित की जाती है ओर इस प्रकार समाज में मूल्यों का जन्म होता है।

मानव जीवन के वास्तविक (actual) और आदर्श (Ideal) पहलू एक–दूसरे से अन्तः संबंधित हैं। जो एक–दूसरे को सहयोग प्रदान करते हैं। और मूल्यों को जनम देते हैं। मूल्य ऐसी मानवीय

शक्तियां हैं, जिनके द्वारा मानवीय प्रवृत्तियों व उनकी इच्छाओं को नियंत्रित किया जाता है। व्यक्ति के ये सामाजिक व्यवहार उनके आदर्शों को नियंत्रित करते हैं। व्यक्ति के ये सामाजिक व्यवहार उनके आदर्शों को नियंत्रित करते हैं। क्रियाओं को प्रतिपादित करते हैं, तो मूल्यों का जन्म होता है। मुकर्जी के अनुसार–''मनुष्य को मूल्य अपने जीवन, पर्यावरण, स्वयं से, समाज से संस्कृति से, तथा मानव अस्तित्व व अनुभव से प्राप्त होते हैं। संक्षेप में–मूल्यों को उद्भव समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा होता है।

- ✓ मूल्यों का उद्भव मानव के जीवन, पर्यावरण, अपने आप से समाज, संस्कृति, मानव अस्तित्व तथा अनुभव से होता है। मानव जीवन की वास्तविकता व आदर्शों का अन्तः संबंध मूल्यों का जन्म देता है।
- ✓ मूल्यों की उत्पत्ति सामाजिक संरचना विशेष के सदस्यों के बीच होने वाली अन्तःक्रियाओं के फलस्वरूप धीरे–धीरे होती है।

3– मूल्यों का क्षेत्रीय आधार (Regional Basis of values)-एक परिस्थितिशास्त्री (ecologists) होने के कारण प्रो0 मुकर्जी प्रत्येक सामाजिक घटना को एक विशेष परिस्थिति के संदर्भ में देखते हैं। उन्होंने मूल्यों की उत्पत्ति का प्रमुख कारण परिस्थितिशास्त्रीय (ecological) विशेषताओं को माना है। अर्थात् उनके अनुसार मूल्यों में सार्वभौमिकता होने के पश्चात् भी इनकी प्रकृति सार्वभौमिक नहीं होती है। उदाहरणार्थ–विवाह एक सामाजिक मूल्य है, जो सार्वभौमिक होते हुए भी इससे संबंधित मूल्य में सार्वभौमिकता नहीं रखता। हिन्दु विवाह को भारत में धार्मिक संस्कार माना जाता है। पाश्चात्य देशों में ऐसा नहीं है।

अतः स्पष्ट है कि मूल्यों का संबंध क्षेत्र विशेष से होता है। इसी कारण मूल्यों के भिन्न–भिन्न अर्थ लगाये जाते हैं। मुकर्जी स्वीकार करते हैं कि प्रकृति स्वयं बुद्धिमान हैं। जिसके कारण प्राकृति साधन, जनसंख्या तथा संस्थाओं में संतुलन स्थापित करते हैं। इसलिए व्यक्ति की प्रकृति द्वारा स्थापित संतुलन को भंग नहीं करना चाहिए।' इन्हीं विचारों के कारण मुकर्जी के सिद्धान्त को रहस्यवाद पर आधारित माना जाता है।

4–सामाजिक संगठन व मूल्य के स्तर (social organization and levels of values)- मुकर्जी मानते हैं कि मूल्य सामाजिक संगठन के स्तर पर आधारित हैं। जिनके माध्यम से सामाजिक संरचना व प्रतिमान का निर्धारण होता है। प्रत्येक समाज में पायी जाने वाली सामाजिकता के विभिन्न स्तर होते हैं। जो सामाजिक संगठन के अनुसार मूल्यों को विकसित करते हैं मुकर्जी ने सामाजिक संगठन को चार स्तरों में विभाजित कर स्पष्ट किया है कि इन प्रत्येक स्तर की नैतिकता भिन्न होती है। अतः आपने नैतिकता के अभाव में उत्कृष्ट नैतिकता पर पहुंचने के स्तरों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया है।

(i) भीड़ (crowd)- भीड़ सामाजिक व्यवस्था या संगठन की प्रथम अवस्था है, जिसका मनोविज्ञान कुछ अलग होता है। भीड़ में उत्तेजना तत्व प्रभावी होता है जिसक कारण क्रूर या अमानवीय अभिव्यक्ति हो जाती है। मुकर्जी के अनुसार–व्यक्ति एक क्रियाशील प्राणी है। इसी क्रियाशीलता के कारण व समाज में रचनात्मक कार्यों का सम्पादन करता है और स्वयं में सामाजिक मूल्यों से प्रभावित होता है।

जिसमें सम्मिलित व्यक्ति एक–दूसरे से अपरिचित होते हैं, लेकिन भीड़ में इन व्यक्तियों के व्यवहारों, क्रियाओं और बुद्धि में गुणात्मक परिवर्तन आ जाता है। इसमें मूल्यों का अभाव पाया जाता है। भीड़ अनुकरण के परिणाम स्वरूप एकत्रित हो जाती है।

स्वार्थ समूह (interest group)- व्यक्तिगत हितों की पूर्ति के लिए कुछ लोगों द्वारा सहकारी समितियाँ, क्लबों, श्रम संगठनों, और राजनीतिक दलों में भी भागीदारी प्रारम्भ हो जाती है। जिससे पारस्परिक आदान–प्रदान, सहयोग, सदाचार, बंधुत्व, प्रतिशोध इत्यादि भावनाओं का विकास होता है। कभी–कभी व्यक्ति का सम्पूर्ण स्व व्यवसाय पर केन्द्रित हो जाता है और उसमें अहंकारी भावना पनपने लगती है, जो अवैयक्तिक संघर्षों का जन्म देता है।

3) समाज (society)- स्वार्थ समूहों में वैयक्तिक अन्तः संबंधों का विकास होता है और सामान्य उद्देश्यों के कारण संगठन का निर्माण होता है, जिसे समाज के नाम से जाना जाता है। समाज में व्यक्ति अन्य के हितों को ध्यान में रखकर सहयोगी व्यवहार करते हैं। समाज समूहों का ही विस्तृत रूप है। यदि देखा जाए तो भीड़ एवं स्वार्थ समूहों की तुलना में समाज में मानव नैतिकता का स्तर व्यापक हो जाता है। जहां सामूहिक हित सामाजिक हित में रूपान्तरित हो जाते हैं, जिसमें समाज में रहने वाले लोग समानता (equality) एवं न्याय (justice) को सामाजिक मूल्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। अतः स्पष्ट है कि समाज सामाजिक संगठन की विस्तृत अवस्था है। जिसमें पारस्परिक सहयोग के माध्यम से समाज का विकास होता है और वह आगे बढ़ता है।

4) सामूहिकता (collectiveness)- सामूहिकता के लिए मुकर्जी द्वारा जनता शब्द का प्रयोग किया गया है। आपके अनुसार नैतिक दृष्टि से सामूहिकता मानवता का सर्वोच्च संगठन है। सामूहिकता सामाजिक संगठन का अत्यधिक सुदृढ़ व सार्वभौमिक मूल्य है, जिसके अन्तर्गत प्रेम, समानता, बन्धुत्व जैसे नैतिक मूल्यों को स्वीकार किया जाता है। इन मूल्यों को स्वीकार करने के लिए व्यक्ति चेतनात्मक रूप से बुद्धि एवं तर्क का प्रयोग करता है। आदर्श सामूहिकता व्यक्ति को स्वार्थ व क्षेत्रीयता की भावनाओं से ऊपर उठाते हुए समस्त विश्व के साथ भाईचारे का संबंध स्थापित कर विश्व बन्धुत्व की भावना को विकसित करती है।

डॉ0 मुकर्जी ने लिखा है जिस प्रकार सामाजिक व्यवहार के प्रत्येक क्षेत्र में मूल्य पाये जाते हैं, वहीं मूल्यहीन (Disvalues) भी पाये जाते हैं। अर्थात् व्यक्ति मूल्यों का अतिक्रमण कर अपनी आत्मा का सम्मान की भावना को समाप्त करते हुए उसके विरुद्ध कार्य करता है। जिससे मूल्यहीन संगठनों की स्थापना के साथ आपराधिक प्रवृति में वृद्धि होती है और समाज में शोषण, असमानता, समाज विरोधी कार्य मूल्यहीन अवस्था को जन्म देते हैं। ये मूल्यहीन व्यवहार कानून एवं सामाजिक संहिताओं की उपेक्षा करते हैं। जिससे समाज में अनेक समस्याएं उत्पन्न होती हैं तथा व्यक्ति की प्राणीशास्त्रीय विशेषताएं और सामाजिक परिस्थितियां भी मूल्यहीन व्यवहारों को उत्पन्न करती हैं। अतः इनकी समाप्ति हेतु डॉ0 मुकर्जी ने लिखा है–'' मूल्यहीन व्यवहार को समाज में न पनपने दिया जाए, जो व्यक्ति, समूह, मूल्यहीन व्यवहार करता है। समाज के साथ उसका सामंजस्य स्थापित किया जाय।''

5) व्यक्तित्व एवं मूल्य (Personality and values)-डॉ0 राधाकमल मुकर्जी ने व्यक्तित्व के निर्माण में मूल्यों की महत्वपूर्ण भूमिका का उल्लेख करते हुए लिखा है–''मनुष्य मूल्यों की रचना करने वाला, उस पर अमल करने वाला तथा उन मूल्यों का निर्णायक भी है।'' मानवीय संरचना को परिभाषित व

संचालित करने में मूल्यों का अत्यधिक महत्व है। व्यक्ति, अपने व्यवहार की सहायता से इन मूल्यों का परिमार्जन तथा उन को संशोधित कर उस स्तर तक पहुँचा देता है। जहाँ व्यक्ति मूल्य के बिना स्वयं से और समाज से एकरूपता स्थापित करने में असमर्थ रहता है, क्योंकि व्यक्ति व मूल्य एक–दूसरे से अन्तः संबंधित है, जिसके कारण ही मूल्यों में निरंतर परिवर्तित व उसमें वृद्धि होती है।

डॉ0 मुकर्जी के अनुसार–''व्यक्ति अपने जीवन में विभिन्न स्तरों से गुजरता है और अपने सामाजिक संबंधों का सुधार करता है। वह अपने नैतिक जीवन का सुधार करता है। इसी प्रकार वह मूल्यों की वृद्धि में भी योगदान देता है।' मुकर्जी द्वारा मानव व्यवहार के तीन स्तरों की चर्चा निम्नवत् करेंगे–

1)–जैविक सामाजिक स्तर (bio social level)-जैविक स्तर व्यक्ति को सामाजिक नियमों का पालन करके प्राणीशास्त्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मूल्यों द्वारा निर्देशित व्यवहार करने को प्रेरित करता है। यही कारण है मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति जहाँ संबंधित मूल्यों के अनुसार करता है। वहीं पशुओं में अपनी आवश्यकाओं की पूर्ति के समय इस प्रकार की जागरूकता नहीं पायी जाती है। इन्हीं निर्देशित मूल्यों के कारण मनुष्य और पशु में भौतिक अन्तर स्पष्ट होता है। अर्थात् ये सामाजिक मूल्य आवश्यकताओं की पूर्ति से संबंधित व्यक्ति की प्रेरणाओं को निर्धारित परिवर्तित और निर्देर्शित करते हैं।

2–मानसिक एकता का स्तर (level of psychic intergration)- जब मनुष्य का मस्तिष्क इतना विकसित हो जाता है कि वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अन्य सदस्यों के सहयोग से करें, तब इसे मानसिक एकता का स्तर कहा जाता है। इस स्तर में मिल–जुलकर रहने की भावना का विकास होता है। सामाजिक क्रियाओं में व्यक्ति की भागीदारी अन्य सदस्यों के साथ संबंधों की स्थापना कर व्यक्ति समाज में एकता के मूल्य को ग्रहण करता है।

3–आध्यात्मिक स्तर (spiritual level)- डॉ0 मुकर्जी के अनुसार भारतीय दर्शन में जिसे हम 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' की अवस्था कहते हैं। वहीं मानव अस्तित्व के विकास के अन्तिम स्तर है, जिसमें अपनाये जाने वाले मूल्य विश्व एकता की स्थापना में सहायक होते हैं।

डॉ0 मुकर्जी के अनुसार–मूल्य स्तर व व्यक्तित्व स्तर परस्पर अन्तःसंबंधित हैं। जिस प्रकार मूल्यों के स्तर होगें, उसी प्रकार व्यक्तित्व के स्तर भी होंगे। ये दोनों स्तर साथ–साथ रहते हैं। अतः व्यक्ति के अस्तित्व कतो बनाये रखने के लिए समाज में सर्वोच्च मूल्यों का विकास जरूरी है। अच्छाई, प्रेम, शान्ति, सौहार्द सभी ऐसे आध्यात्मिक मूल्य हैं। जिनके द्वारा सामाजिक संस्थाओं का विकास होता है और जो मानवीय एकता सौहार्द, बंधुत्व, सच्चाई व प्रेम आदि के संरक्षण के लिए आवश्यक है।

6– मूल्य और सामाजिक समस्याएं (values and social problems)- समाज में व्याप्त विभिन्न समस्याओं का मूल व्यक्ति के व्यवहार हैं। ये व्यवहार मूल्यों से प्रभावित व संचालित होते हैं सामाजिक संस्थाओं का उद्देश्य मूल्यों के अनुसार कार्य करना है, ताकि समाज में सुदृढ़ व्यवस्था निर्मित हो सके, लेकिन कुछ ऐसे व्यक्ति समाज में होते हैं, जिनमें न तो इन सामाजिक मूल्यों के प्रति जागरूकता रहती है, न ही वे इनके निर्देशों को स्वीकार करते हैं। अतः मूल्यों के प्रति उनका यह उपेक्षित दृष्टि कोण उनमें स्वार्थवादी प्रवृत्ति को जन्म देता है और सामुदायिक भावना विघटित होकर अनेक समस्याओं को जन्म देती है।

7–मूल्य एवं मानव अभियान्त्रिकी (Values and human Engineering)- जीवन में पाये जाने वाले सत्य व असत्य मूल्य मानव विश्वास व नैतिकता को जन्म देती हैं। इसी संसार में समस्त सामाजिक क्रियाएँ अन्तर्निहित हैं। इन मूल्यों का जनम मानव के पर्यावरण के साथ सामन्जस्य स्थापित करने के परिणामस्वरूप होता है। समाजशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जिसमें हम योजनाओं के द्वारा मानवीय उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार नियोजन के अन्तर्गत सामाजिक यांत्रिकता समय–समय पर मानवीय मान्यताओं और अन्तःसंबंधों को निदेर्शित करती है। जिनकी सहायता से हम सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त करते हैं। इसके साथ ही सामाजिक उद्देश्य, सामाजिक मापन का कार्य भी करते हैं। अतः सामाजिक प्रगति के मापक पैमाने के निर्माण में सामाजिक मूल्य आदर्श और नैतिकता की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सामाजिक यांत्रिकता मूल्यों को परिवर्तित कर समाज में नयी विधियों, प्रतीकों और नियंत्रिण के साधनों को जन्म देती है। मुकर्जी के अनुसार–''वर्तमान औद्योगीकरण, नगरीकरण के परिणामस्वरूप प्राचीन संस्थाएँ समाप्त होती जा रही हैं। ऐसी अवस्था में हम सामाजिक यांत्रिकता पर आधारित नहीं रहेंगे, तो हमारे लिए समाज प्रगति की दिशा का निर्धारण करना कठिन हो जायेगा। इस प्रकार डॉ0 मुकर्जी द्वारा मानव अभियंत्रिकी सिद्धान्त को तीन आधारों पर प्रस्तुत् किया है जो इस प्रकार है–

I)–व्यक्ति व समूह के बीच बौद्धिक व नैतिक दृष्टि से संबंधों का एक स्तर पाया जाता है। मानवीय संबंधों के गुण एवं आकार उसके नैतिक एवं बौद्धिक गुणों को सिद्ध करते हैं।

ii) डॉ0 मुकर्जी के अनुसार कोई समूह या संस्था केवल सामाजिक और औद्योगिक नीति को ग्रहण करके व्यक्तियों का निर्माण कर सकती है और सामाजिक ढाँचे के निर्माण में सफल हो सकती है। मूल्य विभिन्न समूहों को प्रमुखता प्रदान करने व संस्थागत प्रतिमानों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए नीति निर्धारित करती है।

iii)–संस्कृति गतिशील है। जिसके कारण व्यक्ति व समुदाय के द्वारा की जाने वाली भूमिकाएँ महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। मूल्यों के द्वारा ही समाज में नव निर्माण की प्रेरणा से व्यक्ति सामाजिक पुननिर्माण की ओर अग्रसर होता है।

अतः डॉ0 राधाकमल मुकर्जी ने अपने मूल्यों के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए जिन बातों का उल्लेख किया है। विद्यार्थी उसको निम्नवत् संक्षेप में समझेंगे–

- ✓ मूल्यों की सामाजिक संरचना– जिसमें मान, लक्ष्य, आदर्श को मूल्य मानते हुए मानवीय व्यवहारों को मूल्य से संबंधित माना है। संक्षेप में भी इसकी चर्चा पूर्व में की गयी है।
- ✓ मूल्यों की उत्पत्ति अन्तःक्रिया के परिणामस्वरूप होती है।
- ✓ परिस्थितिशास्त्रीय विशेषताओं के कारण मूल्यों का जन्म होता है और इनका एक क्षेत्रीय आधार होता है।
- ✓ मूल्यों के साथ मूल्यहीन भी होते हैं, लेकिन एक व्यवस्था व संगठन के लिए सामाजिक मूल्य सर्वोच्च व उपयोगी होते हैं।
- ✓ व्यक्तित्व निर्माण में मूल्यों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है जिनका जैवकीय, मानसिक व आध्यात्मिक स्तर के आधार पर अध्ययन किया गया है।

- ✓ मूल्यों का अनुपालन न करने से कई सामाजिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं। जो स्वयं व्यक्ति, समाज व राष्ट्र की प्रगति में बाधक होती हैं।
- ✓ संस्कृति की गतिशीलता के कारण नवीन परिस्थितियों से सामनजस्य सामाजिक पुर्ननिर्माण के लिए आवश्यक है।

1.14 मूल्य एवं प्रतीक (values and symbol)

वातावरण का वैविध्य मानव मस्तिष्क को और अधिक विकसित करता है। जिसके कारण उसकी गृहणशीलता बढ़ती है और उसके मन में जीवन के प्रति मूल्य प्रतीक का प्रादुर्भाव होता है, जिसके कारण व्यक्ति एक–दूसरे के क्रिया–कलाप में सक्रिय रूचि लेते हैं। जीवन के मूल्यों को समाज के धरातल की इच्छाओं और उद्देश्यों को सामाजीकरण, ज्ञान, महत्वकांक्षा तथा स्तर की कसौटी पर कस कर परिभाषित किया जाता है, क्योंकि समाज अपने आप में जीवन मूल्यों का एक एकीकरण तथा संगठन है।

जीवन मूल्य हमेशा एकता से अनेकता, साधारण पार्थिक से उदानत एवं सर्वाभौम आदर्श की ओर होती है। डॉ0 मुकर्जी मानते हैं कि मूल्यों की प्रवृत्ति प्रतीकात्मक है। समाज में संबंधों की व्याख्या प्रतीकों के माध्यम से की जाती है। मानव को विभिन्न सामाजिक, आर्थिक चीजों की जानकारी विभिनन प्रतीकों के माध्यम से ही प्राप्त होती है। प्रतीक मानवीय मूल्यों को समझने के महत्वपूर्ण माध्यम हैं।

सुखी, सम्पन्न तथा सुसंगठित सामाजिक जीवन के लिए जीवन में मानवीय जीवन के मूल्यों और आदर्शों की महत्वपूर्ण भूमिका है और इनका जन्म व्यक्तिपरक, समाजपरक दृष्टिकोण तथा उत्तरदायित्वों के परिणामस्वरूप होता है तथा इन्हीं से समाजों का जन्म, सामाजिक संबंधों को संबल व संस्कृति को मजबूती प्रदान होती है। संगठित एवं सम्पनन सामाजिक जीवन के लिए मूल्येां और आदर्शों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है

अतः आदर्शों तथा मत मूल्यों सूक्ष्मीकृति अभिव्यक्ति ही दूसरे शब्दों में प्रतीक (symbol) होती या कही जाती हैं। सुसंस्कृत व्यवहार की अभिव्यक्ति एवं मानवीय संबंधों का उचित निर्वह्न को प्रतीक नाम दिया जाता है। जो इस सत्य को स्पष्ट करते हैं कि मानव व्यवहार हमेशा प्रतीकात्मक होते हैं मूल्यों की अपेक्षा प्रतीक अनुभव के धरातल पर मनुष्य को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करते हैं–

सामाजिक संगठन में मूल्यों के दर्शन की चर्चा चार रूपों में की जा सकती है–

अ–भीड़ में आतंकवादी जंगली व्यवहार के रूप में।

ब–बाजार में आर्थिक व्यवहार के रूप में।

स–किसी जातीय संगठन या समाज समानता तथा न्याय के रूप में।

द– सर्वमान्य लोगों में प्रेम, स्नेह, सामाजिक दायित्व एवं सहकारिता के रूप में।

उपरोक्त दर्शन से स्पष्ट होता है कि ये समस्त मूल्य मानव जीवन की बुनियाद में नैतिक आदर्शों की पूर्ति करते हैं। जिसके कारण समाज में रहना सुखकर तथा संभव हो सका है और व्यष्टि (individual), समष्टि (society) की ओर अग्रसर होती है। व्यक्ति के व्यवहार की परिधि में ही मूल्य के साथ अवमूल्य भी मिलते हैं। व्यक्तित्व की सीमा में जकड़े हुए मनुष्य के जीवन में स्वीकृति, अस्वीकृति, कुंठा, अपराध और अपमान का होना स्वाभाविक है, लेकिन जो व्यक्ति अपने को समाज मानता है। उसके जीवन में शोषणकारी सामाजिक संबंध, दुर्वव्यवहार तथा समाज विरोधी गुटों का निर्माण होता है। जैविक असमानता तथा सामाजिक असन्तोष या आदर्शों के अभाव से ही मूल्यहीनता (Disvalues) का जन्म होतो है। डॉ0 मुकर्जी के अनुसार–''मूल्यहीनता को मधुर व्यवहार द्वारा दूर कर समाज में एक संगठन स्थापित किया जाता सकता है।

संक्षेप में मूल्य व प्रतीक को निम्नवत् समझें–

- मानव मस्तिष्क के विकास के साथ उसकी गृहणशीलता में वृद्धि होती है, जिससे मानव मन में जीवन के प्रति मूल्यों का प्रादुर्भाव होता है।
- आदर्श एवं मूल्यों की सूक्ष्मीकृत अभिव्यक्ति को ही प्रतीक कहा जाता है।
- मूल्यों की प्रवृत्ति प्रतीकात्मक होती है।
- सामाजिक संबंधों की व्याख्या प्रतीकों के माध्यम से ही होती है।
- व्यक्ति को विभिन्न सामाजिक आर्थिक चीजों की जानकारी प्रतीकों के द्वारा ही होती है।
- मानवीय मूल्यों को समझने के लिए मूल्य महत्वपूर्ण हैं।
- जीवन में मूल्यों की वृद्धि का क्रम एकता से अनेकता, पार्थिव एवं सार्वभौम आदर्शों की ओर होता है।
- प्रतीक सुसंस्कृत मानवीय व्यवहार की अभिव्यक्ति एवं उचित मानव संबंधों के निर्वह्न को परिभाषित करती है।
- मूल्यों की अपेक्षा प्रतीक हमें अनुभव के धरातल पर बड़े वैज्ञानिक ढंग से लाते हैं।

1.15 व्यक्ति समाज एवं मूल्य (Person Society and values)

जीवन के मूल्य प्रणाली से व्यक्ति की रचना को परिभाषित व शासित किया जाता है। डॉ0 मुकर्जी के अनुसार–''मनुष्य मूल्यों की रचना करने वाला तथा मूल्यों पर अमल करने वाला प्राणी है। वह मूल्यों का स्रोत ही नहीं, बल्कि उनका निर्णायक भी है।'' मूल्य समूहों एवं संस्थाओं के कार्यों को सही ढंग से चलाने के लिए तमाम अंतवैयक्तिक लक्ष्यों, संबंधों और व्यवहारों में बिखरे पड़े होते हैं, जो कभी–कभी वैयक्तिक व सामाजिक मूल्यों के बीच अंतर करते हैं। जबकि सत्यता यह है कि व्यक्ति द्वारा जिन मूल्यों को वैयक्तिक समझा जाता है। वे वास्तविक रूप में उसी समाज से ग्राह्य होते हैं। जिसका वह सदस्य है जन्म के समय व्यक्ति मात्र प्राणी होता हैं धीरे–धीरे सामाजीकरण की प्रक्रिया के कारण वह सामाजिक प्राणी बनता है और समूह के मूल्यों को स्वयं आत्मसात् करता है। अर्थात् व्यक्ति अपने सामाजिक संबंधों, मूल्यों एवं व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति निम्न त्रिपक्षीय परिधि के अन्तर्गत प्राप्त करता है, यथा–

(i) जीव समाज (bio social)- जिसमें मनष्य स्वयं को रहने लायक बनाता है।

(ii) मनोवैज्ञानिक एकता (psychic intergration)- इसमें व्यक्ति का आन्तरिक विकास होता है।

(iii) आध्यात्मिक (spiritual)- इसमें व्यक्ति प्रज्ञ की स्थिति प्राप्त करता है।

व्यक्ति समाज में प्रचलित मूल्यों को समान महत्व नहीं देता। वह उन मूल्यों को अधिक वरीयता देता है जो जीवन के लिए महत्वपूर्ण होते हैं। उदाहरणार्थ–जैसे एक होनहार विद्यार्थी परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् अपना समय अगली परीक्षा की तैयारी में लगाये न कि बेकार के मनोरंजन में। कई बार मूल्यों के बीच में द्वन्द की स्थिति का मुकाबला भी व्यक्ति को करना पड़ता है, जिसमें वह मूल्यों के अनुक्रम से संघर्ष को समाप्त करने या कम करने का प्रयत्न करता है। और ऐसा न होने पर व्यक्ति की गतिविधियां अस्त–व्यस्त हो सकती हैं और व्यक्ति के व्यक्तित्व का गंभीर क्षति पहुंच सकती है। इस संबंध में मुकर्जी ने लिखा है–''विभिन्न स्तरों या विभिन्न आयामों वाले आर्थिक, नैतिक या धार्मिक जीवन मूल्य एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं। तमाम समूह और संस्थान, चाहे वे आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, शैक्षणिक इत्यादि कुछ भी हों। एक दूसरे को प्रभावित करते हैं या टकराते हैं।

व्यक्ति प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न समूहों व संस्थाओं की सदस्यता के कारण विभिन्न मूल्यों का अनुसरण कर अपने कार्यों में संतुलन बनाये रखने का प्रयास करता है और जब भी यह संतुलन डगमगाता है, तो परिणाम गंभीर होते हैं मूल्य संस्कृति के केन्द्र बिन्दु व उसकी प्रवृत्ति है। बहुत से मूल्यों से व्यक्ति अपरिचित होता है। कारण ये व्यक्तित्व का अंग बन चुके होते हैं। मूल्य व्यक्ति को समाज में समायोजित करने में सहायता प्रदान कर व्यक्तियों को वैध ढंग से गतिशील भी रखते हैं।

समाज में प्रचलित विभिन्न प्रकार के मूल्यों में टकराव के कारण समाज में सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तन संभव होता है। टकराव की यह प्रक्रिया हमेशा एक समाज के बीच ही न होकर अधिक समाजों के बीच भी पायी जाती है, लेकिन यह टकराव हमेशा दुष्प्रकार्यात्मक (dyfunctional) नहीं होता, बल्कि प्रकार्यात्मक (functional) भी होता है। इन संघर्षों से विश्व समाज में कई परिवर्तन और उनसे मानव समाज को होने वाले फायदे को अस्वी कर नहीं किया जा सकता। जैसे–'अभिवयक्ति की स्वतंत्रता', धर्मनिरपेक्षता, युवा मताधिकार, शिक्षा के समान अवसर, महिला स्वतंत्रता इत्यादि संघर्षों के परिणाम वर्तमान प्रजातांत्रिक मूल्यों के उदहारण हैं।

संक्षेप में चर्चा इस प्रकार है–

- व्यक्ति, समाज व मूल्यों का घनिष्ट संबंध है।
- शिशु से सामाजिक प्राणी बनने की प्रक्रिया में व्यक्ति द्वारा सामाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान प्रचलित मूल्येां को आत्मसात् किया जाता है।
- यद्यपि सभी प्रचलित मूल्य समान महत्व नहीं रखते, फिर भी मानव समाज में प्रचलित उन मूल्यों को वरियता देता है, जो जीवनपयोगी व महत्वपूर्ण होते हैं।
- समाज में व्यक्ति जाने–अनजाने कई प्रकार के मूल्यों को अपनाकर संतुलन स्थापित करता है, लेकिन इसके गड़बड़ाने पर गंभीर परिणमा भी हो सकते हैं।
- मूल्यों के बीच टकराहट संघर्ष को जन्म देती है।

- मूल्यों का संघर्ष हमेशा बुरा ही नहीं, बल्कि अच्छा भी होता है।
- वर्तमान में हम प्रजातांत्रिक व्यवस्था को समानता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, धर्मनिरपेक्षता, तार्किकता, युवा मताधिकार, शिक्षा के समान अवसर एवं महिला स्वतंत्रता के रूप में देख रहे हैं इन्हें संघर्ष का ही परिणाम कहा जा सकता है।

1.16 मूल्यों का सोपान व संस्तरण (the scale and hieracrchy of values)

डॉ0 मुकर्जी के अनुसार मूल्यों में संस्तरण पाया जाता है, जो मूल्यों के आयामों से ससंबंधित होता है। ये जैविक, सामाजिक व आध्यात्मिक तीन आयाम होते हैं। जैविक मूल्य, स्वास्थ्य, जीवन निर्वाह, कुशलता, सुरक्षा, सामाजिक मूल्य सम्पत्ति, प्रस्थिति, प्रेम, न्याय तथा आध्यात्मिक मूल्य सत्य, सुन्दरता, पवित्रता तथा सुसंगति विषयक होते हैं। इन तीनों में आध्यात्मिक मूल्य का स्तर को सर्वोच्च माना जाता है, जिसमें आत्म लोकातीतत्व की विशेषता पायी जाती है। जो साध्य या अन्तर्निष्ठ अथवा लोकातीत मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है। इसके बाद सामाजिक मूल्य हैं, जिनका उद्देश्य सामाजिक संगइन व सुव्यवस्था को बनाये रखना होता है। इसीलिए इन्हें साधन, बाध्य या क्रियात्मक मूल्य की संज्ञा दी जाती है। अन्त में जैविक मूल्य होते हैं जो जीवन को बनाये रखने तथा आगे बढ़ाने के लिए होते हैं।

मानव जीवन का प्रारम्भ व निरनतरता जैविक आधार पर ही निर्भर है। जब शरीर स्वस्थ व उपयुक्त होगा, तभी जीवन निर्वाह् एव उसकी अग्रगति संभव होगी। इसी कारण मूल्यों के सोपान क्रम में सर्वप्रथम जैविक मूल्यों को स्थान दिया गयाा है। इसकी सार्थकता समाज की सहायता के बिना संभव नहीं है और इसी प्रकार जैविक व सामाजिक जीवन की वास्तविक, सार्थकता 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की प्राप्ति में निहित है। इसलिए आध्यात्मिक मूल्य को अन्तिम लक्ष्य के रूप में रखा गया है–

डॉ0 मुकर्जी ने सामाजिक संगठन के चार आधारभूत प्रारूपों को भीड़, यथार्थ समूह, समाज तथा समुदाय एंव सामूहिकता के संदर्भ में प्रस्तुत् किया है जिनमकी चर्चा निम्नवत् करेंगे–

भीड़ (crowd)–यह एक ऐसा अस्थायी समूह है जो आदिम संबंधों व व्यवहारों को दर्शाता है। इसका उपयोग प्रायः आर्थिक, राजनीतिक सत्ता हथियाने के उद्देश्य से क्रान्ति उत्पन्न करने के लिए किया जाता है। इसमें व्यक्ति सीधी व त्वरित कार्यवाही द्वारा गल्तियों, अपराधों तथा बुराईयों को तत्काल व अनायास दूर करने का प्रयास करता है। अतः यहाँ आदर्श मूल्य या नियम शून्य होते हैं।

ब–स्वार्थ समूह (interest group) डॉ0 मुकर्जी के अनुसार इस प्रकार के समूह या समिति एक–दूसरे के स्वार्थपूर्ति हेतु संगठित होते हैं। उनका कहना है कि इनका संबंध अधिकांशतः ऐसे आंशिक, भाज्य तथा साधन मूल्यों से होता है जिसमें एक समुदाय के सभी लोगों की भागीदारी आवश्यक नहीं होती। उदाहरणार्थ एक श्रमिक संघ, पारस्परिक सहयोग, निष्पक्षता आदि मूल्यों पर आधारित हो सकता है, लेकिन ये मूल्य संघ के सदस्यों व उनके निजी उद्देश्यों की पूर्ति तक ही सीमित होते हैं।''

स– समाज तथा समुदाय (society and community)- समाज या समुदाय स्वार्थ समूहों की अपेक्षा सामाजिक संगठन के तार्किक नैतिक एवं विस्तृत प्रस्तुतीकरण को महत्वपूर्ण ढंग से स्पष्ट करते हैं। यही कारण है कि समाज या समुदाय में इच्छाओं, संवेगों तथा स्वार्थों का अधिक एकीकरण व्यक्ति के साथ व्यक्ति एवं स्वार्थ के साथ स्वार्थ का अधिक समायोजन दिखायी पड़ता है। समाज या समुदाय न्याय एवं समानता के मूल्यों की अभिव्यक्ति करते हैं।

द–सामूहिकता (collectiveness)- इसको मुकर्जी ने सामाजिक संगठन का एक ऐसा श्रेष्ठतम स्वरूप माना है। जो कि सचेत अनुशासन, उच्च स्तरीय बुद्धी तथा विवेक का परिणाम है। इसमें सार्वभौम सद्भाव, अपने कर्तव्यों के प्रति आन्तरिक निष्ठा, स्वार्थवाद पर परार्थवाद की विजय परिलक्षित होती है तथा प्रेम, सामाजिक उत्तरदायित्व, समानता, सहयोग तथा सामूहिकता के मूल्य निहित हैं।

उपरोक्त भीड़, स्वार्थ समूह, समाज तथा समुदाय एवं समुदाय से संबंधित तत्वों की चर्चा डॉ0 मुकर्जी के इन पर की गयी चर्चा से पूर्व भी स्पष्ट की गयी है।

1.17 मूल्यों के नियम (law of value)

डॉ0 राधाकमल मुकर्जी ने अपनी कृति the social structure of values 1949 में कुछ नियमों का उल्लेख किया। जिनको निम्नवत् स्पष्ट किया जा रहा है–

1. सामाजिक नियंत्रण एवं समर्थन के कारण मानवीय प्रेरणाएं (human motivation) मूल्यों में परिवर्तित हो जाती है।
2. मौलिक मूल्यों की संतुष्टि हो जाने पर मानव में इन मूल्यों के प्रति उदासीनता पैदा हो जाती है और समाज व संस्कृति में नवीन इच्छाएं साधन या लक्ष्य ढूंढे जाते हैं, जिनसे नवीन मूल्यों का जन्म होता है। इस प्रकार मूल्यों को चक्र नियम (cycle of values) का नियम पनपता है।
3. मूल्यों के पारस्परिक अन्तःक्रिया के कारण वे आपस में घुल मिल जाते हैं व अनेक प्रकार के सम्मिलित (combination) को उत्पनन करते हैं
4. विभिन्न मूल्यों में प्रतिस्पर्द्धा के कारण संस्तरण पाया जाता है।
5. मूल्यों से उत्पन्न संघर्ष के कारण व्यक्ति अपनी शिक्षा, अनुभव व आदर्श नियमों के आधार पर उपयुक्त मूल्यों का चुनाव करता है।
6. समाज या संस्कृति मानवीय मूल्यों को मौलिक प्रतिमान प्रदान करते हैं।
7. मूल्यों में वैयक्तिकता, विभिननता और अनूठापन पाया जाता है, जिनका चयन व्यक्ति बुद्धि, आवश्यकता, आदत, क्षमता इत्यादि के आधार पर करता है।
8. सामाजिक पर्यावरण, समूह, संस्था आदि में परिवर्तन के साथ–साथ मानवीय मूल्यों में भी परिवर्तन होते हैं।

1.18 मूल्यों के महत्व (Importance of values)

डॉ0 राधाकमल मुकर्जी की सम्पूर्ण विचारधारा में समाज तथा व्यक्ति के जीवन में मूल्यों के अत्यधिक महत्व को दर्शाने का एक सफल प्रयास है। उनका मानना था कि समाज मूल्यों का एक संगठन एवं संकलन है।' आपके मतानुसार मूल्य सामाजिक क्रिया में सामूहिक अनुभव होते हैं जिनका निर्माण वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार के प्रत्युत्तरों तथा मनोवृत्तियों द्वारा होता है। यही मूल्य समाजों के निर्माण के साथ सामाजिक संबंधों को संगठित करते हैं।

मूल्यों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए मुकर्जी ने कहा है कि ''सामाजिक विज्ञानों के लिए मूल्यों का वही महत्व है जो भौतिकशास्त्र के लिए गुरूत्वाकर्षण का, शरीर विज्ञान के लिए पाचन क्रिया तथा रक्त संचार का।'' गति, गरुत्वाकर्षण एवं संचार को प्राकृतिक घटनाओं से पृथक करके माप कर एक निश्चित सूत्र द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है, लेकिन मूल्यों को जीवन, बुद्धि एवं समाज से अलग नहीं किया जा सकता। समाज के अस्तित्व को बनाये रखने, आधारभूत इच्छाओं आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु मूल्यों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। सामाजिक मूल्य सामाजिक एकता, संगठन, नियंत्रण, अनुशासन बनाए रखने के लिए आवश्यक है। सर्वोच्च स्तर के मूल्यों को अपनाकर ही व्यक्ति स्वयं को आदिकालीन बर्बर स्तर से पृथककर सुसंस्कृत व सभ्य स्तर तक पहुंचा सकता है। अतः सामाजिक मूल्यों के अभाव व्यक्ति के जीवन का अस्तित्व ही नहीं है। मुकर्जी के सामाजिक मूल्यों की विस्तृत व्याख्या करने के पश्चात यहां इन मूल्यों के महत्व व उपयोगिता पर चर्चा की जा रही है जो निम्नवत् है–

1–समाज में एकरूपता– सामाजिक मूल्य सभी समाज में रहने वाले व्यक्तियों को समान व्यवहार करने की प्रेरणा देते है, क्योंकि सभी सामाजिक प्राणी इन प्रचलित मूल्यों के अनुसार ही व्यवहार व आचरण करते हैं, जिससे समाज में व्यवहारों व सामाजिक संबंधों में समानता व एकरूपता पायी जाती है। अर्थात् समाज में एकरूपता स्थापित करने के लिए मूल्य अत्यधिक उपयोगी हैं।

2– व्यक्ति के लिए महत्व– जैसा कि पूर्व में चर्चा की गयी है कि व्यक्ति व मूल्य घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं। सामाजिक मूल्य समाज व समूह की देन होते हैं और सामाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्त्रि को इन मूल्यों को आत्मसात् करने की प्रक्रिया में सहायता प्रदान कर उनके व्यवहार व आचरण को समाज के अनुकूल बनाती है। मूल्य व्यक्ति का सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलन, उनके व्यवहार प्रतिमानों में एकता, सामूहिक एकीकरण कर व्यक्तित्व संरचना को परिभाषित व नियंत्रित करते हैं।

3– सामाजिक संगठन एवं एकीकरण– सामाजिक मूल्यों द्वारा समाज में ऐसे स्वीकृत एवं प्रतिमानों का जनम होता है जिनका सभी द्वारा अधिकांश रूप से अनुसरण किया जाता है। समान आदर्श, समान व्यवहार एवं मूल्यों को स्वीकार करने के पश्चात ही आत्मीयता व सामुदायिक भावना विकसित होती है। समान मूल्यों का विश्वास व्यक्तियों में समीपता लाता है और परस्पर एक सहयोग प्रक्रिया में वृद्धि होती है। जॉनसन के अनुसार–''मूल्य व्यक्ति को या सामाजिक अन्तःक्रिया की प्रणाली को एकीकृत करने में सहायक होते हैं।''

4–सामाजिक क्षमता का मूल्यांकन– सामाजिक मूल्यों द्वारा ही व्यक्ति समाज में स्वयं का मूल्यांकन करने में समर्थ होते हैं तथा संस्तरण में वे कहां स्थित हैं इसकी भी जानकारी प्राप्त करते हैं। अर्थात् समूह एवं व्यक्ति की क्षमता का मूल्यांकन करने में मूल्य महत्वपूर्ण व उपयोगी हैं।

5–भौतिक संस्कृति के महत्व को बढ़ाने में मूल्य महत्वपूर्ण हैं–भौतिक संस्कृति के कुछ तत्व महत्वपूर्ण न होने के प्श्चात् भी उन्हें सामाजिक मूल्यों के अन्तर्गत शामिल किया जाता है,क्योंकि लोगों की रूचि उन वस्तुओं को रखने में होती है जैसे–टेलीविजन, टेलीफोन या अन्य आधुनिक सुविधा संबंधी उपकरण जो व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण नहीं भी हो सकते हैं। लेकिन सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि के

लिए वे इनहें रखना चाहते हैं। अतः सामाजिक मूल्यों की मान्यता के अनुसार ये वस्तुएँ उपयोगी व प्रतिष्ठासूचक हैं।

6– मूल्य सामाजिक आदर्श, विचार एवं व्यवहारों प्रतीक रूप में– सामाजिक मूल्यों में निहित आदर्श, क्योंकि समाज द्वारा स्वीकृत व मान्यता प्राप्त होते हैं। अतः मूल्यों को उस समाज के आदर्श, विचारों एवं व्यवहारों का प्रतीक माना जाता है। ये लोगों के विचारों व व्यवहारों को निश्चित व निर्धारित करते हैं।

7– सामाजिक भूमिकाओं के निर्देशन में सहायक– सामाजिक मूल्य विशिष्ट परिस्थितियों में व्यक्ति की भूमिका का निर्धारण भी करते हैं समाज में पाये जाने वाले मूल्यों में पृथकता होती हैक जिससे सामाजिक भूमिकाओं में भी अंतर परिलक्षित होता है। जैसे–भारत में पति–पत्नी की भूमिका विदेशों के पति–पत्नी से इसलिए भिन्न होती है, क्योंकि दोनों जगहों की मूल्य व्यवस्था में अन्तर है। अतः स्पष्ट है कि मूल्य कही भूमिका निर्वाह् का निदर्शन करते हैं।

8–सामाजिक नियंत्रण में सहायक–सामाजिक नियंत्रण के सशक्त साधन के रूप में मूल्यों का विशेष महत्व है। ये समाज व व्यक्ति दोनों को सामाजिक सामंजस्यता के लिए समाज द्वारा स्वीकृत मूल्यों का अनुसरण करने के लिए दबाव डालते हैं। ऐसा करने पर पुरस्कार व न करने पर दण्ड की व्यवस्था का प्रावधान सुनिश्चित है। जिससे मानव व समाज द्वारा उन्हीं कार्यों को करने पर बल दिया जाता है जो सामाजिक मूल्यों के अनुकूल होते हैं।

9–सामाजिक मूल्यों के अनुसार ही सामाजिक व्यवहार को अनुरूपता (conformity) तथा विपथगमन (deviance) में वर्गीकृत किया जा सकता है। जो समाज के अनुरूप होते हैं। उन्हें अनुरूपता तथा विपरित होने पर उन्हें विपथगमन कहा जाता है। सामाजिक मूल्य सामाजिक अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। कोई समाज इनके उल्लंघन की आज्ञा नहीं देता। ऐसा करने पर दण्ड सुनिश्चित होता है। अतः सामाजिक मूल्य सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए सामाजिक विघटन को रोकने के लिए महत्वपूर्ण है।

उपरोक्त उपयोगिताओं के होते हुए भी कभी–कभी मूल्यों से सामाजिक विघटन भी होता है। यदि ये समय व परिस्थिति के साथ परिवर्तित नहीं होते हैं या समाज के लोगों की आकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक होते हैं तो लोग विद्रोही होकर ऐसे मूल्यों को तोड़ते हैं। जैसे भारतीय समाज के प्राचीन प्रचलित मूल्य जिनमें रूढिवादिता संकीर्णता, व्याप्त थी, जो पिछड़ेपन व विघटन का सूचक थी, जिनमें बाल विवाह, सती प्रथा, पर्दा प्रथा, जागीर प्रथा, देवदासी प्रथा, कुली बेगार प्रथा प्रचलित थी।इन मूल्यों का त्याग कर लोगों ने नवीन मूल्यों को ग्रहण किया जो आवश्यक है।

डॉ0 राधाकमल मुकर्जी द्वारा प्रतिपादित उपरोक्त मूल्यों के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। जिसे विद्यार्थियों की सुविधा के लिए संक्षेप में निम्नवत् स्पष्ट किया जा रहा है–

- मूल्य समाज की एकरूपता, समानता स्थापित करने के लिए महत्वपूर्ण हैं।
- व्यक्ति समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से मूल्यों को आत्मसात् कर सामाजिक प्राणी बनता है। इसलिए इसकी बहुत उपयोगिता है।
- मूल्यों द्वारा व्यक्ति की भूमिकाओं का निर्धारण होता है।
- सामाजिक मूल्यों के अनुकूल कार्यों के लिए पुरस्कार व विपरित कार्यों के लिए दण्ड की व्यवस्था सुनिश्चित कर कर समाज विरोधी कार्यों पर अंकुश लगाया जाता है।

- मूल्य सामाजिक आदर्शों, विचारों एवं व्यवहार प्रतीकों के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह् करते हैं।
- कौन किन परिस्थितियों में किस प्रकार की भूमिका का निर्वह्न करेगा। इसकी व्यवस्था में मूल्य महत्वपूर्ण निर्देशन करने में सहायक होते हैं।
- मूल्य समानता, सामुदायिकता, एकीकरण, सामाजिक नियंत्रण स्थापित करने के लिए उपयोगी हैं।
- मूल्य प्राचीन रूढ़िवादी, संकीर्ण मूल्येां का त्याग कर नवीन व वर्तमान मूल्यों को अपनाने के लिए विद्रोह भी करते हैं।

1.19 गैरमूल्य क्या हैं? (what is disvalues)

डॉ0 मुकर्जी ने मूल्यों की विस्तृत व्याख्या के साथ–साथ गैरमूल्य या अपमूल्यों की भी चर्चा की है। वे नकारात्मक मूल्यों को ही गैर मूल्य मानते हैं। व्यक्ति संबंधी असमान्यताओं की बात करते हुए उन्होंने लिखा है–''सामाजिक व्यवहार के सभी आयामों के विपरित व्यक्ति तथाकथित कुछ लोकप्रिय गैर मूल्यों द्वारा प्रभावित होकर सामाजिक मूल्यों का उल्लंघन करता है या उन्हें अस्वीकार कर उनके विरुद्ध आचरण करता है। यही अपमूल्य है। जब उदासीनता, शोषण, भ्रष्टाचार, उपेक्षा, द्वेष इत्यादि भावनाओं से ग्रसित व्यक्ति सामाजिक मूल्यों के विपरित कार्य करना प्रारम्भ करता है तो उसे अपमूल्यों के रूप में देखा जा सकता है। गैर मूल्यों की प्रकृति को निम्नवत् समझा जा सकता है–

1–समाज द्वारा स्वीकृत आदर्श व मानदण्डों की उपेक्षा करना– मूल्यों का आदर्श व मानदण्डों से गहरा रिश्ता है, क्योंकि मूल्यों के द्वारा ही इनके आधारों का निर्धारण सुनिश्चित होता है। मूल्यों में समाज कल्याण की भावना निहित होती है। इसलिए समाज द्वारा उन मूल्यों के अनुकूल चलने की व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है। जो समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं। लेकिन जब वैयक्तिक स्तर पर इन स्वीकृत मूल्यों के स्थान तथाकथित कुछ लोकप्रिय गैर मूल्यों का प्रयोग किया जाता है। तब इन्हें अपमूल्य कहते हैं।

2– स्थापित मानकों के विपरित आचरण करना– समाज को संगठित व सुव्यवस्थित रखने के लिए समाज द्वारा स्थापित मानक जैसे–विश्वास, मान्यताएं, नैतिकता इत्यादि का अनुकूलन करने के लिए मूल्यों की स्थापना होती है। लेकिन इसका अनुपालन या अनुसरण न कर व्यक्ति शोषण, भ्रष्टाचार, उपेक्षा, द्वेष इत्यादि भावनाओं से ग्रसित व्यवहार करता है, तब इसे अपमूल्य के रूप में देखा जा सकता है।

3–नकारात्मक सामाजीकरण की प्रक्रिया को अपनाना–एक शिशु को एक सामाजिक प्राणी बनाने में सामाजीकरण की प्रक्रिया अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है। व्यक्ति समाज में स्वीकृत सकारात्मक मूल्यों को आत्मसात् कर सामाजिक प्राणी का दर्जा प्राप्त करता है। लेकिन कभी–कभी व्यक्ति की नकारात्मक सोच उसके व्यक्तित्व को नकारात्मक दिशा की ओर ले जाती है। और वह इसी दिशा में समाजीकृत होने लगता है। फलतः मूल्यों की विपरित कर्य करने की प्रेरणा को उसके द्वारा दैनिक व्यवहार में अपनाया जाने लगता है, जिन्हें गैर मूल्य कहा जाता है।

4–विकृत भावों का प्रतिनिधित्व–जब हम गैर मूल्यों की चर्चा करते हैं,तो स्पष्ट हो जाता है कि वह व्यक्ति विकृत प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करता है, जो स्वयं व्यक्ति व समाज को विघटन की ओर ले जाता है। इन विकृत प्रवृत्तियों को राग–द्वेष, घृणा, शोषण, बेईमानी, भ्रष्टाचार, दुराचार, उदासीनता, उपेक्षा आदि के रूप में देखा जा सकता है, जो कि गैरमूल्यों की श्रेणी में आते हैं।

5–समाज विरोधी कार्य करना– समाज विरोधी कार्यों को भी गैर मूल्यों के अन्तर्गत शामिल किया जाता है, क्योंकि सांस्कृतिक लक्ष्य व संस्थागत साधनों में असामंजस्य स्थापित करना, आदर्श नियमों के प्रतिकूल चलना, स्थापित मानकों को अस्वीकार करना तथा नकारात्मक प्रवृत्तियों को अपनाकर समाज विरोधी आचरण करना सभी गेर मूल्य हैं।

उपरोक्त प्रकृति के आधार पर स्पष्ट होता है कि जब व्यक्ति द्वारा समाज में स्वीकृत नियमों का उल्लंघन, स्थापित मानकों को अस्वीकार, नकारात्मक दिशा की ओर अग्रसर होना, समाज विरोधी कार्य करना, जैसी प्रवृत्तियाँ जन्म लेती हैं तो उन्हें गैर मूल्य या अपमूल्य के रूप में देखा जा सकता है।

1.20 गैरमूल्य के कारण (factors of disvalues)

डॉ0 मुकर्जी मानते थे कि व्यक्ति में नकारात्मक सोच या और मूल्यों की उत्पत्ति के तीन कारण या अवस्थाएँ मुख्य हैं–

1–शारीरिक कष्ट–डॉ0 मुकर्जी मानते थे कि व्यक्ति को उसकी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति से वंचित रखने कुपोषण का शिकार होने व जीवनचर्या में असुविधा होने के कारण गैर मूल्यों का जन्म होता है। इसके कारण मानव में परिपक्वता की कमी हो जाती है। उसका मानसिक विकास नहीं हो पाता है। अर्थात् रोटी, कपड़ा, मकान का अभाव, सर्दी–गर्मी में सुरक्षा का अभाव बीमारी, शारीरिक कष्ट इत्यादि गैर मूल्यों की उत्पत्ति के शारीरिक कारण हैं।

2–मानसिक तनाव व संघर्षों का शिकार– ये स्थिति तब गैर मूल्यों को जन्म देती है, जबकि व्यक्ति प्रचण्ड मानसिक तनावों व संघर्षों का शिकार का शिकार बन जाता है। ये स्थितियाँ तब उत्पन्न होती है। जब भोजन, प्रेम–प्रतिष्ठा, प्रस्थिति तथा सुरक्षा विषयक आवश्यकताओं की पूर्ति में गम्भीर बाधा व निराशा होती है, क्योंकि मनोवैज्ञानिक स्वास्थ व आत्मसंतोष के लिए मानसिक सुरक्षा आवश्यक है। इसके अभाव में व्यक्ति विकृत मूल्यों के एक समूह को प्राप्त कर लेता है और इसके प्राप्त करने के लिए उसे संघर्ष करना पड़ता है। अतः ये विकृत मूल्य और इन्हें पाने के लिए किया गया संघर्ष दोनों ही अपमूल्य को विकसित करते हैं।

3– उपेक्षा, तिरस्कार व असमायोजन के कारण– डॉ0 मुकर्जी के अनुसार मानव मस्तिष्क इतना जटिल व लचीला होता है कि संघर्षात्मक परिस्थितियों में व्यक्ति खाने–पीने तथा नशा करने की अतिक्रिया व अतिपरितुष्टि में लग जाता है। अपने दुःख–दर्द व मानसिक तनाव को दूर करने के लिए वह शराब में दिन–रात डूबकर अपने स्वास्थ व शरीर का हानि पहुँचाता है। ये सब मूल्यों के विकृतिकरण व गैर मूल्य को जन्म देते हैं, जो समाज में उपेक्षा, तिरस्कार व असमायोजन के कारण उत्पन्न होते हैं।

1.21 मूल्य व गैर मूल्य में अंतर (Difference between values and disvalues)

पूर्व में हमने मूल्यों व गैरमूल्यों पर चर्चा की है, जिससे स्पष्ट होता है दोनों में अन्तर है। अतः इस अन्तर को विद्यार्थियों को समझाना आवश्यक है। इसे निम्नवत् स्पष्ट किया जा रहा है–

1. सामाजिक मूल्य समाज द्वारा स्वीकृत आदर्श, मानदण्ड पर आधारित होते हैं, जिनका पालन व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। समाज द्वारा स्वीकृत आदर्श मानदण्डों को अस्वीकार करना या उनका पालन न करना गैर मूल्य हैं।
2. सामाजिक मूल्य में व्यक्तियों से स्थापित, मानकों, तरीकों, विश्वासों मान्यताओं पर चलने की अपेक्षा की जाती है। गैरमूल्यों का अनुसरण करने वाले हमेशा इन स्थापित मान्यताओं के विपरित आचरण करते हैं।
3. समाज द्वारा स्वीकृत मूल्यों को स्वीकार करने पर व्यक्ति का सकारात्मक सामाजीकरण होता है, जबकि गैर मूल्य नकारात्मक सामाजीकरण के द्योतक हैं।
4. समाज हमेशा सामाजिक कल्याण के लिए सामाजिक हित में कार्य करने की प्रेरणा देते हैं, जबकि गैर मूल्य समाज विरोधी कार्यों के रूप में जाने जाते हैं।
5. मूल्यों में सत्यता, ईमानदारी, प्रेम, दादर्श जैसे तत्वों की प्रधानता रहती है, जबकि घृणा, द्वेष, भ्रष्टाचार, अनैतिकता, गैर मूल्यों के तत्वों के रूप में स्थापित होते हैं।
6. मूल्य व्यक्ति व समाज को संगठित करते हैं, जबकि अपमूल्य व्यक्ति, समाज दोनों के विघटन के रूप में देखे जा सकते हैं।
7. मूल्य जहाँ संस्कृति के संरक्षक होते हैं, वहीं अपमूल्य साँस्कृतिक विघटन के रूप में देखे जा सकते हैं।
8. मूल्य काननू तथा सामाजिक संहिताओं का पालन तथा गैर मूल्य इनकी अवहेलना, अवमानना तथा उल्लंघन करने पर आधारित हैं।
9. अन्त में मूल्यों पर व्यक्ति, समाज, देश, राष्ट्र सभी के विकास एवं प्रगति में सहायक हैं, तो गैर मूल्य इसमें अवरोध उत्पन्न करने के प्रतीक।

गैर मूल्यों को रोकने के लिए डॉ0 मुकर्जी मानते थे कि इसके लिए सुधारात्मक व रचनात्मक उपायों का प्रयोग आवश्यक है। नकारात्मक सामाजीकृत व्यक्ति का पुर्नसामाजीकरण किया जाना चाहिए। सामूहिक अनुकूलन अपमूल्यों का सर्वोत्तम निदान है।'' मूल्य व गैर मूल्यों को कुछ उदाहरण द्वारा विद्यार्थियों की सुविधा के लिए निम्नवत् स्पष्ट किया जा रहा है–

मूल्य	अपमूल्य
सत्य की सदा विजय होती है।	प्रेम और राजनीति में कुछ भी अनुचित नहीं होता।
क्षमादान सवोत्तम दान है।	खून का बदला खून।
निर्बल के बल राम।	जिस की लाठी उसका भैंस।
परिश्रम का फल मीठा होता है।	जो भाग्य में होगा मिलेगा।
जियो और जीने दो।	मारो और मरो।
स्वास्थ्य ही सम्पदा है।	खाओ पिओ मौज उड़ाओ।

उपरोक्त मूल्य–गैर मूल्य के अन्तर को जानने के पश्चात यह जानना भी आवश्यक है कि इन मूल्यों की उत्पत्ति कैसे होती है? डॉ0 मुकर्जी ने इस पर अपने क्या विचार रखे हैं। इसकी चर्चा करेंगे–

1.22 सारांश

अब तक डॉ0 राधाकमल मुकर्जी के जीवन परिचय उनकी कृतियों, उनके द्वारा प्रतिपादित मूल्यों के सिद्वान्तों की विस्तृत चर्चा की गयी। इसमें मूल्यों का अर्थ, परिभाषा, मूल्येां का उद्देश्य, मूल्य, मूल्यों का उद्भव एवं विकास, सामाजिक मूल्यों के प्रकार, सामाजिक जीवन में मूल्यों का गठन, बाह्यता एवं बाध्यता, मूल्य का अर्थ एवं उत्पत्ति, मूल्य एवं प्रतीक, व्यक्ति समाज एवं मूल्य, मूल्यों का सोपान एवं संस्तरण, मूल्यों के नियम, मूल्यों का महत्व, गैर मूल्य क्या हैं?, गैर मूल्यों के कारण, मूल्य एवं गैर मूल्य में अंतर पर प्रकाश डाला गया। इसके साथ ही गैर मूल्य या अपमूल्यों की विवेचना कर, गैर मूल्यों की अवधारणा अर्थात् गैर मूल्य क्या हैं? उनकी प्रकृति, मूल्य/गैरमूल्यों में अन्तर व गैरमूल्यों की उत्पत्ति या कारणों की विवेचना की गयी है। साथ ही विद्याथियों की सुविधा के लिए कुछ उदाहरणों के माध्यम से इन दोनों के बीच पाए जाने वाले अन्तर पर प्रकाश डाला गया है।

1.23 सामाजिक परिस्थिति विज्ञान (Social Ecology)

यद्यपि राधाकमल मुकर्जी की पहचान विशेष रूप से मूल्यों का प्रतिपादन करने के कारण है, लेकिन सामाजिक परिस्थिति विज्ञान के क्षेत्र में किये गये उनके कार्यों का अध्ययन करना भी विद्यार्थियों के लिए आवश्यक है। अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र के बीच सीमा रेखाओं को मिटाने की दिशा में जो प्रयास डॉ0 मुकर्जी द्वारा किया गया, उसकी स्पष्ट छाप उनके द्वारा प्रस्तुत् सामाजिक परिस्थिति विज्ञान संबंधी विचारों में दृष्टिगत होता है।

1.24 सामाजिक परिस्थिति विज्ञान की अवधारणा (concept of social Ecology)

परिस्थितिशास्त्र अथवा परिस्थितिकी शब्द की रचना व प्रयोग सर्वप्रथम जर्मन जीवशास्त्री विद्वान अर्नस्ट हैकल ने 1980 में किया। अंग्रेजी भाषा के Ecology, यूनानी शब्द का oikas से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ घर, निवास स्थान, आवास से है। अर्थात् परिस्थितिशास्त्र मनुष्य एवं अन्य जीवों के निवास का अध्ययन है। यह दो शब्द eco और logy से मिलकर बना है, जिसमें Eco का तात्पर्य पर्यावरण से संबंधित तथा logy का तात्पर्य ज्ञान की शाखा या विज्ञान से है। अतः परिस्थितिशास्त्र पर्यावरण का अध्ययन करने वाली ज्ञान की एक शाखा है।

परिस्थिति की जीवन प्राणियों, उनके पर्यावरण व संबंधों का अध्ययन वर्तमान में पौधों का जीवों का और मनुष्यों का परिस्थिति विज्ञान तीन शाखाएँ विकसित हो चुकी हैं परिस्थिति विज्ञान में समस्त पृथ्वी व उसका परिवेश सम्मिलित है। यह शब्द वनस्पतिशास्त्र में पौधों व उनके भौतिक पर्यावरण के बीच पाये जाने वाले संबंधों को स्पष्ट करता है? जीव विज्ञान में पशुओं–जीवधारियों की भौतिक परिस्थितियों का अध्ययन करता है। पौधों और जानवरों की परिस्थितिकी उनके व उनके पर्यावरण का अध्ययन है। पौधे और पशु अपने चारों तरफ की भौतिक दशाओं से प्रभावित होते हैं व अपने पर्यावरण से सामन्जस्य स्थापित करते हैं।

जहाँ तक मानव का प्रश्न है। उसके चारों ओर की भौतिक और सामाजिक दशाएँ उसे प्रभावित करती हैं और एक सामाजिक प्राणी होने के नाते वह स्वयं को प्र्यावरण के अनुकूल ढालता है। इस प्रकार वह पर्यावरण निर्माण की क्षमता भी रखता है। मनुष्य पर्यावरण से केवल प्रथावित ही नहीं होता, बल्कि स्वयं भी पर्यावरण को प्रभावित करता है। अतः स्पष्ट है कि परिस्थिति विज्ञान मानव व उसके पर्यावरण के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन है। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग पार्क वएवं बर्गस (R.D.Park and E.W.Burgess) ने 1925 में किया था।

सामाजिक परिस्थिति शास्त्र की परिभाषा (definition of Social Ecology)–कुछ विद्वानों द्वारा सामाजिक परिस्थिति शास्त्र को अपनी परिभाषा के माध्यम से निम्नवत् स्पष्ट किया गया है–

फेयरचाइल्ड समाजशास्त्र शब्दकोश के अनुसार–सामाजिक परिस्थिति ज्ञान की वह शाखा है, जिसमें मानव निवास वितरण और उन प्रघटनाओं का विवेचन व अध्ययन होता है, जो सामाजिक और परिस्थिति शास्त्रीय दोनों की परस्पर क्रिया (Interaction) की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं।

कंसाइज ऑक्सफोर्ड अंग्रेजी शब्कोष के अनुसार– इसमें दो परिभाषाओं का उल्लेख हुआ है–

1. यह जीव विज्ञान की वह शाखा है। जो जीवों तथा उनके पर्यावरण के पारस्परिक संबंधों की जानकारी देती है।
2. सभी आपसी संबंध सामूहिक तौर पर परिस्थितिकी कहे जाते हैं। पर्यावरण और जीवों के आपसी संबंध द्विपक्षीय और बहुत संवेदनशील हैं इससे जीवों एवं उनके परिवेश के बीच सन्तुलन रहता है।

डॉ0 आर0 के मुकर्जी के अनुसार–''परिस्थितिविज्ञान ज्ञान की वह शाखा है जिसमें एक प्रदेश विशेष की परिस्थितिगत अवस्थाओं, मानवीय संबंधों, व्यवहारों, सामाजिक संस्थाओं एवं मानवीय अनुकूलन की प्रक्रियााओं के बीच पाए जाने वलो अन्तर्संबंधों का विवेचन व विश्लेषण किया जाता है।''

थियोडरसन एवं थियोडरसन के अनुसार–''परिस्थितिशास्त्र मानव और उसके पर्यावरण का अध्ययन है।''

पार्क के अनुसार–''परिस्थितिशास्त्र मानव संगठन के उप सामाजिक (sub–social) जैविक स्तर अर्थात् एक स्तर के संगठन का जो कि अस्तित्व के लिए संघर्ष तथा अवैयक्ति और अनियोजित प्रतिस्पर्द्धात्मक सहयोग पर आधारित है का अध्ययन है।''

क्यूबर (J.E.CUBER) सामाजिक परिस्थितिकी किसी समुदाय में मनुष्य और मानव संस्थाओं के संबंध और उनसे सम्बद्ध क्षेत्रीय प्रतिमानों का अध्ययन है।''

मैकाइवर एवं पेज (Maclver and Page)–''परिवार के संगठन से लेकर मानसिक घटनाओं जैसी सभी विशेषताओं को ये दशाएँ प्रभावित करती हैं। व्यक्ति इन परिस्थितियों के अनुसार अपने सामूहिक जीवन से समायोजन करने के अवसर प्राप्त करता है।''

आर्गबर्न व निमकॉफ (Orgburn and Nimkoff)-मानव परिस्थितिकी सामान्य परिस्थितिकी ही एक शाखा है, लेकिन स्पष्ट रूप से यह मानव प्राणियों और उनके प्य्रावरण के पारस्परिक संबंध को स्पष्ट करती है। यद्यपि इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है, लेकिन मानव परिस्थितिकी व्याख्या करने वाले विद्यान

विशेष रूप से मनुष्य की क्षेत्रीय व्यवस्थाओं तथा उसके द्वारा सामाजिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों से संबंधित है।''

उपरोक्त आधार पर स्पष्ट होता है कि सामाजिक परिस्थितिकी ज्ञान की वह शाखा है, जिसमें पर्यावरण, पारस्परिक संबंधों और अन्तःक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। सम्पूर्ण पर्यावरण में मानव निर्मित और भौगोलिक (प्राकृतिक व्यवस्था) समाविष्ट है। मनुष्य के जीवन पर सम्पूर्ण पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है।

1.25 सामाजिक परिस्थिति की विशेषताएँ (Characteristics of Social Ecology)

विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर परिस्थितिकी विशेषताओं पर चर्चा होगी जो निम्नवत् हैं–

- इसके अन्तर्गत मानव व उसके पर्यावरण का अध्ययन होता है।
- निश्चित क्षेत्र में निवासित जनसंख्या के संगठन का अध्ययन इसकी विशेषता है।
- इसमें मानव पर भौगोलिक एवं सामाजिक–सांस्कृतिक कारकों के प्रभावों का अध्ययन किया जाता है।
- परिस्थितिकी प्रक्रियाएँ–प्रतिस्पर्द्धा, सहयोग, जनसंख्या का केन्द्रीकरण, विकेन्द्रीकरण से संबंधित अध्ययन शामिल होता है।
- समुदाय की संरचना, गतिशीलता का अध्ययन करना भी इसकी विशेषता में शामिल है।
- इसमें पर्यावरण एवं सांस्कृतिक कारकों के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन किया जाता है।

1.26 सामाजिक परिस्थिति का महत्व (Importance of Social Ecology)

आधुनिक समय में औद्योगीकीकरण, नगरीकरण की वृद्धि के साथ–साथ सामाजिक परिस्थिति के अध्ययन का महत्व बढ़ता जा रहा है। किसी भी समुदाय के जीवन का अध्ययन उस समुदाय की परिस्थितिकी को समझे बिना संभव नहीं है। अतः इसकी महतता पर निम्नवत् प्रकाश डालेंगे–

1. **किसी भी सामुदायिक जीवन के लिए परिस्थितिकी का अध्ययन आवश्यक–** टामस ने परिस्थिति के महत्व को स्वीकारते हुए व्यक्ति को अपनी परिस्थितिकी का प्रतिरूप कहकर संबोधित किया है तथा स्ट्रनर का विचार है कि समुदायों का उदय व विकास उनकी परिस्थिति पर निर्भर करता है। दोनों ही विचार स्पष्ट करते हैं कि किसी भी समुदाय के अध्ययन में वहाँ की परिस्थितिकी का विशेष महत्व है।
2. **व्यक्तियों की पारस्परिक निर्भरता को सुदृढ़ करती है–**वास्तव में किसी विशेष क्षत्र की परिस्थिति की जैसी होती है, वहां पारस्परिक संबंध मनोवृत्तियाँ, व्यवहार के ढंग तथा रहन–सहन का स्तर भी उसी प्रकार का बन जाता है। परिस्थितिशास्त्री तो मानव व्यवहारों व मानसिक प्रक्रियाओं जैसे–आत्महत्या, अपराध आदि को भी परिस्थितिकी की देन मानते हैं अतः इन मानवीय व्यवहारों का अध्ययन करने के लिए इसे महत्वपूर्ण माना जाता है।

3. **परिवर्तन के लिए महत्वपूर्ण**–समुदाय में बहुधा देखने को मिलता है कि क्षेत्रीय परिवर्तन के साथ ही व्यक्ति की आदतों और विचारों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जाते है। पीढ़ियों से गाँवों में रहने वाला व्यक्ति नगर में रहकर जाने से स्वतंत्र विचारों का हो जाता है। और नगर का व्यक्ति गाँव की ओर जाने पर अपने विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन महसूस करता है। व्यक्ति में होने वाले इन परिवर्तनों के अध्ययन के लिए परिस्थितिकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।
4. **नियोजन के लिए महत्वपूर्ण**–परिस्थितिशास्त्र का ज्ञान गन्दी बस्तियों पर रोक, नगर नियोजन एवं समुचित सामुदायिक जीवन के विकास में हमारे मार्गदर्शक के रूप में कार्य कर सकता है। इससे वातावरण की स्वस्थता एक स्वस्थ नियोजन को जन्म देती है।
5. **परिस्थितिकी एवं मानव में एकीकरण के लिए महत्वपूर्ण**–एक स्वस्थ सामुदायिक जीवन के लिए आवश्यक है कि परिस्थितियां एवं मानव के कार्य–कलापों के बीच एकीकरण एवं सन्तुलन हो, लिप्ले ने अच्छे समुदाय के निर्माण में प्राकृतिक वनस्पिति, भूमि, पशु, जगत, जलवायु आदि स्थानीय कारकों से समायोजन के महत्व का उल्लेख किया है।
6. **औद्योगीकरण / नगरीकरण की वृद्धि में सामाजिक परिस्थितिकी का महत्व**–वर्तमान समय में जब औद्योगीकरण एवं नगरीकरण की बढ़ती क्रान्तिकारी प्रक्रिया में यातायात व संचार साधनों के विकास ने नगरों के विकास एवं विनाश में योग दिया है। स्थानीयता, कूपमण्डूपता समाप्त हुई है। विश्व छोटा होता जा रहा है, एक क्षेत्र विशेष में रहने वाले लोगों की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक विशेषताओं को तय करने में वहाँ की परिस्थितिकी का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में योगदान रहा है।

उपरोक्त आधार पर स्पष्ट होता है कि परिस्थितिकी समुदाय, पारस्परिक संबंधों, मनोवृत्तियों, व्यवहारों, एकीकरण, समायोजन आदि के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

सामाजिक परिस्थितिकी की अवधारणा, विभिन्न विचारकों की परिभाषा, इसकी विशेषताओं व महत्व को जान लेने के पश्चात राधाकमल मुकर्जी के सामाजिक परिस्थितिकी संबंधी विचारों पर चर्चा की जायेगी–

1.27 राधाकमल मुकर्जी के सामाजिक परिस्थितिकी संबंधी विचार (view R.K.Mukerjee about Social Ecology

राधाकमल मुकर्जी के अनुसार–''सामाजिक परिस्थिति विज्ञान ज्ञान की वह शाखा है, जिसमें एक प्रदेश विशेष की परिस्थिगित अवस्थाओं, मानवीय संबंधों, व्यवहारों, सामाजिक संस्थाओं एवं मानवीय अनुकूलन की प्रक्रियाओं के बीच पाए जाने वाले अन्तर्संबंधों का विवेचन एवं विश्लेषण आता है। मानवीय सामाजिक व्यवहार, सामाजिक संस्थाओं तथा अनुकूलन की मानवीय समस्याओं, प्रादेशिक संकुल के अन्तर्गत समझा जा सकता है।''

डॉ0 मुकर्जी द्वारा सामाजिक परिस्थिति विज्ञान में व्यवहारिक व समुदाय परिस्थितिकी का उल्लेख किया है। व्यवहारिक परिस्थिति में जनसंख्या, प्राकृतिक साधनों, वनस्पति एवं पशु संसार के परिस्थितिगत संतुलन के साथ सामनजस्य करते हुए मानव के विभिन्न स्वरूपों का अध्ययन तथा समुदाय परिस्थितिकी में मानव भूगोल, मानव जीवशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाज मनोविज्ञान तथा तकनीकी के साथ परिस्थिति विज्ञान की अन्तः क्रिया के कारण प्राप्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण आता है।

डॉ0 मुकर्जी के अनुसार परिस्थितिगत अवस्थाओं में प्राकृतिक अवस्थाओं का बहुत महत्व है, जिनके साथ मनुष्य को आज भी अनुकूलन करना पड़ता है। प्रकृति के असन्तुलन से प्राकृतिक आपदाताएँ अवश्यमेव क्रियान्वित होती है। अतः प्राकृतिक अवस्थाओं और उसके लिए एक सीमा तक प्रकृति के साथ तालमेल या सामंजस्यता बनाए रखना कितना अनिवार्य होता है। इत्यादि की चर्चा निम्नवत् करेंगे–

1. **जनसंख्या का प्रभाव–** प्राकृतिक अवस्थाएँ अधिकांशतः जनसंख्या से प्रभावित होती है। जहाँ की भौगोलिक दशाएँ मानवीय प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति सरलता से कर पाती हैं। वहाँ की जनसंख्या बहुत घनी होती है। यही कारण है कि गंगा, यमुना व सिन्धु नदी के मैदानों में आबादी का घनत्व सर्वाधिक है। जहाँ अनाज अधिक मात्रा में होता है और आधारभूत आवश्यकताओं में सरलता आ जीती है। इसके विपरित भोजन की दृष्टि से अनुपयुक्त स्थानों में जनसंख्या काफी कम होती है। हिमालय प्रदेश अंडमान, निकोबार, द्वीप व रेगिस्तान में इसी कारण जनसंख्या काफी कम होती है।
2. **मानव के मकान पर प्रभाव–** प्राकृतिक अवस्थओं का प्रभाव मानव के मकान के स्वरूप व निर्माण सामग्री पर घनिष्ठ रूप से पड़ता है। अर्थात् अत्यधिक ठण्डे प्रदेशों में बन्द मकान या खिड़कियों का न होना पाया जाता है तो गर्म प्रदेशों में मकान खुले व हवादार बनाये जाते हैं। इसी कारण निर्माण सामाग्री भी पर्यावरण द्वारा प्रभावित होती है।
3. **वेशभूषा पर प्रभाव–**प्राकृतिक अवस्थाएं वेशभूषा को भी प्रभावित करती हैं, अर्थात् जहाँ सर्दी अधिक होती हैं, वहाँ की वेशभूषा ऊनी गरम, चुस्त होगी, तो गरम प्रदेशें में काटन, ढीले व हवादार कपड़ों का चलन है।
4. **खानपान का प्रभाव**–जहाँ पर जिस प्रकार के खाने–पीने की वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उत्पादित होती हैं या पायी जाती हैं। वहाँ अधिकतर लोग इन्हीं चीजों का सर्वाधिक प्रयोग करते हैं, जैसे–बंगाल में चावल का, उत्तर प्रदेश और पंजाब में गेहूँ का प्रयोग सबसे अधिक होता है। इसी प्रकार शराब अधिक मात्रा में बनने से इटली–स्पेन, फ्रांस आदि में शराब का बहुतायत से प्रयोग किया जाता है।
5. **आर्थिक जीवन व संस्थाओं का प्रभाव–**रॉस के अनुसार–''प्रकृति समाज के सामान्य, आर्थिक लक्ष्यों को निश्चित करती है।'' अर्थात् आर्थिक जीवन का भौगोलिक पर्यावरण पर बहुत प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ–एक विशेष प्रकार का उद्योग धन्धा उसी स्थान पर पनप सकता है, जहाँ कि उस उद्योग के लिए कच्चा माल तथा अन्य अनुकूल पर्यावरण उपलब्ध है। बिहार में लोहे की खाने होने के कारण लोहे के कारखाने तो महाराष्ट्र में कपास की खेती व नम जलवायु के कारण सूती कपड़ा मिलों का उद्योग पनप रहा है।
6. **धन सम्पत्ति पर प्रभाव–**धन सम्पत्ति पर भी प्राकृतिक अवस्थाओं के प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है। किसी देश की अनुकूल जलवायु, उपजाऊ भूमि, खनिज पदार्थों का अधिक मात्रा में पाया जाना एक विकसित व धनी देशी की ओर इशारा करता है। अमेरिका इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। इसके साथ ही यह व्यवसायों को भी प्रभावित करती है। नदी–समुद्र के किनारे रहने वाले मछली व्यवसाय अधिक अपनाते हैं। उपजाऊ व अनुकूल भूमि वाले कृति तो जंगल में रहने वालों की आजीविका शिकार द्वारा संचालित होती है।
7. **सामाजिक संगठन व संस्थाओं पर प्रभाव–**सामाजिक संगठन व संस्थाएँ भी प्राकृतिक अवस्थाओं से इस प्रकार प्रभावित होती हैं कि जहाँ भौगोलिक पर्यावरण प्रतिकूल होता है। वहाँ पालन–पोषण

की प्रक्रिया कठिन व जटिल हो जाती है। यही कारण है कि वहाँ बहुपति विवाह (polyandry) प्रथा पायी जाती है और कृषि प्रधान देशों में बहु पत्नी विवाह (polygyny) का प्रचलन रहा है।

8. **धर्मकला और साहित्य पर प्रभाव–** मैक्समूलर आदि विद्वानों का मानना है कि व्यक्ति जिस प्राकृतिक पर्यावरण में रहता है। उसके प्रति प्रम श्रृद्धा उसको जीविका पालन में मदद करती है। व्यक्ति उनहीं वस्तुओं को देवता मानकर उन पर आस्था रखता है व उनका पूजन करने लगता है। अतः भौगोलिक पर्यावरण का धर्म पर प्रभाव पड़ता है। साथ ही कला, साहित्य के सृष्टिकर्ताओं के मस्तिष्क पर भी भौगोलिक पर्यावरण का स्पष्ट प्रभाव पड़ता है।

उपरोक्त आधार पर स्पष्ट होता है कि परिस्थितिगत अवस्थआों में प्राकृतिक अवस्थाओं का अत्यधिक महत्व है।

1.28 सामाजिक परिस्थितिकी के प्रकार्य (functions of social ecology)

इसके पश्चात् डॉ0 मुकर्जी द्वारा उल्लेखित सामाजिक परिस्थिति विज्ञान के प्रकार्यों पर प्रकाश डालेगे, जो निम्नवत् तीन आधारों पर स्पष्ट किये गये हैं–

1. अन्तः प्रक्रिया में लगे मनुष्यों एवं अन्तःसंबंधित मानवीय संस्थाओं का एक प्रदेश विशेष के साथ अनुकूलन की प्रक्रिया को स्पष्ट करना, जिसमें उस प्रदेश की मिट्टी, जलवायु, भूमि, प्रकृति आदि के साथ–साथ पेड़, पौंधे व पशु समुदायों से भी अनुकूलन है।
2. उन स्थानिक (spatial) भोजन संबंधी संबंधो को खोज निकालना जिसमें कि परिस्थितिगत शक्तियों के संदर्भ में एक प्राकृतिक क्षेत्र में मनुष्य तथा मानवयी क्रिया–कलाप संगठित हैं।
3. एक प्रदेश विशेष में मनुष्यों तथा अनय जीवित निर्जीव समुदायों के संतुलनों एवं पारस्परिक दबावों को नापना और यह खोजना कि वे संतुलन व दबाव मानव के प्रभुत्व और स्थायित्व के लिए अनुकूल तथा प्रतिकूल सिद्ध होंगे।

1.29 परिस्थितिगत अवस्थाएँ एवं आदिकालीन समाज (primitive societies and ecological condition)

आदिकालीन समाज आज भी ज्ञान–विज्ञान व औद्योगीकीय दुनिया से काफी दूर है। जिसके कारण परिस्थितिगत, विशेषकर प्राकृतिक अवस्थाओं पर उनकी निर्भरता, उन अवस्थाओं के साथ उनका घनिष्ठ संबंध होता है। डॉ0 मुकर्जी के अनुसार आदिकालीन समाज पर प्रस्तुत् विचारों को विद्यार्थी निम्न बिन्दुओं के माध्यम से आसानी से समझ पायेंगे–

आदिकालीन समाजों में न केवल सामाजिक संगठन अपितु धर्म, जादू, परम्पराएँ, प्रथाएँ व विश्वास परिस्थितिगत मूल्यों द्वारा प्रभावित थे।

आदिकालीन समाजों में व्याप्त टोटमवाद का प्रचलन इसी सत्य को प्रमाणित करता है, क्योंकि टोटमवाद के अन्तर्गत विशिष्ट पशु, पेड़ पौंधे आदि (जिससे टोटम माना जाता था) को मारना या नष्ट करना वर्जित था। यह प्रकृति से सामंजस्य का उदाहरण है।

डॉ0 मुकर्जी के अनुसार टोटम की अनिवार्यता से सन्तुलन बनाये रखने का आदिकालीन समाज का यह महत्वपूर्ण प्रयास था, क्योंकि जिन जनजातियों के लिए ये पेड़–पौंधे, प्शु आदि महत्व रखते थे,

उनकी संख्या उस प्रदेश में अल्प या सीमित थी। इसी प्रकार इन समाजों में व्याप्त जादू का उद्देश्य भी परिस्थितिगत पर्यावरण पर मनुष्य द्वारा प्रभुत्व जमाना था– जैसे मनुष्य ने पानी बरसाने संबंधी प्रयास को वर्षा न होने पर लागू किया, इसी प्रकार नीलगिरी की टोड़ा जनजाति में भैंस शालाओं (जहां भैंसे रहती हैं) को इसलिए पवित्र मन्दिर मानते हैं, क्योंकि दूध से उनकी आजीविका का संचालन होता है। इसी आधार पर इनके समाजों में भैंस पालन व देखरेख संबंधी अनेक प्रथाओं व धार्मिक कर्मकाण्ड सन्तुलन की अनुकूलता के लिए स्थापित हो गये और आजीविका के साधन के संबंध में कोई खतरा भी नहीं रहा।

इसी प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, वरूण, अग्नि, गंगा–यमुना इत्यादि को देवता के रूप स्वीकार करना भी प्रकृति के साथ मनुष्य द्वारा अनुकलन की इच्छा को प्रकट करता है।

उपरोक्त आदिम कालीन सामाजिक व्यवस्था इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि इन समाजों में परिस्थितिगत शक्तियाँ (ecological forces) के विविध स्वरूपों के साथ संतुलन स्थापित करने का उपयोगी व सार्थक प्रयास किया जाता था। इन अवस्थओं को डॉ0 मुकर्जी द्वारा आदिकाल से आधुनिक तक तीन प्रमुख स्तरों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है–

1.30 परिस्थितिगत अवस्थाओं से अनुकलन के प्रमुख तीन स्तर (three main stages of adjustment with ecological condition)

अ–प्रथम स्तर (first stage)-इसमें आदिम कालीन समुदायों की प्रकृति पर अत्यधिक निभ्ररता के कारण उन पर परिस्थितिगत अनुकूलन का दबाव होता था, क्योंकि उनके पास इसका कोई विकल्प ही नही था। विज्ञान तर्क शक्ति का अभाव के कारण समस्त कार्य संयोग या अपरिचितता पर आधारित थे।

ब–द्वितीय स्तर (second stage)-इस स्तर पर मनुष्य की परिस्थितिगत संबंध की विशेषता तार्किक व क्रमबद्ध थी। संरक्षण भोजन, आवास तथा पूजा से संबंध्ति प्र्यावरण के साज्ञि उनका तार्किक व क्रमबद्ध अनुकूलन देखने को मिलता है।

स–तृतीय अवस्था (third stage)- आधुनिक व्यवहारिक परिस्थिति विज्ञान (modern applied ecology) से संबंधित है, जो कि जैविक परिस्थिति (bio ecologic ecology) के सहयोग से व्यक्ति का भविष्य में उत्तरोत्तर अग्रगति की आशा करता है। इसमें इस बात को स्पष्ट किया गया है कि व्यक्ति प्रकृति का दास नहीं, बल्कि सहयोगी है, जिसके माध्यम से वह समाज कल्याण व प्रगति के लिए कार्य कर सकता है।

मनुष्य की वैज्ञानिक तरक्की व सोच मनुष्य और उसकी परिस्थिति के बीच पारस्परिक संबंध को और भी अधिक घनिष्ठ व गहन करता है। परन्तु आधुनिक समय में ज्ञान–विज्ञान, औद्योगिकी की निरन्तर वृद्धि एवं प्रगति ने प्रकृति या प्राकृतिक चीजों से छेड़छाड़ कर ग्लोबल वार्मिंग जैसी परिस्थितियों को जन्म देकर प्रकृति व मानव की निर्भरता को कम किया है। इसके लिए अनुकूलन बनाये रखने की नितान्त आवश्यकता है। अतः डॉ0 मुकर्जी द्वारा वनों के संरक्षण का आग्रह, फसलों के हेर–फेर का आग्रह व समन्वित विकास पर जोर देने की बात कही गयी है।

इसी के साथ विद्यार्थियों के लिए यह भी जानना आवश्यक है कि मुकर्जी ने प्रादेशिक समाजशास्त्र का भी वर्णन किया है, जिससे संक्षिप्त रूप में जानने का प्रयास किया जायेगा।

1.31 प्रादेशिक समाजशास्त्र (Regional sociology)

डॉ0 राधाकमल मुकर्जी द्वारा प्रादेशिकता या प्रादेशिक समाजशास्त्र का प्रारम्भ अपनी पुस्तक 'बाडरलैण्डस ऑफ इकॉनोमिक्स (Borderland of economics) में किया जो 1924 में लिखी गयी थी, लेकिन पुनः 1926 में अपनी कृति 'रिजनल सोसायोलॉजी' (Regional sociology) में इसे पूर्ण रूप से विकसित किया गया है।

1.32 प्रादेशिकता का अर्थ (Meaning of Regionalism)

डॉ0 मुकर्जी के अनुसार–प्रादेशिक समाजशास्त्र एक ऐसा समाजशास्त्र है, जो एक भौगोलिक क्षेत्र में मानव जीवन के बीच संबंधों का अध्ययन है, जिसमें एक भौगोलिक क्षेत्र के विभिन्न अंगों व विभिन्न प्रदेशों के लोगों के सामाजिक जीवन एंव व्यवहार का तुलनात्मक अध्ययन होता है। मानव आचरण और समाज का प्रादेशिक आधार पर विश्लेषण एवं व्याख्या प्रादेशिकता का मुख्य विषय है। एक क्षेत्र में मौजूद परिस्थितियां मानव जीवन को प्रभावित एवं निर्देशित करती हैं अतः प्रादेशिक समाजशास्त्र विज्ञान की एक ऐसी शाखा है, जो मानव जीवन कती एक विशेष अभिव्यक्ति है। जिसके द्वारा व्यक्ति अपने क्षेत्र विशेष की परिस्थितियों द्वारा न केवल प्रभावित होता है, बल्कि ये उसे निर्देशित भी करती हैं।

उपरोक्त के आधार पर कहा जा सकता है कि डॉ0 मुकर्जी प्रादेशिकता की विस्तृत व्याख्या करते हुए लिखते हैं–''प्रादेशिकता राष्ट्रीयता के अधीन है।'' अर्थात् यह एक प्रदेश विशेष में निवास करने वाले लोगों अपने क्षेत्र के प्रति वह विशेष लगाव व अपनेपन की भावना है जिसे कुछ सामान्य, आदर्श, व्यवहार, विचार तथा विश्वास के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है।

1.33 प्रादेशिक समाजशास्त्र का अध्ययन विषय (subject matter of regionalism or regional sociology)

डॉ0 मुकर्जी ने प्रादेशिक समाजशास्त्र को विकसित कर उसके अन्तर्गत अध्ययन की जाने वाली सामाग्री का उल्लेख निम्नवत् किया है–

1. प्रादेशिक जीवन के ताने–बाने का अध्ययन।
2. प्रदेश तथा प्रादेशिक समूहों के संदर्भ में मानव परिस्थितिकी का अध्ययन।
3. समाजिक प्रारूपों के प्रादेशिक आधार का अध्ययन।
4. सामाजिक एवं आर्थिक प्रारूपों के मध्य अनुकलन का अध्ययन।
5. राजनीतिक संबंधों पर आर्थिक परिस्थितियों के प्रभाव का अध्ययन।
6. प्रादेशिक समाजशास्त्र की प्रवृत्तियों का अध्ययन।

डॉ0 मुकर्जी अपने सम्पूर्ण अध्ययन को इस सरल व सामान्य मान्यता के आधार पर स्पष्ट करते हैं कि प्रत्येक प्रदेश वहाँ के निवासियों के लिए समान व स्थिर विशिष्ट परिस्थितियों को प्रस्तुत् करता है। जो उसकी संस्कृति द्वारा किसी हद तक प्रभावित होती हैं। साथ ही डॉ0 मुकर्जी ने प्रादेशिक

समाजशास्त्र को जनता के एक सांचे के रूप में मान्यता दी है, जिसमें प्रदेश एक विशिष्ट सामाजिक प्रारूप अथवा सामाजिक ढाँचे को जन्म देता है, जिन्हें स्पष्ट रूप में पहचाना जा सकता है।

1.34 प्रादेशिक समाजशास्त्र के आधारभूत तत्व (Postulates of regional sociology)

डॉ0 मुकर्जी द्वारा प्रादेशिक समाजशास्त्र के तीन आधारभूत तत्वों की व्याख्या निम्नवत् की है–

1. प्रादेशिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं वैधानिक संस्थाएँ आपस में जुड़ी हुई होती हैं। और ऐसा इन सभी संस्थाओं पर प्रदेश विशेष का सामान्य प्रभाव पड़ने के कारण होता है।
2. प्रादेशिक समाजशास्त्र जगह, कार्य तथा जनता के आपसी संबंधों का अध्ययन करके प्राप्त निष्कर्षों में नगरों एवं प्रदेशों में पाए जाने वाले सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है।
3. प्रादेशिक समाजशास्त्र में होने वाले अनुसंधान सामाजिक मानव शास्त्र व सामाजिक मनोविज्ञान के एकत्रित ज्ञान पर निर्भर करता है।

उपरोक्त मुख्य तीन आधारों की चच्र के प्श्चात् प्रादेशिकता की वास्तविकता पर डॉ0 मुकर्जी के विचारों की चर्चा करेंगे–

1.35 प्रादेशिकता की वास्तविकता (realities of regionalism)

डॉ0 मुकर्जी ने प्रदेश की वास्तविकताओं का उल्लेख किया है। उनका मानना था कि मानव के अपने प्रदेश विशेष से प्राकृतिक संबंधों के साथ–साथ मनोवैज्ञानिक रिश्ते भी होते हैं और भावात्मक लगाव भी। जिस प्रदेश में व्यक्ति जन्म लेता है। उससे उसकी आत्मीयता होती है। जन्मभूमि, रीति–निवाज, भाषा, रहन–सहन, सब उसके अपने होते हैं। जिसके कारण वहां व्याप्त संस्कृति–जीवन, शैली, तकनीक इत्यादि को वे सरलता से आत्मसात् कर लेता है। अर्थात् प्रदेश व्यक्ति की प्रथम सांस्कृतिक पाठशाला है, जहाँ वह संस्कृति के पाठों को सीखता है। वर्तमान वैज्ञानिक आविष्कारों से यद्यपि एक प्रदेश के संबंध दूसरे से बढ़ रहे है, लेकिन व्यक्ति अपने प्रदेश की संस्कृति को पकड़े रहता है। प्रादेशिका समाजशास्त्र में अंतर्देशीय व अनर्तप्रदेशी सामाजिक जीवन का भी अध्ययन किया जाता है।

मुकर्जी मानते थे कि क्षेत्रों व प्रदेशों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए इनके विकास से सम्पूर्ण राष्ट्र लाभान्वित होगा, क्योंकि पारिस्थतिकी सन्तुलन के लिए विकास की योजनाओं के समन्वय की जरूरत है, जिससे कि अधिक वृद्धि व परिस्थितिकी संतुलन स्थापित होगा।

प्रत्येक प्रदेश में उपलब्ध प्राकृतिक सम्पदा एवं साधन, उनके उचित उपयोग के लिए लोगों की कुशलता एवं संगठन से आर्थिक विकास या अपविकास पर प्रभाव पड़ता है, क्योंकि अपने आर्थिक विकास हेतु मनुष्य को शिकारी, पशुपालन, कृषि, औद्योगिक किसी भी अवस्था में प्रदेश की जलवायु, वनस्पति, खनिज, पशु–पक्षी इत्यादि का सामना करना पडता है। ये मनुष्य के समााजिक, आर्थिक, मानसिक कार्य–कलापों को प्रभावित करते हैं। वैज्ञानिक आवष्किार एवं ज्ञान के कारण मनुष्य ने पर्यावरण के प्रभाव को भले ही कम किया हो, परन्तु समाप्त नहीं कर पाया। प्रो0 मुकर्जी के अनुसार–''पर्यावरण एवं सामाजिक कारणों के मध्य अन्तःक्रिया से एक विशेष प्रदेश की संस्कृति दूसरे

से अलग होती है। सांस्कृतिक भिन्नता उन्हें आपस में मिलने नहीं देती। फलस्वरूप प्रान्तवाद या संकुचित प्रादेशिकता की भावना का जन्म होता है।''

उपरोक्त डॉ0 मुकर्जी द्वारा प्रादेशिकता या प्रादेशिक समाजशास्त्र को विद्यार्थी निम्न बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट रूप से समझ पायेगे–

- प्रादेशिक समाजशास्त्र सामाजिक विज्ञान की एक शाखा है।
- प्रादेशिक समाजशास्त्र एक भौगोलिक क्षेत्र में मानवीय व्यवहार व मानवीय जीवन के बीच पाये जाने वाले संबंधों का अध्ययन करता है।
- मानव आचरण और समाज का प्रादेशिक आधार पर विश्लेषण एवं व्याख्या प्रादेशिक समाजशास्त्र का मुख्य विषय हैं
- प्रादेशिक समाजशास्त्र एक क्षेत्र में मौजूद परिस्थितियां मानवीय जीवन को प्रभावित एवं निर्देशित करती हैं।
- प्रादेशिक समाजशास्त्र में जीवन के ताने बाने, सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों के मध्य अनुकूलन, राजनीतिक संबंधों पर आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव तथा प्रादेशिक समाजशास्त्र की प्रवृत्तियों का अध्ययन किया जाता है।
- प्रादेशिक समाजशास्त्र के मुख्य तीन प्रमुख तत्व हैं जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है।
- समाज के विकास एवं प्रगति के लिए इसका अध्ययन आवश्यक व महत्वपूर्ण है।

1.36 सारांश

इस इकाई के अध्ययन में डॉ0 मुकर्जी द्वारा प्रतिपादित परिस्थितिकी शास्त्र तथा प्रादेशिक समाजशास्त्र का अध्ययन किया गया है। जहां उन्होंने स्पष्ट किया है कि परिस्थितिकी जीवित प्राणियों और उनके पर्यावरण व पारस्परिक संबंधों का अध्ययन है। वर्तमान में पौधों का परिस्थिति विज्ञान जीवों का तथा मनुष्यों का परिस्थिति विज्ञान तीन शाखा के रूपों में जन्म ले चुका है। इसमें समस्त पृथ्वी व उसका परिवेश सम्मिलित है। अर्थात् सामाजिक परिस्थितिकी ज्ञान की वह शाखा है जिसमें पर्यावरण, पारस्परिक संबंधों और अंतःक्रियाओं का अध्ययन होता है।

इसी प्रकार प्रादेशिक समाजशास्त्र की विज्ञान की एक ऐसी शाखा है, जो एक भौगोलिक क्षेत्र में मानव व्यवहार और मानव जीवन के बीच विद्यमान संबंधों का अध्ययन करती है। प्रदेश विशेष से मानव का विशेष लगाव, आत्मीयता उसमें संस्कृति के प्रति लगाव को प्रदर्शित करता है। साथ ही उन्हें सांस्कृतिक दबावों में रहने के लिए प्रभावित व निर्देशित भी करता है।

1.37 शब्दावली

पार्थिव–पारलौकिक
उदान्त–ऊँचे स्वर से उच्चारण किया हुआ, खींच कर बोला हुआ
सार्वभौमिकता–सम्पूर्ण जगत का
प्रछन्न–किसी से छिपा हुआ
निःरंकुशता–जिसके लिए कोई प्रतिबंध न हो

अंतर्धारा–आन्तरिक धारा
सूक्ष्मीकृत–जिसका लघुरूप हो
व्यष्टि–समष्टि का एक विशष्ट और पृथक अंश
समष्टि–सार्वभौम
प्रज्ञ–विद्वता
अनुक्रम–विषयसूची
लोकातीतत्व–लोक से संबंधित तत्व
आरोहरण–ऊपर को चढ़ना
संस्तरण–स्तर, वर्गीकरण
आत्म यथार्थीकरण–स्वयं से संबंधित वास्तविकता
अनुरूपता–ऐसा व्यवहार जो समाज के अनुकूल हो।
विपथगमन–ऐसा व्यवहार जो समाज के विपरित हो
बहुपति–जहाँ एक स्त्री का बहुत सारे पुरुष पतिरूप में हों
बहुपत्नी–जहाँ एक पुरुष की बहुत सारी स्त्रियाँ पत्नी रूप में हों
उपजाऊ–उत्पादन क्षमता का अधिक होना
अग्रगति–निरन्तरता–निरन्तर आगे बढ़ने की

1.38 अभ्यास प्रश्न

1. राधाकमल मुकर्जी का जन्म हुआ–

अ–7 दिसम्बर 1789
ब–7 दिसम्बर 1790
स–7 दिसम्बर 1889
द–7 दिसम्बर 1989

2. कौन सी कृति डॉ0 मुकर्जी की नहीं है–

अ–स्ट्रक्चर ऑफ वैल्यूज
ब–डिविजन ऑफ लेबर इन सोसाइटी
स–बार्डरलैण्ड ऑफ इकॉनोमिक्स
द–सोशल इकोलॉजी

3. परिस्थितिकी विज्ञान शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किया–

अ–पार्क एवं बर्गस
ब–राधाकमल मुकर्जी
स–मैकाइवर एवं पेज
द–अर्नस्ट हैकल

4. निम्न में से कौन सा कथन सत्य है–

अ–मूल्य समाज में एकरूपता स्थापित
ब–मूल्य सामाजिक संगठन व एकीकरण के लिए आवश्यक है।
स–मूल्य भौतिक संस्कृति का महत्व बढ़ाते हैं
द–उपरोक्त सभी।

5. निम्न में से कोन सा कथन असत्य है–

अ–मूल्यों की विशेषता सार्वभौमिकता हैं
ब–मूल्य केवल हिन्दू समाज में प्रचलित होते हैं।
स–सामाजिक मूल्यों के साथ जनमानस की भावनाएं जुड़ी होती हैं।
द–मूल्यों का विकास सामूहिक संबंधों की संरचना में होता है।

प्रत्येक के कथन के आगे सत्य–असत्य लिखिए–

6. मुकर्जी ने सभी मूल्यों को सामाजिक नहीं माना है– सत्य/असत्य
7. मूल्यों का संबंध क्षेत्र विशेष से होता है–सत्य/असत्य
8. विवाह एक सामाजिक मूल्य है–सत्य/असत्य
9. मूल्य समाज के विकास एवं प्रगति में बाधक होते हैं–सत्य/असत्य
10. मूल्यों के आधार पर संस्कृति का निर्धारण होता है–सत्य/असत्य
11. अगस्त कोंत को भारतीय समाजशास्त्र का संस्थापक माना जाता है–सत्य/असत्य
12. डॉ0 मुकर्जी ने परिस्थिति विज्ञान के 3 पक्षों का उल्लेख किया है–सत्य/असत्य
13. वनस्पति विज्ञान, सामाजिक मानवशास्त्र, वन विज्ञान व मनोविज्ञान का संबंध अर्थशास्त्र से है–सत्य/असत्य
14. प्रादेशिकता या प्रादेशिक समाजशास्त्र की विस्तृत व्याख्या मुकर्जी द्वारा रिजनल सोसयोलॉजी में की गयी है–सत्य/असत्य
15. मूल्यों के विपरित आचरण या व्यवहार को गैर मूल्य कहा जाता है–सत्य/असत्य
16. समाज में मूल्यों के साथ.....भी होते हैं।
17. परिस्थितिकी शब्द की उत्पत्ति यूनानी शब्द बवपामे से हुई है। जिसका अर्थ है.....।
18. मुकर्जी द्वारा प्रतिपादित मूल्यों में .....व.....विचारधारा का समन्वय है।
19. प्रादेशिक समाजशास्त्र.....की एक शाखा है।
20. मैन एण्ड हिज हैबिटेशन पुस्तक.....के द्वारा लिखी गयी है।

अभ्यास प्रश्नों के प्रत्युत्तर

1–स 2–ब 3–द 4–द 5–ब 6–असत्य 7–सत्य 8–सत्य 9–असत्य 10–सत्य 11–असत्य 12–असत्य 13–असत्य 14–सत्य 15–सत्य 16–गैरमूल्य 17–घर, स्थान निवास, मकान 18–पूर्व एवं पश्चात 19–विज्ञान 20–राधाकमल मुकर्जी

1.39 संदर्भ सूची

मुकर्जी, राधाकमल, सामाजिक विचारक, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृ0सं0 524–527, 533–539, 545–556 एवं 540–544

मैकाइवर एवं पेज, समाज, अनुवादक जी0 विश्वेश्वरय्या रामपाल सिंह गौड़, रवि ऑफसेट पिंटर्स एवं पब्लिसर्श, आगरा, 2002, 98–99, 110–111

सिंह जे0पी0, समाजशास्त्र अवधारणाएँ एवं सिद्धान्त, पेंटिस हाल ऑफ इण्डिया प्राइवेट लि0दिल्ली, 2002, पृ0सं0116–138

बघेल, डी0एस0, महान समाजशास्त्रीय विचारक, मध्यप्रदेश हिन्दी गंथ अकादमी, ममता प्रिंटर्स भूपाल, 2002, पृ0स 162, 164–167

बघेल, डी0एस0, उच्चतर समाजशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा, 2006, पृ0 421–430

घिल्डियाल, अच्युतानन्द एवं गोदावरी, समकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, गौरीशंकर प्रेस, वाराणसी, 1987, पृ0सं0 143–145

यादव, राम गणेश, भारतीय समाजशास्त्र के अग्रणी चिन्तक, ओरियंट ब्लैकस्वान प्रा0लि0, दिल्ली, 2014, पृ0सं 1–19

सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

दूबे, श्यामाचरण, अनुवादक, वंदना मिश्र, भारतीय समाज, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, दिल्ली, 2001

आहूजा, राम, भारतीय समाज, रावत पब्लिकेशन, दिल्ली, 2001

हसनैन, नदीम, समकालीन भारतीय समाज–एक समाजशास्त्रीय परिदृश्य, भारत बुक सेंटर, लखनऊ, 2009

1.40 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मूल्यों को परिभाषित कर, इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिये।
2. मूल्यों की सामाजिक संरचना में राधाकमल मुर्की के आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
3. दर्शाइये कि मूल्यों के समाजशास्त्र को राधाकमल मुकर्जी का अंशदान पूर्वी तथा पश्चिमी विचारों का समाकलन है।
4. मूल्यों के सोपान संस्तरण को स्पष्ट कीजिए।
5. मुकर्जी के अनुसार मूल्यों के नियम पर प्रकाश डालिए।
6. मूल्यों की विशेषताओं का उल्लेख कर गैर मूल्यों से इसके अन्तर को स्पष्ट कीजिए।
7. राधाकमल मुकर्जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालिए।
8. राधाकमल मुकर्जी के अनुसार परिस्थितिकी क्या है? प्राकृतिक अवस्थओं से यह किसी प्रकार तालमेल रखता है?
9. प्रादेशिकता या प्रादेशिक समाजशास्त्र पर राधाकमल मुकर्जी के विचारों की व्याख्या कीजिए।
10. टिप्पणी लिखिए–

    अ–प्रादेशिक समाजशास्त्र का अध्ययन विषय।

    ब–मूल्य की उत्पत्ति

    स–मूल्य व गैर मूल्य में अन्तर

    द–परिस्थितिगत अवस्थाएँ व आदिमकालीन समाज

इकाई–2

जी0 एस0 घुर्ये (G.S.Ghurye)

इकाई की रूपरेखा

2.0: उद्देश्य

2.1: प्रस्तावना

2.1.1:जीवनवृत्त

2.1.2: जी0 एस0 घुर्ये की समाजशास्त्र की परिभाषा

2.1.3: घुर्ये की कृत्तियां

2.2: घुर्ये का भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

2.3: घुर्ये के जाति प्रथा पर विचार

2.3.1: समाज का खण्डात्मक विभाजन

2.3.2: संस्तरण

2.3.3: पेशे के अप्रतिबन्धित चुनाव का अभाव

2.3.4: नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएं एवं विशेषाधिकार

2.3.5: भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध

2.3.6: विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध

2.4: भारत में जनजातियों का अध्ययन

2.5: भारतीय परम्परा में साधु की भूमिका

2.6: भारतीय इतिहास में प्रजाति का सिद्धान्त

2.7: घुर्ये– एक राष्ट्रवादी

2.8: घुर्ये की आलोचना

2.8.1: हिन्दू संस्कृति का आधुनिकता पर प्रभाव

2.8.2: घुर्ये और हिन्दुत्ववादी

2.8.3: भारतीय इतिहास हिन्दूकरण की प्रक्रिया है

2.9: सारांश

2.10: अभ्यासार्थ प्रश्न

2.11: सन्दर्भ ग्रंथ

2.0: उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य है–

- जी0एस0 घुर्ये का जीवनवृत एवं कृतियों के बारे में जान सकेंगे।
- घुर्ये का भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के बारे में समझ सकेंगे।
- घुर्ये के जाति प्रथा पर विचारों को समझ सकेंगे।
- घुर्ये एक राष्ट्रवादी समाजशास्त्री थे यह समझ सकेंगे।

- घुर्ये के द्वारा दिये गये भारतीय इतिहास में प्रजाति के सिद्धान्त को समझ सकेंगे।

2.1: प्रस्तावना

गोविन्द सदाशिव घुर्ये भारत के उन कतिपय गणमान्य प्रतिष्ठित अग्रणी समाजशास्त्रीयों में से है जिन्हें भारत में समाजशास्त्र विषय को प्रणीत करने का श्रेय दिया जाता है। पैट्रिक गैड्स के बाद बम्बई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग का कार्यभार संभालने वाले घुर्ये प्रथम भारतीय विद्वान थे। यही कारण है कि कुछ लोगों ने इस विषय के संस्थापक के रुप में घुर्ये को 'भारत के समाजशास्त्र के पिता' की उपाधि से भी विभूषित किया है। जाति और जनजाति, तथा भारतीय सामाजिक व्यवस्था के मुख्य निर्णायक आधारों पर इनका अध्ययन भारतीय समाजशास्त्र की निधि है, जो कल के साथ–साथ आज भी प्रासंगिक है। इन्होंने भारतशास्त्रीय उपागम **(Indology Approach)** का विकास किया। घुर्ये ने अनेक विविध विषयों पर ढेर सारी पुस्तकें तथा कई लेख और छोटी–मोटी पुस्तिकें लिखी है। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि घुर्ये का लेखन विश्वकोशीय प्रकृति के थे। तितली की भांति पराग एकत्रित करते हुए पूरे जोश, रुचि और विद्वता के साथ पूरे जीवन एक विषय से दूसरे विषय के अन्वेषण में जुटे रहे। शेक्सपीयर से लेकर साधुओं पर, कला, नृत्य, वेशभूषा तथा वास्तुशास्त्र से लेकर लोक देवी–देवताओं पर, सेक्स तथा विवाह से लेकर प्रजाति जैसे अनेक विषयों पर लिखा है। घुर्ये ने सांस्कृतिक तथा संस्थात्मक पक्षों जैसे जाति परिवार, विवाह, धर्म आदि विषयों के उदय एवं विकास के साथ–साथ सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया में नगरों की भूमिका जैसे विषयों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। घुर्ये ने भारतीय समाज और संस्कृति के उद्भव का ही नहीं, अपितु भारतीय समाज की वर्तमान समय की समस्याओं तथा सामाजिक तनावों का भी सारगर्भित एवं प्रमाणों सहित अध्ययन किया है। उनकी संस्कृत भाषा पर विशेष पकड़ होने के कारण उन्होंने संस्कृत में लिखे ग्रंथ–सामग्री का अपने विश्लेषण में प्रचुर प्रयोग किया है, किन्तु साथ ही साथ तथाकथित आधनिक पश्चिमी आनुभविक विधियों का भी जहां तहां प्रयोग करने में नहीं चुके है। इस सम्बन्ध में उनका 'बम्बई के मध्यम वर्ग के व्यक्तियों (एक प्रतिदर्श) की कामवृति सम्बन्धी आदतों' (1938) का अध्ययन उल्लेखनीय है। घुर्ये के अध्ययनों में अधिकांशतः 'क्यों' और 'क्या होगा' के दो प्रश्नों की विवेचना की कई है। उनके अध्ययनों में स्पष्टतः भूत, वर्तमान और भविष्य के मध्य एक तारतम्य नजर आता है जैसा कि उनके एक ग्रंथ 'तथाकथित आदिवासी लोग और उनका भविष्य' से प्रकट होता है। घुर्ये के अध्ययनों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने अपने समय में समाजशास्त्र में प्रचलित तीनों मुख्य परम्पराओं यथा मानवशास्त्रीय (सहभागिक अवलोकन), समाजशास्त्रीय (सांख्यिकीय और सर्वेक्षणपरक) और भारतविद्याशास्त्रीय (पौराणिक ग्रंथिक) के प्रयोग करने का प्रयास किया है।

2.1.1 जीवनवृत्त

प्रो0 जी0 एस0 घुर्ये के समस्त जीवन को जानने के लिए 1973 ई0 में स्वयं घुर्ये द्वारा लिखित पुस्तक 'आई एण्ड अदर इक्सप्लोरेशन्स' को आधार बनाया गया है। गोविन्द सदाशिव घुर्ये का जन्म 12 दिसम्बर 1893 को भारत के पश्चिमी तट पर स्थित मालवा क्षेत्र जो कि महाराष्ट्र राज्य में स्थित है में हुआ था। इनका प्रारम्भिक शैक्षणिक जीवन उच्चकोटि का रहा है। जाति से वे सारस्वत ब्राह्मण थे। उनके परिवार में संस्कृत तथा संस्कृत ग्रन्थों का पठन–पाठन बहुत अधिक था। घुर्ये ने अपनी प्राथमिक शिक्षा मालवन में पाई थी।

इसके बाद वे जूनागढ़ गये। उनकी उच्च शिक्षा मुम्बई के एलकिस्टन कॉलेज में हुई। इन्होंने अपनी सभी परीक्षाएं प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण की।

घुर्ये का विवाह मालवन गांव के पड़ोसी गांव की सजूबाई के साथ 1916 में हुआ। और तब उनके समाजशास्त्रीय जीवन में एक बड़ा परिवर्तन आया। उन्होंने एम0 ए0 की डिग्री संस्कृत भाषा में की थी, समाजशास्त्र या मानवशास्त्र में नहीं। यह संयोगवश था कि उन्होंने पेट्रिक गैड्स के कुछ व्याख्यानों को बम्बई विश्वविद्यालय में सुना था। इससे घुर्ये बहुत प्रभावित हुए और संस्कृत के इस विद्यार्थी की रुचि समाजशास्त्र में जाग्रत हुई। गिड्स ने ब्रिटिश विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र में प्रशिक्षण पाने के लिए घुर्ये का चयन किया। उनकी सिफारिश पर बम्बई विश्वविद्यालय ने इन्हें लन्दन भेजा। कुछ समय तक प्रो. एल. टी. हाबहाउस के साथ अध्ययन के बाद डा. रिवर्स के मार्गदर्शन में **'Ethnic Theory of Caste'** विषय पर शोध किया।

सन् 1923 में घुरिये कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि ग्रहण कर भारत लौट आये। सन् 1924 में इन्हें बम्बई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग के रीडर एवं अध्यक्ष पर नियुक्ति प्रदान की गयी। इनकी पहली कृति कास्ट एण्ड रेस **(Caste and Race)** सन् 1932 में प्रकाशित हुई। इसका प्रकाशन लंदन से हुआ था। इस पुस्तक की दो विशेषताएं है– पहली तो यह कि इसमें घुर्ये ने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति प्रजाति से बताई है और दूसरी यह कि इसने समाजशास्त्र को संसार के मानचित्र पर पहली बार स्थापित किया। यह भारत का योगदान था। इसका श्रेय घुर्ये को जाता है।

प्रो0 घुर्ये के लेखन में इतिहास, मानवशास्त्र और समाजशास्त्रीय परम्पराएँ विद्यमान है। उन्होंने न केवल स्वयं, बल्कि अपने छात्रों को भी अनुभवाश्रित अध्ययन एवं अनुसंधान करने के लिए प्रेरित किया। प्रो0 घुर्ये ने 25 से अधिक पुस्तके लिखी हैं। प्रो0 घुर्ये ने इण्डियन सोशियोलॉजिकल सोसाइटी **(Indian Sociological Society)** की स्थापना की और इसके तत्वाधान में 1952 में ''सोशियोलॉजिकल बुलेटिन''**(Sociological Bulletin)** नामक पत्रिका का प्रकाशन भी आरम्भ किया। प्रो0 घुर्ये के **Anthropological society of Bombay** के 1945–50 तक अध्यक्ष रहे। इन्होंने जातियों, जनजातियों, ग्रामीण शहरीकरण, भारतीय साधुओं, और भारतीय वेशभूषा के बारे में व्यापक अध्ययन किया।

घुर्ये एक बहुमुखी समाजशास्त्री के साथ साथ प्रकाण्ड विद्वान भी थे। इन्होंने समाजशास्त्र की विषय सामग्री को नये आयाम दिये। उन पर तत्कालीन समाज के विद्वानों का पर्याप्त प्रभाव था। इन विद्वानों में पेट्रिक गैड्स, हाबहाउस, रिवर्स, हडन आदि मुख्य है। एक ता उन्होंने उपने लन्दन प्रवास के दौरान समाजशास्त्र और मानवशास्त्र को निकटता से देखा और दूसरा उन्होंने अपनी संस्कृत भाषा की पंडिताई का लाभ समाज विज्ञानों को समझने में लगाया।

2.1.2 जी0 एस0 घुर्ये की समाजशास्त्र की परिभाषा

घुर्ये ने भारत के समाजशास्त्र को एक नई दिशा दी थी। इसी कारण उन्हें समाजशास्त्रीय विचारक कहते है। वास्तव में 18वीं और 19वीं शताब्दी में यूरोप और विशेषकर ब्रिटेन में प्राच्यविद्या की एक एसी लहर पैदा हो गई थी जिसका केन्द्र सभ्यता का अध्ययन था। यूनान और मिस्र की सभ्यताओं से परिचित होने के बाद अब लोगों की रुचि भारतीय सभ्यता को समझने के लिये जागी। घुर्ये वस्तुतः संस्कृत भाषा के पंडित थे। इसका प्रयोग उन्होंने यहां की सभ्यता के विश्लेषण में किया। उनका समाजशास्त्र उनके उपनिवेशकाल के

ज्ञान का परिणाम है। घुर्ये की विचारधारा को उनकी कृतियों और तत्कालीन बौद्धिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिये। उनकी विचारधारा की बनावट को हम निम्न बिन्दुओं में देखेंगे।

i- ब्रिटिश अनुकूलन (British Orientation)

लन्दन में एक बहुत बड़ा प्रयास 19 वीं और 20वीं शताब्दी में हो रहा था। वहां के विद्वान भारतीय सभ्यता की खोज में लगे थे। इस तरह की रुचि उपनिवेशवादी अंग्रेजों को भी रास आ रही थी, मैक्स मूलर जैसे विद्वानों ने संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा भारतीय सभ्यता के पुनर्निर्माण की समस्या को उठाना। सभ्यता की खोज से जुड़े इन विद्वानों ने यह स्थापित किया कि भारत की सभ्यता बहुत जटिल थे। इस तरह की सभ्यता की जानकारी इन लेखकों को संस्कृत भाषा से ज्ञात हुई।

घुर्ये पर ब्रिटिश मानवशास्त्रियों और इतिहासकारों का बहुत बड़ा प्रभाव था। इन विद्वानों ने यह स्थापित किया कि किसी भी सभ्यता को समझने के लिये संस्कृति और भाषा के सम्बन्धों को देखना चाहिये। कुछ विचारकों का मत था कि यूनान की सभ्यता भारत में आ गयी और यहां के लोगों ने इसे हाथों–हाथ अपना लिया। कुछ अन्य विचारकों का कहना था कि मिस्र की भाषा संस्कृत थी और किसी भी बदलाव के बिना यह भारतीय सभ्यता की भाषा बन गई। ब्रिटेन में यह विचारधारा मजबूत हो गई कि संस्कृत भाषा ज्ञान और संस्कृति की भण्डार थी। यह समझा जाने लगा कि सार्वभौमिक मानवजाति विवरण के लिये संस्कृत भाषा एक कुंजी है।

सभ्यता और संस्कृत के इस संबंध ने जोर पकड़ा। प्राचीन भारतीय सभ्यता की पहचान अब हिन्दू सभ्यता के साथ होने लगी और हिन्दू सभ्यता का आधार संस्कृत भाषा बन गई। इस तरह ब्राह्मण प्रधान हिन्दूवाद भारतीय समाज की पहचान बन गई। इधर मुसलमानों को विदेशी विजेता और निरंकुश शासकों के रुप में देखा जाने लगा। यह समझा जाने लगा कि हिन्दू समाज में जो भी बुराइयां है, इसका कारण मुसलमान है। उपनिवेशकाल में भारत के लिये जो शान और गौरव की बात थी वह वस्तुतः हिन्दुओं के लिये थी।

ब्रिटिश काल में भारतीय इतिहास की व्याख्या नये सिरे से हुई। अब सभ्यता को केन्द्रीय मुद्दा बनाकर यह स्थापित किया गया कि दुनिया भर की जो सभ्यताएं है– दजला, फरात, मिस्र और सिन्धुघाटी– ये सब एक–दूसरे स जुड़ी हुई है। इसी संदर्भ में यह स्थापित किया गया कि भारतीय सभ्यता वस्तुतः हिन्दू सभ्यता है। इस सभ्यता को इसके मूल रुप में वेदों में देखा जा सकता है। वेद संस्कृत ग्रन्थ है और इसलिये भारतीय सभ्यता को संस्कृत ग्रन्थों में ही देखा जा सकता है।

वैदिक संस्कृति के महत्व को मैक्स मूलर ने स्थापित किया। वे ही इसके प्रणेता थे। उन्होंने कहा कि भारतीय समाज को समझने के लिये हिन्दू कानून को समझना बहुत आवश्यक है। हाल में बर्नार्ड कोहन ने भारतीय समाज की व्याख्या करते हुए कहा है कि हिन्दु का जीवन निश्चित नियमों के अनुसार चलता है। कोहन की तरह रोचर रोसेन ने भी यही निष्कर्ष निकाला है कि प्राच्य विद्या विद्वानों के अनसुार भारतीय समाज को समझने का सही तरीका संस्कृत भाषा ही है।

18 वीं और 19 वीं शताब्दियों में भारत में जो भी महत्वपर्णू सामग्री आई, उसमेंसंस्कृत, भाषा की भूमिका महत्वपर्णू रही है इस निष्कर्ष को घुर्ये ने अपने लेखन का आधार बनाया। हाल में थोमस ट्रॉटमेन ने प्राच्य विज्ञान विद्या की कतिपय मान्यताओं को नकारा है। उनका कहना है कि ये विद्वान भारतीय सभ्यता की

गरिमा से इतने अभिभूत थे कि उन्होंने सच्चाई को देखा नहीं और वे इस सभ्यता पर पगला गये। 19 वीं शताब्दी के विचारकों ने कहा कि प्राच्य विद्या के विद्वान अतीत को देखते थे, और भविष्य के बारे में वे मौन थे। यह कहा गया कि ब्रिटिश हुकूमत भारत को आधुनिकता की ओर ले जाना चाहती थी जबकि संस्कृत भाषा के आधार पर किया गया भारतीय समाज का विश्लेषण हर प्रकार से दकियानूसी था। अंग्रेजों के आने के बाद भारत की विचित्र स्थिति थी। एक तरफ ता यह कहा जाता था कि भारतीय समाज विश्व सभ्यताओं की कड़ी में एक महत्वपूर्ण कड़ी है। इस कड़ी का आधार सांस्कृतिक एकता थी और संस्कृत भाषा इसका मूल था। दूसरी ओर भारत में आधुनिकीकरध की किसी भी पहल को पुरातन भारतीय सभ्यता में हस्तक्षेप समझा जाता था।

घर्ये की वैचारिकी को इसी सन्दर्भ में देखा जाना चाहिये। जहां आधुनिकता या कहिये प्रगति की बात कही जाती थी, वहां घुर्ये संस्कृत भाषा के आधार पर अतीत में लौटने की सम्भावना को देख रहे थे।

ii- भारतीय सभ्यता का राष्ट्रवादी निर्वचन (National Interpretation of Indian Civilization)

भारतीय सभ्यता पर 20वीं शताब्दी मे एक नई विचारधारा आई। इसमें कहा गया कि यह सभ्यता सम्पूर्ण संसार में श्रेष्ठ थी। आर्य इस सभ्यता के मूल थे। यह कहा गया कि पश्चिमी सभ्यता में जो कुछ है वह सब भारत से उधार लिया गया है। सन् 1830 के दशक में रोमिला थापर ने कहा कि वेदों को सम्पूर्ण ज्ञान का भंडार कहा जाने लगा। विख्यात समाज सुधारक जैसे कि राम मोहन राय ने अपने ग्रंथों में बराबर यह कहा कि भारतीय संस्कृत ग्रन्थ हमारी संस्कृति की धरोहर हैं। इनसे हमें बहुत कुछ सीखना है। ये ऐस सुधारक थे जिन्होंने गीता और रामायण को लोकप्रिय बनाया। 1930 के दशक में भारत में जो विचारधारा बनी, वह सांस्कृतिक राष्ट्रीयता (Cultural Nationalism) की थी। यह राष्ट्रीयता वेदों पर आधारित थी। इस युग में कहा गया कि भारत की संस्कृति वैदिक संस्कृति है; भारतीय दर्शन वेदान्त है; और भारतीय धर्म हिन्दू धर्म है। इस तरह की विचारधारा के आधार पर सावरकर ने कहा कि भारतीय समाज मूल रुप हिन्दू समाज है। जब भारतीय समाज को हिन्दू कहा जाने लगा तब एक और विचारधारा भी सामने आई। भारत में मुस्लमान स्थायी रुप से बस गये थे।उनके बारे में इन राष्ट्रीय संस्कृति के प्रणेताओं का कहना था। 19 वीं शताब्दी के इन राष्ट्रवादी बौद्धिकों ने कहा कि मुसलमानों काभारत पर आक्रमण और यहां पर उनका निवास और कुछ न होकर ब्राह्मणों की परम्पराओं कोतोड़ना था। इन लेखकों ने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि मुसलमानों की संस्कृति पूर्णतया हिन्दू संस्कृति से भिन्न थी। वे एक एकात्मकवादी धर्म को मानने वाले और साम्प्रदायिक तथा एकात्मकवादी थे। मुसलमानों के बारे में उनका राष्ट्रवादी विचार यह बन गया था कि वे अतीत में आक्रमणकारी और समकालीन समाज में पृथकवादी थे। इस विचारधारा ने यह भी स्थापित करने का प्रयास किया कि मुसलमानों ने मध्यकाल में हिन्दुओं पर बड़े अत्याचार किये थे। आज भी हिन्दु संकट के दौर से गुजर रहे हैं और उनकी संकट के दौर से गुजर रहे है और उनकी संख्या घट रही है। कुल मिलाकर 19 वीं और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक देश में निम्न विचारधारा बढ़ी प्रभावोत्पादक रही–

(1) भारत में आर्यो के आने के बाद इतिहास ने बड़ी महत्वपूर्ण करवट ली। आर्य और दासों के बीच में संघर्ष प्रारम्भ हो गया।

(2) हिन्दू और मुसलमानों में भाषा, धर्म और प्रजाति को लेकर मतभेद उभर आए।

(3) आर्य प्रजाति और हिन्दू जाति को पर्यायवाची समझा जाने जगा। हिन्दू जातियों में ब्राह्मणों और उच्च जातियों को एक ही श्रेणी में रखा जाने लगा।

रुचिकर बात यह है कि घुर्ये ने जो कुछ लिखा है, उसका मूल आधार संस्कृत ग्रन्थ रहे है। वे वेदों के हिमायती थे। उन्होंने जाति व्यवस्था में ब्राह्मणों को सबसे ऊँचा स्थान दिया है। यह सब लिखने के बाद उन्होंने प्रचलित इतिहास के वरण का भी विरोध नहीं किया। वे परम्परावादी विचारक ही रहे हैं।

iii- विसरण (Diffusion)

घुर्ये की विचारधारा का कोई भी विश्लेषण हो, उसमें तत्कालीन विचारों का समावेश होना अनिवार्य है। पिछले पृष्ठों में हमने राष्ट्रवादी संस्कृति की व्याख्या की है। घुर्ये ने अपने बौद्धिक जीवन में इसके प्रभाव को देखा है। वे विचारों से राष्ट्रीय संस्कृति यानी संस्कृत एक और विचारधारा लंदन से उभर कर आई। घुर्ये क लेखन पर लंदन और वहां के विद्वानों का काफी गहरा प्रभाव था। यही नई विचारधारा विसरण की थी।

विसरणवादियों में पेरी (W.J. Perry), इलियट स्मिथ (G. Elliot Smith), होकार्ट (A.M. Hocart) और रिवर्स (W.H.R. Rivers) उल्लेखनीय मानवशास्त्री रहे है। इन विद्वानों ने स्थापित किया कि सभ्यता का उदय केवल एक बार होता है। यह उदय मिस्र में हुआ और तब इसका फैलाव स्थानान्तरण द्वारा दूसरे देशों में हुआ। स्थानान्तरण करने वाले ये प्रवासी स्थानीय लोगों को सभ्य बनाते हैं और इस भांति उन्हें अपने अधीनस्थ कर देते है। इसका मतलब यह हुआ कि उच्च प्रजातियों निम्न प्रजातियों पर अपना प्रभुत्व रखती है।

घुर्ये की विचारधारा पर विसरणवादियों का बहुत बड़ा प्रभाव था। वे रिवर्स से अत्यधिक प्रभावित थे। जब उनका प्रवास लंदन (कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय) में था। वे रिवर्स के तिकट सम्पर्क में थे और जब 1922 में रिवर्स का देहान्त हुआ, तब घुर्ये इससे अत्यन्त दुखी हुए। उनका कहना था कि उनके जीवन की यह बढ़ी दुखद घटना थी।

एक ओर घुर्ये रिवर्स के प्रसारणवाद से प्रभावित थे वहीं दूसरी ओर उनके संस्कृत भाषा के ज्ञान और प्राच्य विद्या की पकड़ ने उनकी वैचारिकी को मजबूत बनाया। बाद में चलकर, अपने जीवन के अंतिम वर्षों में जब रिवर्स ने तुलनात्मक मनोविज्ञान और बन्धुत्व को अपना विशेष अध्ययन क्षेत्र बनाया, तब इसका प्रभाव घुर्ये पर भी पड़ा। उन्होंने कहा कि समाजशास्त्र को भारतीय समाज का अध्ययन धार्मिक संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर करना चाहिये।

जब घुर्ये की कृतियों में हम उनकी विचारधारा और सिद्धान्तों को देखते है तब हमें यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि वे यूरोप में जो बौद्धिक वातावरण, पुनर्जागरण के बाद पैदा हुआ था, उससे प्रभावित थे। वे भारतीय सभ्यता को जहां व्यापक संदर्भ में देखना चाहते थे, वहीं उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों को अपना विश्वसनीय संदर्भ समझा।

iv- घुर्ये का भारतीय सभ्यता का समाजशास्त्र (Ghurye's Sociology of Indian Civilization)

घुर्ये ने जो कुछ लिखा है, उनका केन्द्र भारतीय सभ्यता है। इस सभ्यता ने ही भारतीय समाज का गठन किया हैं इस सभ्यता को उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों के माध्यम से समझा है। उनका कहना है कि भारतीय सभ्यता की जो संस्कृति है वह बाहरी प्रक्रियाओं से भी प्रभावित होती रही है। मृत्यु से जुड़े हुए कर्मकाण्ड़ो का विवरण देते हुए वे कहते हैं कि कर्मकाण्ड शायद मिस्र की सभ्यता से आये है। श्रीनिवास ने एक स्थान पर कहा है कि 1040 के दशक तक घुर्ये विसरणवाद के प्रभाव में थे। इस विसरणवाद को स्पष्ट रुप से उनकी पुस्तक फेमिली एण्ड किन इन इंडो–यूरोपियन कल्चर **(Family and Kin in Indo&European Culture,1955)** में देखा जा सकता है। यहां वे परिवार को बन्धुत्व की शब्दावली में देखने का प्रयास करते है। परिवार में सदस्यों के व्यवहार के तथ्यों को वे इंडो–आर्यन, यूनान लेटिन संस्कृतियों से लेते है।

घुर्ये की रुचि सभ्यता के इतिहास में कई जगह देखने को मिलती है। अपनी पहली पुस्तक कल्चर एण्ड सोसाइटी **(Culture and Society, 1947)** में वे ब्रिटेन का सन्दर्भ देते हुए कहते है कि 1800–1930 की अवधि में इस देश ने राष्ट्र–राज्य के निर्माण के लिये कई प्रयास किये। यहां वे संस्कृति और सभ्यता के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहते है कि ये दोनों एक ही प्रघटना के अंग है। उन्हें पृथक नहीं समझा जाना चाहिए। उनके शब्दों में, ''संस्कृति सभ्यता है और व्यक्ति इसे अपने मस्तिष्क और व्यवहार में ढाल लेता है।'' परम्परा से मानवशास्त्री संस्कृति को निरपेक्ष मानते है–संस्कृति न बड़ी होती है न छोटी। यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय संस्कृति अमेरिका की संस्कृति से बड़ी है। संस्कृति तो संस्कृति है प्रत्येक समूह अपनी संस्कृति का बड़ा समझता है।

घुर्ये मानवशास्त्र की परम्परा से हटकर संस्कृति को छोटे और बड़े अर्थ में लेते है। ऐसा ही कुछ अर्नोल्ड टोयन्बी **(Arnold Toynbee)** ने इतिहास लेखन में किया था। घुर्ये ने अपनी पुस्तक आक्सीडेन्टल सिविलाइजशन **(Occidental Civilization)** में भी सभ्यता को परिभाषित किया है। वे कहते है कि सभ्यता एक सामूहिक प्रयास है। इस आधार पर वे पाश्चात्य सभ्यता का विश्लेषण 1300 से 1925 के काल का करते है। उनकी यह पुस्तक **Occidental Civilization 1948** में प्रकाशित हुई थी।

पाश्चात्य सभ्यता का विवरण करने के बाद घुर्ये टोयन्बी की आलोचना करते है। वे सभ्यता और राजधानी के शहरों की तुलना करके बताते है कि किस भांति से बाहर अपने अवसान को प्राप्त हुए। यह तुलना उन्होंने चीन, मिस्र और भारत के शहरों की है।

2.1.3 घुर्ये की कृतियां

इनकी प्रमुख कृतियां इस भांति है–

1. कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया 1932 (Caste and Race in India)
2. सेक्स हेबिट्स ऑफ मिडिल क्लास पिपल 1938 (Sex Habits of Middle Class People)
3. दि एबओरिजनल्स सो–काल्ड एण्ड दियर पयूचर 1943 (The Aborigines-'So calles' and Their Future)
4. कल्चर एण्ड सोसाइटी 1945 (Culture and Society)
5. आफ्टर ए सेन्चुरी एण्ड ए क्वार्टर 1980 (After a Century and a Quarter)
6. कास्ट, क्लास एण्ड ओक्यूपेशन 1961 (Caste, Class and Occupation)
7. फेमिली एण्ड किन इन इण्डो–यूरोपियन कल्चर 1982 (Family and Kin in Indo-European)
8. सिटीज एण्ड सिविलाइजेशन 1982 (Cities and Civilization)
9. दि शिड्यूल्ड ट्राइब्ज 1903 (The Scheduled Tribes)
10. दि महादेव कोलिज 1963 (The Mahadev Kolis)
11. एनोटोमी ऑफ ए रुरुर्बन कम्युनिटी 1963 (Anatomy of A Rururban Community)
12. दि इण्यिन साधुज 1984 (The Indian Sadhus)
13. रेस रिलेशन्स इन नीग्रो अफ्रीका (Race Relations in Negro Africa)
14. सेक्सुअल बिहेवियर ऑफ दि अमेरिकन फिमेल (Sexual Behaviour of the American Female)
15. एन्थ्रोपोलोजिकल– सोश्योलोजिकल पेपर्स (Anthropo-Sociological Papers)
16. सोशियल टेन्शंस इन इण्डिया 1968 (Social Tentions in India)
17. आई एण्ड अदर एक्सप्लोरेशन्स 1973 (I and Other Explorations)

18. विदर इंडिया 1974 (Whither India)
19. इंडिया रिक्रियेट्स डेमोक्रेसी 1978 (India Recreates Democracy)
20. वेदिक इण्डिया 1978 (Vedic India)
21. दि बर्निंग केल्ड्रन ऑफ दि नोर्थ–ईस्ट इण्डिया 1980 (The Burning Caldron of the North-East)

2.2: घुर्ये का भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

घुर्ये ने अनेक विषयों पर लिखा है, और उन्होंने जो अध्ययन पद्वति अपनाई है, वह ऐतिहासिक एवं भारतशास्त्रीय (Indology) पद्वति है। घुर्ये ने अपने सभी अध्ययनों में तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन पद्वति का उपयोग किया है। तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन पद्वति में घुर्ये ने उन सभी समाजशास्त्रियों को जो उनके विद्यार्थी रहे हैं, या वे लोग जो उनके सिद्धान्त से प्रभावित थे, सम्मिलित किया जा सकता है। यह पद्वति घुर्ये एवं उनके शिष्य समाजशास्त्रियों के विशाल एवं समृद्व योगदान पर आधारित है। इस पद्धति में भारतीय इतिहास तथा महाकाव्य जैसे परम्परागत स्वरुपों को आधार माना है। इसलिए घुर्ये की इस अध्ययन पद्धति को भारत विद्याशास्त्र या वाड्.मय परिप्रेक्ष्य के नाम से जाना जाता है।

घुर्ये ने अपने समाजशास्त्रीय विश्लेषण में अनेक विषयों की विवेचना की है एवं भारतीय समाज का गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने जाति व्यवस्था, नातेदारी प्रथा, सौन्दर्यशास्त्र, वेशभूषा का गति विज्ञान, भारतीय नगर, ग्रामीण समाज में होने वाले परिवर्तन, भारतीय आदिवासी एवं प्रजाति, भारतीय साधुओं तथा सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया।

भारतीय संस्कृति और समाज के विभिन्न पक्षों के अन्वेषण में उन्होंने भारत विद्याशास्त्र के स्रोतों का प्रयोग किया। उनका भारतीय साधुओं, धार्मिक चेतना तथा दो ब्राह्मणवादी संस्थाओं के रुप में गोत्र एवं चरण नामक अध्ययनों में भारत के पौराणिक एवं कई धार्मिक ग्रन्थों का प्रयोग किया गया है। घुर्ये न भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य द्वारा भारतीय साधुओं के उत्थान, इतिहास, कार्य और वर्तमान में हिन्दू साधुओं के संगठनों का उल्लेख किया है।

घुर्ये का भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के प्रति काफी मोह था, किन्तु उन्होंने सामाजिक–सांस्कृतिक मानवशास्त्र में प्रचलित क्षेत्र कार्य परम्परा के प्रति भी काफी विमोह प्रकट नहीं किया। उन्होंने अपने कई अध्ययनों में अत्याधुनिक सर्वेक्षण विधि और सांख्यिकी तकनीकि ('दि महादेव कोलिज' 1963 तथा सेक्स हेबिट्स ऑफ मिडिल क्लास पिपल 1938) के अध्ययन में क्षेत्र–कार्य विधि का प्रयोग कर भारतीय समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र मे अनुभववादी परम्परा की जड़ों को मजबूत किया।

2.3: घुर्ये के जाति प्रथा पर विचार

घुर्ये की रुचि प्रारम्भ से ही जाति और प्रजाति से सम्बंधित विषयों में रही है। उनका पी. एच. डी. का विषय भी 'जाति का नृजातिक सिद्धान्त' था जिसके आधार पर सन् 1932 में प्रथम पुस्तक 'भारत में जाति और प्रजाति' प्रकाशित हुई। बाद में यही पुस्तक कुछ हेर–फेर, संशोधन के साथ समय–समय पर अलग–अलग नामों से ('भारत में जाति और वर्ग' 1950 तथा जाति, वर्ग और व्यवसाय, 1961) कई संस्करणों में प्रकाशित

हुई। अपने विषय की आज भी यह एक प्रमाणिक पुस्तक मानी जाति है। इस पुस्तक में, घुर्ये ने जाति के उद्भव से लेकर इसके भविष्य का विश्लेषण किया है। उन्होंने जाति को एक जटिल घटना बताते हुए इसकी निश्चत शब्दों में बंधी हुई कोई सामान्य परिभाषा नहीं दी है, किन्तु इसकी छः विशेषताओं का अवश्य विश्लेषण किया है। ये विशेषताएं हैं– समाज का खण्डात्मक विभाजन, संस्तरण, पेशे के अप्रतिबन्धित चुनाव का अभाव, नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएं एवं विशेषाधिकार, भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध तथा विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध। जाति प्रथा की विशेषताओं का उल्लेख नीचे दिया गया है–

2.3.1: समाज का खण्डात्मक विभाजन (Segmental Division of Society)–

जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज को विभिन्न खण्डों में विभाजित कर दिया है और प्रत्येक खण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद तथा कार्य सुनिश्चित है। खण्ड विभाजन से तात्पर्य– एक जाति के सदस्यों की सामुदायिक भावना सम्पूर्ण समुदाय के प्रति न होकर अपनी ही जाति तक सीमित होती है। व्यक्ति की निष्ठा एवं श्रद्धा समुदाय के बजाय अपनी जाति के प्रति होती है। प्रत्येक जाति की एक जाति पंचायत होती है।

2.3.2: संस्तरण (Hierarchy)–

समाज में सभी जातियों की स्थिति समान नहीं है, बल्कि उनमें ऊँच नीच का एक संस्तरण या उताव–चढ़ाव पाया जाता है। ऊँच नीच की इस व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान ऊँचा है और शूद्रों का स्थान सबसे नीचा। क्षत्रिय और वैश्य इनके मध्य में है। जन्म पर आधारित होने के कारण इस संस्तरण में स्थिरता एवं दृढ़ता पायी जाती है।

2.3.3: पेशे के अप्रतिबन्धित चुनाव का अभाव (Lack of unrestricted choice of occupation)–

प्रायः प्रत्येक जाति का एक परम्परागत व्यवसाय होता है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होता रहता है। कई जातियों के नाम से ही उनके व्यवसाय का बोध होता है। प्रत्येक जाति यह चाहती है कि उसके सदस्य निर्धारित जातिगत व्यवसाय ही करें। मुगल काल से जाति के प्रतिबन्ध ढीले होने लगे। वेन्स का मत है कि ''जाति का पेशा परम्परागत होता है। परन्तु यह किसी अर्थ में आवश्यक नहीं कि उसी पेशे के द्वारा सभी जातियां जीवन निर्वाह कर रही है।'

2.3.4: नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएं एवं विशेषाधिकार (Civil and Religion Disabilities and Privilege)

जाति व्यवस्था में उच्च जातियों को कई सामाजिक एवं धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त है, जबकि निम्न एवं अछूत जातियों को उनसे वंचित किया गया है। विशेषकर दक्षिणी भारत में अछूत जातियों पर अनेक अयोगयताएं लाद दी गयी।

2.3.5: भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध (Restriction on Fooding and Social Intercource)–

जाति व्यवस्था में जातियों के परस्पर भोजन एवं व्यवहार से सम्बन्धित अनेक निषेध पाये जाते है जैसे किसके हाथ का बना कच्चा भोजन करना है, किसके हाथ का बना पक्का भोजन करना है। सामान्यतया ऊँची जातियों के द्वारा बनाया गया भोजन निम्न जातियां स्वीकार कर लेती हैं। किन्तु निम्न जातियों के लोगों द्वारा बनाया गया कच्चा व कभी–कभी पक्का भोजन भी उच्च जातियां स्वीकार नहीं करती है।

2.3.6: विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध (Restriction of Marriage)–

जाति की एक प्रमुख विशेषता है कि प्रत्येक जाति अपनी जाति या उपजाति में विवाह करती है। वेस्टरमार्क ने तो जाति अन्तर्विवाह को जाति का सार माना है। यद्यपि कुछ पर्वतीय जातियों एवं दक्षिण के नम्बूदरी ब्राह्मणों में अपने से निम्न जातियों की लड़कियों से विवाह करने की प्रथा पायी जाती हैं।

प्रो0 घुर्ये ने जाति समूहों की प्रकृति का उल्लेख किया है। वैदिक युग से लेकर ब्रिटिश काल तक जाति प्रथा में होने वाले परिवर्तनों का घुर्ये ने प्रमाणों के साथ उल्लेख किया है।

2.4: भारत में जनजातियों का अध्ययन

जी0 एस0 घुर्ये ने अपने अध्ययन में जनजातियों पर व्यापक शोधकार्य किया है। इसके साथ इन्होंने जनजातियों के विशिष्ट मुद्दों पर भी अध्ययन किया है। उन्होंने अनुसूचित जनजातियों पर अपनी एक पुस्तक में भारत की नजातियों के ऐतिहासिक, प्रशासनिक और सामाजिक आयामों का वर्णन किया।प्रो0 घुर्ये ने महाराष्ट्र के कोलियों का अध्ययन किया। घुर्ये के विचार से भारतीय जनजातियों की स्थिति पिछड़े हुए हिन्दुओं जैसी थी। इनके पिछड़ेपन का कारण था इनका हिन्दू समाज से पूरा एकीकृत न हो पाना। दक्षिण मध्य भारत में रहने वाले संथाल, भील और गोंड आदि जनजातियों के कुछ भाग हिन्दू समाज से पूर्णतया एकीकृत हो गये हैं। परिस्थतियों के मद्देनजर इनके बारे में यह कहा जा सकता है कि ये लोग हिन्दू समाज में पूर्ण रुप से वर्ग नहीं है।

जनजातीय जीवन में हिन्दू धर्म के मूल्यों और प्रतिमानों को सम्मिलित करना एक सही कदम था। हिन्दूओं के सामाजिक वर्गो के साथ बढ़ते सम्पर्क के कारण जनजातियों ने धीरे–धीरे हिन्दुओं के कुछ मूल्यों और जीवन पद्धति को अपना लिया। फलस्वरुप जनजाति के लोगों ने शराब पीना छोड़ दिया। शिक्षा प्राप्त करना आरम्भ कर दिया और हिन्दू कृषकों के प्रभाव से कृषि के तरीकों में भी सुधार किया।

घुर्ये ने **'The Scheduled Tribes'** नामक पुस्तक में जनजातियों की समस्याओं एवं समाधान के बारे में विस्तार से चर्चा की है। इससे पहले **'The Aborigins- so called and their future'** नाम से घुर्ये ने पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक में घुरिये ने जनजातियों के विभिन्न नामों जैसे–आदिवासी, मुल निवासी, जनजाति, अनुसूचित जनजातियों आदि का उल्लेख किया है। साथ ही जनजातियों का हिन्दूओं, ईसाइयों एवं अन्य लोगों के सम्पर्क एवं उनमे सात्मीकरण के कारण उत्पन्न समस्याओं का उल्लेख किया गया है। जनजातियों के प्रति अंग्रेज शासको की नीति का वर्णन किया गया है। इस पुस्तक में जनजातियों की समस्याओं के समाधान हेतु बुद्धिजीवियों द्वारा प्रस्तुत तीन दृष्टिकोण राष्ट्रीय उपवन **(National Park)**, पृथक्करण **(Isolation)** एवं आत्मीकरण **(Assimilation)** का उल्लेख किया गया है।

2.5: भारतीय परम्परा में साधु की भूमिका

धर्म के समाजशास्त्र में अपने अध्ययन में घुर्ये ने धार्मिक विश्वास, कर्मकाण्ड, संस्कार तथा भारतीय परम्परा में साधु की भूमिका पर प्रकाश डाला है। घुर्ये के मतानुसार, प्राचीन भारत, मिश्र और बैबेलोनिया में धार्मिक चेतना धर्म स्थलों से जुड़ी हुई थी। घुर्ये ने भारतीय धर्म में विभिन्न देवी–देवताओं यथा– शिव, विष्णु और दुर्गा आदि के उद्भव और उनकी भूमिका का सारगर्भित विवेचन किया है। उन्होंने पूजा की वृहत स्तरीय

पद्धति के साथ जुड़े हुए स्थानीय और उपक्षेत्रीय विश्वासों को उजागर किया है। उनका मत है कि भारत में अनेक पन्थों के विकास और विस्तार का आधार राजनीतिक के साथ–साथ लोक समर्थन भी रहा है।

घुर्ये ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन साधूज' **(Indian Sadhus)** में संयास की दोहरी प्रकृति की समीक्षा की। भारतीय संस्कृति के अनुसार ऐसा समझा जाता है कि साधुओं या संयासियों को सभी जाति प्रतिमानों, सामाजिक परम्पराओं आदि से मुक्त होना चाहिए। वस्तुतः जह समाज के दायरे से बाहर होता है। शैवमतावलंबियों में यह आम रिवाज है कि जब इनके समूह का कोई व्यक्ति संयास या आत्मत्याग के मार्ग को अपनाता है तो वे इसका 'नकली दाहसंस्कार' कर देते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वह समाज के लिए तो मृत समान लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से उसका पुनर्जन्म होता है।

2.6: भारतीय इतिहास में प्रजाति का सिद्धान्त (Racial Theory of Indian History)

देखा जाये तो घुर्ये सभ्यताओं के अध्ययन के विशेषज्ञ थे। उनकी रुचि सभ्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन में थी। लेकिन ऐसा करने में उनका केन्द्र बिन्दु भारतीय सभ्यता थी। उन्होंने अपनी इस थीम को उनकी लोकप्रिय पुस्तक कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया **(Caste and Race in India,1932)** में प्रस्तुत किया है। उन्होंने प्राच्यविदों **(Orientation)** द्वारा प्रस्तुत मानवजाति अध्ययनों का हवाला देते हुए कहा कि भारत में इंडो– आर्यन प्रजाति 2500 ईसा पूर्व में आई। इस प्रजाति का धर्म वैदिक धर्म था। ये मोटे रुप में ब्राह्मण थे। इन्होंने गंगा के मैदानों में अपनी संस्कृति को विकसित किया। इसी सभ्यता में जाति व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ।

जाति व्यवस्था अन्तवैवाहिक **(Endogamers)** थी। इसका अर्थ था कि जाति का कोई भी सदस्य जाति से बाहर विवाह नहीं करेगा। विवाह के इस नियम के कारण जाति यानी प्रजाति के रक्त की शुद्धता बनी रहेगी। ब्राह्मणों ने इस नियम के अन्तर्गत अपने आपको स्थानिक जनसंख्या से पृथक रखा। घुर्ये कहते है कि ये आर्य भारत में उत्तर–पश्चिम से आये। बाद में चलकर स्थानीय लोगों में स्तर हो गये और सबसे नीचा स्तर दासों का बन गया। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया कुछ इस तरह विकसित हुई कि ब्राह्मणों ने दासों के रीति –रिवाजों, विश्वासों को नहीं अपनाया लेकिन ब्राह्मणों के रीति–रिवाज समाज के निम्न स्तरों तक अवश्य आ गये।

घुर्ये ने कास्ट एण्ड रेस **(Caste and Race)** पुस्तक के प्रथम संस्करण में प्रजाति की विवेचना विस्तारपूर्वक की है। इस समय रिजले की पुस्तक जो प्रजाति पर थी, आ गई थी। रिजले ने जाति के साथ प्रजाति के मसले को उठाया था। वास्तव में उनका विमर्श जाति का प्रजाति सिद्धान्त था। देखा जाये तो 20वीं शताब्दी में भारत में जो मानवजाति अध्ययनों की बाढ़ आई, उसका केन्द्र मानवशास्त्र में प्रजातीय विचार थे। अब मानवशास्त्री जातियों का वर्गीकरण शारीरिक लक्षणों और भाषा के आधार पर करने लगे। शारीरिक लक्षणों में रक्त समूह, खोपड़ी का घनत्व, नाक की लम्बाई–चौड़ाई, आंखों की बनावट, त्वचा का रंग, कद आदि सम्मिलित किये जाने लगे । मानव विज्ञान के विद्वानों ने सम्पूर्ण जातियों को प्रजातियों में बांट दिया। रिजले भारतीय मानवजाति विभाग के निदेशक थे और उन्होंने पहली बार जातियों को प्रजातीय संदर्भ में देखा।

भारत की प्रजातियों पर प्रो0 घुरिये के विचार (Views of Prof. Ghurye on Races of India)

घुर्ये ने भारत की हिन्दू जनसंख्या में छः मुख्य प्रजातीय तत्वों का उल्लेख किया है–

1. भारतीय आर्य (Indo-Aryan)– इस प्रजाति से सम्बन्धित लोग पंजाब, राजपूताना, तथा संयुक्त प्रान्त के भागों तक फैले हैं।
2. पूर्व द्रविडियन (Pre-Dravidian)– इस प्रजाति के तत्व संयुक्त प्रान्त की निम्नतर जातियों एवं बिहार की जनसंख्या में फैले हैं।
3. द्रविड (Dravidian)– ये प्रजातीय तत्व दक्षिण के तमिल तथा मलयाली भाषा भाषी जिलों तक फैले हैं।
4. मंगोल (Mangoloid)– ये प्रजातीय तत्व हिमालय नेपाल तथा असम तक फैले है।
5. पश्चिमी (Western)– पश्चिमी प्रतिरुप पश्चिमी सीमा स मालाबार के उत्तर, मैसूर एवं महाराष्ट्र में पाया जाता है।
6. मुंडा (Munda)– इस प्रकार के प्रजातीय तत्व छोटा नागपुर के चारों ओर केन्द्रित हैं।

इसके अतिरिक्त प्रो0 घुर्ये ने सभ्यता और संस्कृति के बारे मे अपनी पुस्तक **'Cities and Civilization'** में तथा भारत और यूरोपीय संस्कृति में पायी जाने वाले पारिवारिक एवं नातेदारी व्यवस्था का तुलनात्मक एवं विस्तृत ऐतिहासिक ब्योरा अपनी पुस्तक **'Family and Kin in Indo-European Culture'**नामक पुस्तक में दिया है।

2.7: घुर्ये– एक राष्ट्रवादी (Ghurye: A Nationalism)

आजकल की राजनीति में एक मुहावरा बहुत काम मे लिया जाता हैं लोग जो देश का एक राष्ट्र–राज्य के रुप में विकसित करना चाहते है; प्रायः सांस्कृतिक राष्ट्रीयता **(Cultural Nationalism)** की चर्चा करते है। कहते है कि इस देश की संस्कृतियां अनेक नहीं, एक होनी चाहिये। और यह एक संस्कृति हिन्दू संस्कृति या हिन्दू धर्म है। घुर्ये अपनी पुस्तक कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया में कहते है कि भारत में प्रजाति, भाषा और संस्कृति का ऐसा मेलजोल है जो यहां की सभ्यता को बताया है। घुर्ये के ये विचार का ऐसा मेलजोल है जो यहां की सभ्यता को बताता है। घुर्ये के ये विचार का ऐसा मेलजोल है जो यहां की सभ्यता को बताता है। घुर्ये के ये विचार सोश्यल टेन्शन्स इन इंडिया, वैदिक इंडिया और बर्निंग केल्ड्रन ऑफ नॉर्थ–ईस्ट इंडिया में बहुत स्पष्ट है।

यह सही है कि घुर्ये भारत को एक एकीकृत देश बनाना चाहते थे। पर उनकी एकीकरण की विचारधारा सामान्य विचारधारा से जुदा थी। वे कहते है कि भारत के एकीकरण के लिये निरपेक्षवादियों **(Secularists)** ने जो सिद्धान्त रखा है, घुर्ये को स्वीकार नहीं है। इस नुस्खे के कारण देश में अलगाववादियों की शक्ति बढ़ गई है। कई तरह के दंगे हो रहे हैं, पृथक राज्य की मांग बराबर उठती जा रही है और कई तरह की विघटनात्मक गतिविधियां बढ़ रही है। घुर्ये का मत इस सम्बन्ध में इस तरह था–

1. सरकार की या नेहरु द्वारा स्वीकृत धर्म निरपेक्ष नीति में घुर्ये का विश्वास नहीं था।
2. इस देश में एकाधिक समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता।
3. राष्ट्रीय एकीकरण तभी सम्भव है जब देश के नागरिक समाज मूल्यों को स्वीकार करें।
4. घुर्ये ने कहा कि राष्ट्रीय एकीकरण तभी सम्भव है जब देश में सामाजिक एवं राजनीतिक एकीकरण हो जाये।

यह राष्ट्रवादी की तरह घुर्ये स्पष्ट रुप में कहते हैं कि इस देश में विभाजन का बहुत बड़ा कारण मुसलमान है। यह इसलिये कि मुसलमान उनके भारत मे आने की बड़ी लम्बी अवधि के बाद भी हिन्दू संस्कृति में

अपना सौहार्दपूर्ण नहीं है। पिल्लई कहते है कि सौहार्द का अभाव इस कारण है कि उनके धार्मिक व्यवहार में असंगति है।

घुर्ये राष्ट्रीय एकीकरण के समर्थक थे। उनकी दृष्टि में भारत में यह एकीकरण निम्न विधि द्वारा लाया जा सकता है–

1. घुर्ये मानते है कि भारतीय राष्ट्रीय एकीकरण का पहला चरण यह होना चाहिये कि हमें विभिन्न धार्मिक समूहों और पिछड़े समूहों को हिन्दू समाज की मुख्यधारा में ले लेना चाहिये। इस विचारधारा को उन्होंने अपने लेख में रखा **(Untouchable Classes and their Assimilation in Hindu Society)** था। उनका यह भी सुझाव था कि यदि अछूतों को हिन्दू समाज में सम्मिलित कर लिया जाये तो अस्पृश्यता की समस्या का निदान हो जायेगा।
2. घुर्ये समकालीन भारत में जातियों का जो नया अवतार दिखाई देता है, उसके विरुद्ध थे। इस संदर्भ में वे रिजले की आलोचना करते हुए कहते हैं कि उन्होंने जातियों का नामांकन जनगणना में करवा कर बड़ा गलत काम किया। राष्ट्रीय एकीकरण में जातियां विभाजक है। एकीकरण के लिये जातियों पर पाबन्दी लगाना आवश्यक है।
3. घुर्ये की यह मजबूत धारणा थी कि राष्ट्रीय एकीकरण के लिये सांस्कृतिक सजातीयता **(Cultural Homogeneity)** का होना अनिवार्य है। इसी कारण जाति सभा, आरक्षण और जाति आधारित आन्दोलनों के वे खिलाफ थे। ये सब एकीकरण की प्रक्रिया में व्यवधान है।

2.8: घुर्ये की आलोचना (Criticism of Ghurye)

घुर्ये समाजशास्त्र के विचारक माने जाते है। उनके कई विद्यार्थियों ने जो सम्पूर्ण देशमें फैले हुए है यही स्थापित किया है कि घुर्ये ने उपनिवेशकाल में इस बात को दृढ़ता के साथ रखा कि इस देश की सभ्यता महान है। इस देश की एकता को वास्तविक अतीत की संस्कृति में देखना चाहिये और यह अतीत हिन्दुओं और उनकी भाषा संस्कृत में है। घुर्ये अव्वल दर्जे के राष्ट्रवादी रहे है और इस बात की वकालत करते है कि एक राष्ट्र बनाने के लिये हमें वैदिक संस्कृति को पुनः स्थापित करना चाहिये। इस विचारधारा के अनुसार देश के गैर–हिन्दू समूह बेमतलब है। उनका अस्तित्व हाशिये पर है।

अगर हम थोड़ी उदारता से देखें तो कहना पड़ेगा कि उपनिवेशकाल में जिस तरह की विचारधारा या जैसे ज्ञान का निर्माण हो रहा था, इसमें भारतीय सभ्यता की महानता को बताना ही हमारे हित में था। हम अंग्रेजों को यही बताना चाहते थे कि हमारा संस्कृत साहित्य महान है, हमारा धर्म उच्च है, और हमारी धरोहर हमारा धर्म है। उस समय जब घुर्ये था, वास्तव में वही हमारी पुरातनवादी विचारधारा थी। उपनिवेशकाल में पुरातनवाद ही हमारा राष्ट्रीय उपागम था और घुर्ये ने इसी पुरातनवाद को पुनर्जीवन दिया है। इस दृष्टि से वे समाजशास्त्र के जनक थे, विचारक थे। यहां हम घुर्ये की विचारधारा और उनकी कृतियों पर कुछ टिप्पणी करेंगे–

2.8.1: हिन्दू संस्कृति का आधुनिकता पर प्रभाव (Impact of Hindu Culture on Modernization)

घुर्ये ने हिन्दू संस्कृति, वैदिक संस्कृति, ब्राह्मण धर्म पर खूब लिखा है। आधुनिक भारतीय समाजशास्त्र ने घुर्ये की लिखावट की निदा भी की है। यह होते हुए भी आज का समाजशास्त्र परम्परा का बड़ा प्रशंसक रहा है।

जब कभी आधुनिकता की बात कही जाती है, तब इसका विश्लेषण परम्परा के सन्दर्भ में ही किया जाता है। ल्योड रुडोल्फ और सूसेन रुडोल्फ आधुतिकता की व्याख्या परम्परा के संदर्भ में करते है। योगेन्द्र सिंह का तर्क है कि भारतीय परम्पराएं आधुनिक हो रही हैं। कुल मिलाकर आज का समाजशास्त्र हिन्दु परम्पराओं से जुड़ गया है। यह घुर्ये का प्रभाव है। जब वे हिन्दू धर्म, और ब्राह्मण संस्कृति की चर्चा करते है तब उनका तात्पर्य हिन्दू परम्पराओं से ही है।

2.8.2: घुर्ये और हिन्दुत्ववादी (Ghurye and Hinduites)

देश में वे लोग और राजनैतिक दल जो सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की चर्चा करते हैं। घुर्ये ने एक मजबूत बौद्धिक हथियार दे दिया है। इस प्रकार की सांस्कृतिक एकता, जिसे हिन्दू सभ्यता कहते है, देश को एक सूत्र में बांध देगी लेकिन इसका परिणाम देश के विभाजन में देखने को मिलेगा। यह देश बहुसांस्कृतिक, बहु–भाषायी, और बहु–क्षेत्रीय है। घुर्ये की इस तरह की विचारधारा पूर्ण रुप से विद्यटनकारी है। देखा जाये तो घुर्ये का समाजशास्त्र का सम्पूर्ण साहित्य भारतीय समाजशास्त्र को एक खण्डित दिशा देते है। वे आर्य संस्कृति, ब्राह्मणवाद, हिन्दू धर्म और हिन्दू राष्ट्रवाद की व्याख्या करते थकते नहीं हैं। उनके विचारों में भारत राष्ट्र–राज्य न बनकर हिन्दू राष्ट्र–राज्य बनेगा।

2.8.3: भारतीय इतिहास हिन्दूकरण की प्रक्रिया है (Indian history is the process of Hinduization)

घुर्ये की किसी भी कृति को हम उठा लें। उनकी केन्द्रीय विधि इतिहास है। वे कहते है कि मुसलमानों, आदिवासियों, सिखों, जैन आदि समूहों का विलय हिन्दु जातियों में हो जाना चाहिये। इसी मुहावरे के अन्तर्गत वे कहते है कि अब तक का सम्पूर्ण भारतीय इतिहास हिन्दूकरण का इतिहास हैं इसी विचारधारा को उनके शिष्य एम. एन. श्रीनिवास ने अधिक सशक्त रुप में रखा है जब वे संस्कृतीकरण (प्रारम्भ में इसे उन्होंने ब्राह्मणकरण नाम दिया था) की अवधारणा को रखते हैं। इस संस्कृतीकरण को योगेन्द्र सिंह ने आदिवासियों और मुसलमानों में भी देखा है। कुल मिलाकर घुर्ये का थीसिस आज का समाजशास्त्र भी दोहरा रहा है। परिवर्तन की प्रक्रियायें इस तरह चल रही हैं कि कोई भी समूह– बराबर हिन्दू बन रहा है। याद आता है जब मार्क्स ने कहा था– अब तक का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। घुर्ये ने कहा– भारत में अब तक का इतिहास हिन्दूकरण का इतिहास है। भारत एक धर्म निरपेक्ष, प्रजातांत्रिक, एकाधिक संस्कृति का देश है।

2.9: निष्कर्ष

जैसा कि हमने इस इकाई में अध्ययन किया, जी. एस. घुर्ये ने भारत के समाजशास्त्र के अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान किया है। सभी सिद्धान्तों से परिचित होते हुए भी घुर्ये ने स्वयं को किसी भी विशिष्ट सिद्धान्त के ढांचें में नहीं ढाला। केम्ब्रिज से लौटने के बाद प्रारम्भ में उन्होंने 'प्रसारवादी' सिद्धान्त के प्रति थोड़ी रुचि अवश्य प्रकट की थी, किन्तु जीवनभर वे पौराणिक संस्कृत साहित्य और मानवशास्त्रीय प्रस्थापनाओं और प्रविधियों के जरिये इतिहास और परम्परा की खोज करते रहे। मार्क्सवादी अवधारणाओं का प्रयोग नहीं किया है। वे मार्क्सवादी सिद्धान्त और अवधारणाओं से परिचित अवश्य थे और उन्होंने कोंकण क्षेत्र के एक गांव के अपने अध्ययन में एंजिल्स के 'परिवार के नियम' को उल्लेख भी किया है।

2.10: अभ्यासार्थ प्रश्न

1. जी. एस. घुर्ये के बारे में आप अपने विचार व्यक्त कीजिए।
2. घुर्ये द्वारा दी गयी समाजशास्त्र की परिभाषा समझाइए।
3. जी. एस. घुर्ये के जाति सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट कीजिए।
4. भारतीय इतिहास में प्रजाति के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
5. जी. एस. घुर्ये का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

2.11: सन्दर्भ ग्रंथ

- Bose, Pradeep Kumar, "A Narrative of Caste and Race in India", in Momin, A.R. (ed.), The Legacy of G.S. Ghurye: A Centennial Festschrift, Bombay, Popular Prakashan, 1996
- Carol Upadhyay, "The Hindu Nationalist Sociology of G.S. Ghurye", Sociologocal Bulletin, 51 (1), March 2002
- Chakravati, Uma, "Whatever Happened to the Vedic Dasi, Orientatism, Nationalism and a Script for the part" in K. Sangri and vaid (ed.); Recasting Women: Essays in India Colonial History, New Delhi, For Women, 1983
- Cohn, Bernard, S. "Notes on the History of the Study of Indian Society" in Bernard S. Cohn, An Anthropologist among the Listarians and pther Essays, 1987
- `Momin, A.R. (ed.), The Legacy of G.S. Ghurye: A Centennial Festschrift, Bombay, Popular Prakashan, 1996
- Pillai, S. Devadas, Indian Sociology Through Ghurye, A Dictionary, Mumbai Popular Prakashan, 1997

इकाई–3

लुई ड्यूमो (Louis Dumount)

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 लुईस ड्यूमो का जीवनवृत्त
3.3 ड्यूमो की कृतियाँ
3.4 ड्यूमो का भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य
3.4.1 होमो हिरारकी–एक परिचय
3.4.2 समन्वयात्मक बाहु उपागमीय विश्लेषण
3.4.3 संस्थाओं का विश्लेषण
3.5 ड्यूमो का भारतीय समाजशास्त्र को योगदान
3.5.1 जाति संस्तरण की प्रकृति
3.5.2 संस्तरण की सिद्धान्त–शुद्ध और अशुद्ध
3.5.3 सभ्यताओं की तुलना
3.5.4 व्यक्तिवाद
3.5.5 विधि और सिद्धान्त के नये संदर्भ
3.6 श्रम–विभाजन
3.7 जाति एवं व्यवसाय
3.8 जजमानी प्रथा
3.9 प्रभाव जाति की अवधारणा
3.10 निष्कर्ष
3.11 अभ्यासार्थ प्रश्न
3.12 संदर्भ ग्रन्थ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य है–

- लुई ड्यूमो का जीवनवृत्त एवं कृत्तियों के बारे में जान सकेंगे।
- ड्यूमो का भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के बारे में समझ सकेंगे।
- ड्यूमो का समाजशास्त्र को योगदान क्या रहा इसके बारे में जान सकेंगे।
- ड्यूमो के श्रम–विभाजन, जाति एवं व्यवसाय, जजमानी प्रथा पर विचार जान सकेंगे।

- प्रभाव जाति की अवधारणा के बारे में समझ सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

भारतीय समाजशास्त्र में जाति व्यवस्था पर बहुत अधिक लिखा गया है। जो कुछ लिखा है, सब एक जैसा नहीं है। कहते है– जातियां भारतीय समाज की टूटन है, विभाजक है, जहर है, जो लोगों को आपस में लडवाती है, राजनीतिक दुराव पैदा करती है। जातियां रबर के एक तम्बू की तरह है जिधर चाहें उधर खींच लें। कुछ लोग कहते है कि जाति भारतीय समाज के संस्तरण का बहुत अच्छा दृष्टांत है और कोई भी समाज बिना ऊँच–नीच के यानी संस्तरण के नहीं रह सकता। संस्तरण से समाज को लाभ भी है और हानियां भी। बहुत समय पहले भारतीय मानवशास्त्री इरावती कर्वे ने कहा था कि यदि कोई भारतीय समाज को समझना चाहता है तो उसे तीन संस्थाओं को जानना होगा– (1) जाति, (2) परिवार और (3) भाषा समूह।

समाजशास्त्रियों ने जाति को समझने का पूरा प्रयत्न किया है। इन प्रयत्नों में ड्यूमो ने एक नया उपागम अपनाया है। ब्रिटिश और अमेरिकी उपागम सामान्तया हमारे यहां जाति के अध्ययन में लोकप्रिय रहा है। यह पहली बार था कि लुई ड्यूमो ने जातियों को यूरोप के उपागम से समझा है। इस सिलसिले में उनकी पुस्तक होमो हिरारकिकस **(Homo Hierarchicus)** एक उच्च कोटि की रचना समझी जाती है। ड्यूमा का विश्लेषण थीम जाति संस्तरण है। ड्यूमा का महत्व इस लिये भी है कि उन्होंने इस पुस्तक में यह स्थापित करने का भी प्रयास किया है कि कोई भी समाज हो, कहीं का भी हो, उसमें किसी न किसी तरह का संस्तरण अवश्य होता है। वर्ग में संस्तरण है। सामंतवाद में भी ऊँच–नीच रही और इसलिये दुनिया भर के लिये संस्तरण का बहुत अच्छा दृष्टान्त भारत की जाति व्यवस्था है। ड्यूमो का यह तर्क था कि भारत में समाजशास्त्र और मानवशास्त्र को भारत विद्या के साथ समावेश करना होगा। ड्यूमो का भारत विद्या शास्त्र से तात्पर्य भारतीय विचारधारा और मूल्यों से था। उनका मानना था कि मानवजाति अध्ययन में विचारधारा प्रधान होती है। ड्यूमो का उपागम विशुद्ध रुप से संरचनात्मक था। वे जाति को हिन्दुओं की विशिष्टता मानते थे।

3.2 लुईस ड्यूमो का जीवनवृत

फ्रांसीसी मानवशास्त्री एवं समाजशास्त्री लुईस ड्यूमो (1911–1998) भारतीय विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के प्रमुख समर्थक माने जाते है। ड्यूमो का जन्म फ्रांस के सलोमिका में 1911 में हुआ था। उनके पिता पेशे से इन्जीनियर थे जो रेलवे के निर्माण कार्यों में लगे थे। उनकी शिक्षा–दीक्षा पेरिस में हुई थी। बहुत कम अवस्था में ड्यूमो के पिता का देहान्त हो गया था। ड्यूमो ने कई वर्षों तक ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों में अध्यापन किया। किन्तु 1955 ई0 के बाद वे फ्रांस आ गए और यहीं पर उन्होंने लेखन एवं अध्यापन कार्य किया। ड्यूमो के शैक्षणिक कैरियर का प्रारम्भ 1930 ई0 के मध्य में सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री मार्शेल मॉस के निर्देशन में हुआ। युद्धबन्दी के कारण उनके अध्ययन में बाधा आई किन्तु उन्होंने संस्कृत का अध्ययन जारी रखा। ड्यूमो को भारत के समाजशास्त्र में विशेष रुचि थी। भारतीय समाज के इतिहास को समझने के लिये उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया। इसलिये उन्हें भारतीय परम्परा के अध्ययन पर बल देने वाले विद्वानों में

से एक अग्रणी विद्वान माना जाता है। ड्यूमो ने भारतीय जाति व्यवस्था तथा संस्तरण को अपने विश्लेषण 'कॉन्ट्रिब्यूशन्स टू इण्डियन सोशियोलॉजी' () नामक पत्रिका के एक संस्थापक के लिए विशेषतः जाने जाते है। भारतीय जाति व्यवस्था के अतिरिक्त ड्यूमो की भारतीय सामाजिक व्यवस्था में भी विशेष रुचि थी।

3.3 ड्यूमो की कृतियाँ

ड्यूमो ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था के कई पक्षों; जैसे– नातेदारी, धर्म, विवाह आदि पर अनेक लेख और पुस्तकें लिखी है जिनमें प्रमुख निम्न प्रकार है–

- हिरारकी एण्ड मेरेज एलायन्स इन साउथ इंडियन किनशिप (Hierarchy and Marriage Alliance in South India Kinship, 1954)
- होमो हिरारकिकस (Homo Hierarchicus, 1970)
- रिलिजन, पोलिटिक्स एण्ड हिस्ट्री इन इण्डिया (Religion, Politics and History in India,1970)
- ऐसेज ऑन इन्डिविज्यूएलिज्म (Essays on Individualism, 1986)
- ला आइडियोलॉजी अल्मन्डे (L'ideologie Allemande, 1994)

3.4 ड्यूमो का भारतविद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

यद्यपि ड्यूमों की सभी पुस्तकें काफी महत्वपूर्ण मानी जाती है, तथापि इन्हें सबसे अधिक ख्याति 1970 ई0 में अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित **होमो हाइरारकिक्स** पुस्तक से ही प्राप्त हुई। यह पुस्तक पहले 1967 ई में फ्रांसीसी में प्रकाशित हुई थी। इसी पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद मार्क सेंसबरी ने किया है। इस पुस्तक ने उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय जगत में एक अग्रणी समाजशास्त्री के रुप में प्रतिष्ठित किया। यह पुस्तक कुल 11 अध्यायों में विभाजित है। पुस्तक के प्रारम्भ में परिचयात्मक विवरण के अन्तर्गत उन्होंने आधुनिक मानव की समानतामूलक विचारधारा को श्रेणीक्रम की पृष्ठभूमि में अभिव्यक्त किया है।

पुस्तक के अध्यायों की सामग्री निम्न प्रकार है–

3.4.1 होमोहिरारकी–एक परिचय

(1) विचारों का इतिहास (History of Ideas), जिसमें उन्होंने जाति की परिभाषा, प्रवृत्तियों एवं पूववर्ती अध्ययनों की विवेचना की है।

(2) व्यवस्था से संरचना की ओर पवित्रा एवं अपवित्र (From System to Structure: The Pure and the Impure), जिसमें उन्होंने पवित्र एवं अपवित्र विचारधारा से जुड़े आधारभूत तथ्यों की विवेचना की है।

(3) संस्तरणः वर्ण का सिद्धांत (Hierarchy: The theory of the Varna), जिसमें उन्होंने वर्ण के सिद्धांत की विवेचना करते हुए क्षेत्रीय स्तर पर संस्तरण अथवा प्रस्थिति क्रम के निर्धारण, शक्ति एवं श्रेणीक्रम के वितरण के आधारों पर प्रकाश डाला है।

(4) श्रम–विभाजन (The Division of Labour), जिसमें उन्होंने श्रम–विभाजन, जाति एवं व्यवसाय तथा जजमानी व्यवस्था की विवेचना की है।

(5) विवाह का नियमनः पृथक्करण एवं संस्तरण (The Regulation of Marriage: Separation and Hierarchy), जिसमें उन्होंने विवाह को नियन्त्रित करने वाले आधारों, अन्तर्विवाह एवं बहिर्विवाह के नियमों के परिप्रेक्ष्य में पृथकता एवं संस्तरण की विवेचना की है।

(6) सहवास एवं खान–पान सम्बन्धी नियम (Rules Conering Contact and Food), जिसमें उन्होंने सामाजिक सहवास एवं खान–पान के प्रतिबन्धों एवं नियमों के परिप्रेक्षण में अन्तर्जातीय सम्बन्धों को समझाने का प्रयास किया है।

(7) शक्ति एवं क्षेत्र (Pawer ans territory), जिसमें उन्होंने सम्प्रभु जाति तथा जाति के आर्थिक व्यवहारों के आधार पर क्षेत्रीय शक्ति संरचना की विवेचना की है।

(8) जातीय सरकारः न्याय एवं सत्ता (Caste Government: Justice Authorit), जिसमें उन्होंने जाति पर आधारित शक्ति एवं सत्ता तथा नयाय प्रणाली के अन्तर्सम्बन्धों की विवेचना इसके व्यावहारिक पहलुओं के आधार पर की है।

(9) सहवर्ती एवं निहितार्थ (Concomitants and Implication), जिसमें उन्होंने परित्याग, स्थायित्व, परिवर्तन एवं सामाजिक गतिशीलता के व्यावहारिक पक्षों की विवेचना की है।

(10) तुलनाः क्या गैर–हिन्दुओं तथा भारत से बहार जातियां है? (Comparison: Are There Caste Among Non-hindus and Outside India?), जिसमें उन्होंने गैर–हिन्दुओं; यथा–ईसाई, मुस्लिमों (भारत में तथा भारत से बाहर) में जाति की विद्यमानता से जुड़े प्रश्नों के आधार पर हिन्दू एवं गैर–हिन्दू समुदायों की तुलना की है।

(11) तुलना पर आधारित निष्कर्ष समकालीन प्रवृत्ति (Comparison Concluded: The Contemporary Trend), जिसमें उन्होंने जाति में होने वाले अभिनव परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में संस्तरण पर आधारित समाजों एवं समतामूलक समाजों की समसामयिक प्रवृत्ति की तुलनात्मक व्याख्या की है।

3.4.2 समन्वयात्मक बाहु उपागमीय विश्लेषण

इस पुस्तक में उन्होंने भारतविद्याशास्त्रीय, मानवशास्त्रीय और उच्च समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की बहुकुशलता ढ़ंग से समन्वय करके भारतीय जाति व्यवस्था तथा उसके द्वारा पड़ने वाले प्रभावों का सारगर्भित विश्लेषण किया है। इनका विचार था कि भारत का समाजशास्त्र, समाजशास्त्र एवं भारतविद्याशास्त्र के संगम पर ही होना चाहिए। इसलिए भारतीयों के मूल्यों के अध्ययन के लिए धर्मग्रन्थों का अध्ययन करना अनिवार्य है तथा इसके लिए संस्कृत को ज्ञान होना भी अनिवार्य है। ड्यूमो ने जाति व्यवस्था का विश्लेषण पवित्रता के आधार पर किया है जो अनुठा है। ड्यूमो ने इस पुस्तक में जाति के इतिहास तथा उद्गम सम्बन्धी सिद्धान्तों से लेकर सामाजिक संस्तरण, वर्ण व्यवस्था, खान–पान सम्बन्धी निषेध जैसे विषयों का भी विस्तार से विश्लेषण किया। इस प्रकार, ड्यूमो ने अन्य विद्वानों की भांति जाति के कार्यो अथवा अकार्यो की विवेचना न कर उन आधारों को ढूंढने का प्रयास किया है जो सम्पूर्ण हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं को नियन्त्रित करते है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उनके अनुसार जाति व्यवस्था को समझने के लिए भारतीय पौराणिक ग्रन्थों में इस बारे में निहित विचारधारा को समझना आवश्यक है। यह उनके भारतविद्याशास्त्र का ही एक अंग है।

3.4.3 संस्थाओं का विश्लेषण

ड्यूमो ने हिन्दू विवाह, सामाजिक संस्तरण, भौतिक सम्पर्क, श्रम–विभाजन, जजमानी व्यवस्था, शाक्ति एवं सत्ता के वितरण इत्यादि तत्वों को संचालित, नियमित एवं नियन्त्रित करने वाली विचारधारा को अपने विश्लेषण का आधार बनाया है। भारतीय समाज में हो रहे परिवर्तन के बारे में ड्यूमो ने लिखा है कि, ''समाज में परिवर्तन हो रहा है किन्तु समाज का परिवर्तन नहीं हो रहा है।'' उनका 'जाति की दृष्टि से गांव' और 'सभ्यतापरक दृष्टि से जाति' सम्बन्धी दृष्टिकोण अन्य लोगों के जाति अध्ययनों के परिप्रेक्ष्यों से भिन्न है। ड्यूमो ने भारतीय जाति व्यवस्था और भारतीय गांव की सामाजिक संरचना के अध्ययन के लिए भारतविद्याशास्त्रीय दृष्टि और संरचनात्मक उपागम दोनों के प्रयोग की बात कही है।

हालांकि जाति व्यवस्था विषय पर ड्यूमो के विचारों को पूर्ण रुप से स्वीकार नहीं किया गया लेकिन फिर भी मार्क्सवादी, उत्तर–आधुनिकतावादी, प्रकार्यवादी, संरचनावादी और चाहे किसी विचारधारा का व्यक्ति क्यों न हो, वह जाति व्यवस्था सम्बन्धी अपने लेखन में ड्यूमो के विचारों को अनदेखा नहीं कर सकता है। ड्यूमो का यह विचार कि, ''भारत एक ऐसा धार्मिक समाज है जो जाति व्यवस्था के शुद्ध संस्तरण व्यवस्था से परिचालित है'' को कोई भी विचारक माने अथवा नहीं लेकिन यह एक तथ्यपरक स्पष्ट कथन है। ड्यूमो ने जाति व्यवस्था के अतिरिक्त दक्षिण भारत में प्रचलित नातेदारी व्यवस्था पर भी कार्य किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने दक्षिण भारत में परमली कल्चर नामक समुदाय पर गहन कार्य किया है।

ड्यूमो एक विशेष परिचर्चा के लिए भी प्रसिद्ध है जो 1957 ई. में एक लेख द्वारा प्रारम्भ हुई। अपने लेख 'भारत के लिए समाजशास्त्र' में ड्यूमो ने भारतीय समाजशास्त्र की प्रकृति, सिद्धांत और अवधारणाओं और पद्धति विज्ञान के बारे में अपने विचारों को प्रकट किया। बाद में उस परिचर्चा में पुस्तकों, लेखों और गोष्ठियों के माध्यम से कई समाजशास्त्रियों ने जैसे योगेन्द्र सिंह, ऑबराय, डी0नारायण आदि ने भाग लिया। इस लेख के ऊपर भारतीय तथा विदेशी समाजशास्त्रियों ने तीव्र प्रतिक्रियाएं अभिव्यक्त की। उन्होंने कहा कि समाजशास्त्र तो समाजशास्त्र है, उसके सिद्धान्त, अध्ययन उपागम, विषय–वस्तु आदि सभी देशों में एक जैसे ही हैं। यदि प्रत्येक देश का अपना समाजशास्त्र होने लगा ता समाजशास्त्र का स्वरुप विस्तृत हो जाएगा। इस प्रकार उन्होंने ड्यूमो के विचारों का विरोध किया। दूसरी ड्यूमो, पोकॉक एवं अन्य समाजशास्त्रियों ने इस विचार का जोरदार समर्थन किया कि भारत के लिए पृथक् से समाजशास्त्र सम्भव हो। इसकी विषय–वस्तु उत्पत्ति, सिद्धान्त एवं उपागम आदि, भारत के प्राचीन इतिहास एवं महाकाव्यों, पुराणों, धर्मशास्त्रों, आदि के आधार पर किया जाना चाहिए जो भारतविद्याशास्त्र के नाम से जाना जाता है।

ड्यूमो के अनुसार पवित्रता (शुद्ध) एवं अपवित्रता (अशुद्ध) की अवधारणाएं विचारों पर आधारित है। ये अवधारणाएं उस वृहद् छाते की भांति है जिसमें तात्कालिक भौतिक वस्तुओं; जैसे– सफाई, स्वास्थ्य वर्द्ध कता आदि से लेकर दैनिक व्यवहार एवं आदतें, संस्कृति एवं सभ्यता के विभिन्न आयाम तक सम्मिलित है अशुद्धता को उन्होंने पुनः दो भागों में विभाजित किया है– अस्थायी अशुद्धता एवं स्थायी अशुद्धता। प्रथम प्रकार की अशुद्धता क्षणिक होती है तथा निर्धारित अवधि में समाप्त होकर पुनः शुद्धता प्राप्त कर लेती है। मासिक धर्म, प्रसवकाल एवं मृत्यु से जुड़ी अशुद्धता इसी श्रेणी के उदाहरण है। स्थायी अशुद्धता वह है जो परिवर्तन शील नहीं है; जैसे –मृत्यु संस्कार को करने वाले डोम का पेशा। पवित्रता एवं अपवित्रता से जुड़े मूल्य एवं विचार विभिन्न जातियों में सामाजिक सहवास एवं खान–पान के नियमों का भी निर्धारण करते है। उनका विचार था कि भारतीय समाज में जाति व्यवस्था पवित्रा (ब्राह्मण) एवं अपवित्रत (शुद्र) के दो विरोधी

परन्तु परस्पर एक–दूसरे पर निर्भर सांस्कृतिक तत्वों से बनी हुई है। भारतीय संरचना के ये दो विरोधी तत्व भारतीय जाति व्यवस्था के प्राण है। ड्यूमो के अनुसार ब्राह्मण तथा अस्पृश्य एक–दूसरे के पूरक है तथा सम्पूर्ण रचना के लिए ये दोनों तत्व आवश्यक है। चाहे इन दोनों में असमानता ही क्यों न हो। ड्यूमो के अनुसार सामाजिक खान–पान एवं पेयजल आदि पर नियन्त्रण एवं निषेधों के आधार पर धार्मिक श्रेष्ठता एवं अधिनस्थता का प्रादुर्भाव होता है जो कालान्तर में आर्थिक सम्बन्धों में उच्चता एवं निम्नता का श्रेणीक्रम निर्धारित करती है।

ड्यूमो ने 'वर्णनात्मक समाजशास्त्र' का विचार भी दिया है जिसे अनेक समाजशास्त्रियों ने अस्वीकार किया। ड्यूमो के विचारों की अनेक आलोचनाएं हुई है। उनके इस विचार की, कि जाति व्यवस्था की जड़े ब्राह्मणवादी रुढ़िवादिता में गढ़ी हुई है तथा, उनकी विविधता में एकता, सामाजिक संगठन, संस्तरण, परिवर्तन के सन्दर्भ में काफी आलोचना हुई है।

आलोचकों का कहना है कि ड्यूमो ने असमता पर आधारित समाज को आदर्श समाज मानने की भूल की है। ऐसा लगता है कि ड्यूमो का सिद्धान्त राजनीति से प्रेरित रहा है जिसके द्वारा वह यह प्रमाणित करना चाहता है कि संस्तरण पर आधारित भारतीय समाज में समानता एक समाजवाद सम्भव नहीं है। साथ ही, ड्यूमो पूर्व एवं पश्चिम के चले आ रहे विवाद को पुनर्जीवित कर दिया तथा पश्चिमी समाजों में वर्ग एवं संजातीयता पर आधारित असमता को अनदेखा कर दिया।

इस प्रकार से घुरिये एवं ने भारतविद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की न केवल विवेचना की है बल्कि उसकी विस्तार भी दिया है।

3.5 ड्यूमो का भारतीय समाजशास्त्र को योगदान

ड्यूमो का भारतीय समाज का गहन अध्ययन किया है। जो कुछ उन्होंने लिखा है, भव्य है। उनका अध्ययन क्षेत्र उत्तर प्रदेश और तमिलनाडु राज्य रहे है। जाति, विवाह, और बन्धुत्व व्यवस्था उनके अध्ययन के विशिष्ट क्षेत्र रहे हैं। उनका योगदान आनुभविक व सैद्धान्तिक विद्या में महत्वपूर्ण रहा है। यहां समाजशास्त्र के जिन क्षेत्रों में उनका उल्लेखतीय योगदान रहा है, उनका हम सिलसिले से वर्णन करेंगे–

1. जाति संस्तरण की प्रकृति (Nature of Caste Hierarchy)
2. संस्तरण की सिद्धान्त–शुद्ध और अशुद्ध (Theory of hierarchy : Pure and Impure)
3. सभ्यताओं की तुलना (Comparison of Civilizations)
4. व्यक्तिवाद (Individualism)
5. विधि और सिद्धान्त के नये संदर्भ (New Perspectives in Theoryand Method)

3.5.1 जाति संस्तरण की प्रकृति (Nature of Caste Hierarchy)

लुई ड्यूमो ने जाति व्यवस्था पर बहुत अधिक लिखा है। इस संदर्भ में उनकी पुस्तक होमो हिरारकिकस एक भव्य प्रबन्ध है। दुनिया भर में इस प्रबन्ध को आदर की दृष्टि से देखा गया है। इसकी कड़वी और मीठी आलोचनाएं भी हुई है। इस पुस्तक में उन्होंने कहा है कि जाति व्यवस्था हिन्दुओं की विशेषता है। वे पश्चिमी विद्वानों से एकदम असहमति जताते है कि जाति व्यवस्था स्तरीकरण का एक स्वरुप हैं इस तरह

का कथन पश्चिमी विचारधारा पर केन्द्रित है। उनके विचार में भारतीय जाति व्यवस्था संस्तरणवादी हैं इसमें उच्चोच्च श्रेणियां होती हैं। देखा जाये तो ड्यूमो जाति को समानता के दृष्टिकोण से नहीं देखा जा सकता। यह व्यवस्था संस्तरणवादी है। इसमें उच्चोच्च श्रेणियां होती हैं। देखा जाये तो ड्यूमो जाति को संस्तरण व्यवस्था मानते है जिसकी प्रकृति सम्पूर्णवादी या समग्रवादी है। ईसा से पहले ब्राह्मण ग्रन्थकारों ने प्रतिष्ठा और शक्ति के अन्तर को बताया था। प्रतिष्ठा से उनका तात्पर्य धार्मिक प्रतिष्ठा था और शक्ति से उनका मतलब राजनैतिक शक्ति से था। ड्यूमो ने प्रतिष्ठा और शाक्ति के इस विभाजन को विस्तारपूर्वक रखा है। वे कहते हैं कि शक्ति के सामने प्रतिष्ठा गौण हो जाती है। गौण हो जाने का यह सिद्धान्त हमें वैदिक काल की वर्ण व्यवस्था की ओर ले जाता है। इस काल में समाज चार वर्णो में विभाजित था– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र। ड्यूमो की दृष्टि में वर्ण व्यवस्था संस्तरण का बड़ा सुन्दर दृष्टान्त है।

जाति समग्रवादी संस्तरणात्मक है (Caste is Holistic and Hierarchical)

ड्यूमो का कहना है कि जाति की प्रकृति समग्रवादी है। वह सम्पूर्ण उच्चोच्च वयवस्था का प्रतिनिधित्व करती है। शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार की जातियां इस समग्रता में आ जाती है। लेकिन प्रत्येक जाति अपनी पृथक पहचान रखती है। उसका एक निश्चित नाम होता है। उसकी बसावट का एक निश्चित स्थान होता है। कान्यकुब्ज ब्राह्मण केरल और तमिलनाडु में नहीं होते और नायर कश्मीर में नहीं पाये जाते। इस विभिन्नता के होते हुए भी जातियां अपने स्वरुप में बृहद् है।

ड्यूमो ने यह भी पाया कि ये जातियां किसी न किसी संस्तरण में अवश्य होती हैं। ये कोटियों में बंधी होती है। 1931 की जनगणना में सम्पूर्ण देश में कोई तीन हजार जातियां थी। 1984 में के0 एस0 सिंह ने अपने विशाल प्रोजेक्ट में बताया कि देश में कुल चार हजार के लगभग समुदाय है। वे जाति के स्थान पर समुदाय को देश की इकाई मानते है। संविधान जाति, लिंग और धार्मिक सम्प्रदायों के बीच में कोई भेदभाव नहीं करता। जो भी जातियां और समुदाय देश में है, सभी समाज के लिये उत्तरदायी है।

जाति व्यवस्था व्यक्तिवाद की विराधी है (Caste System is Inimical to Individualism)

ड्यूमो कहते है कि जाति व्यवस्था में जहां संस्तरण है, वहीं व्यक्तिवाद का हनन भी है। जाति अपने सदस्यों पर पूरा नियन्त्रण रखती है। विवाह, खान–पान, भोजन, सभी कुछ जाति के नियन्त्रण क्षेत्र में आ जाता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता कहीं नहीं रहती। वह मांसाहारी भोजन अपनी इच्छा के अनुसार नहीं कर सकता; विवाह सम्बन्ध नहीं रखता, मद्यपान नहीं कर सकता। गांवो में तो कहीं–कहीं मतदान भी जाति के निर्देश के बाहर नहीं हो सकता। एक प्रकार से जातियां राजनीतिक दलों में बंट जाती है। दूसरी ओर पश्चिमी देशों में व्यक्ति अपने आप को बलपूर्वक व्यक्त करता है।

जाति के दो मॉडल हैं (There are Two Models of Caste)

ड्यमो ने जाति व्यवस्था की प्रकृति पर जो कुछ लिखा है, उस पर एम. एन. श्रीनिवास ने एक व्याख्यान में टिप्पणी की है। वे कहते है कि भारत में आज जाति के दो मॉडल काम कर रहे है– (1) वर्ण (2) जाति। वर्ण व्यवस्था वैदिक काल का वर्गीकरण वास्तव में व्यावसायिक वर्गीकरण है। इसके अनुसार ब्राह्मणों का व्यवसाय कर्मकाण्ड है– पूजा, उपासना, और आराधना। क्षत्रिय सुरक्षा प्रदान करते है; वैश्य व्यवसाय और उद्योग करते हैं जबकि शूद्र नौकर का काम करते है। वर्ण व्यवस्था देशव्यापी है। वर्णों में अन्तर नहीं होता। वे अपरिवर्तनीय यानी स्थिर होते हैं।

जातियां अन्तर्वैवाहिकी **(Endogamy)** होती हैं। सामान्यतया ये परम्परागत व्यवसाय करती हैं। और एक छोटे से स्थान या गांव में निवास करती हैं। एक गांव में दस से लेकर तीस जातियां तक पाई जाती हैं।

वर्ण और जाति की विशेषताएं (Attributes of Varna and Caste)

ड्यूमो ने वर्ण की दो विशेषताएं बताई है। वर्ण प्रतिष्ठा और शक्ति में बहुत स्पष्ट अन्तर करते है। प्रतिष्ठा से उनका अर्थ धर्म से है और शक्ति का मतलब अर्थ से। ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा उनका धर्म है और क्षत्रियों तथा वैश्यों की शक्ति उनका अर्थ है। ड्यूमों कहते है कि अर्थ राजनीति के सामने गौण हो जाता है। धर्म में विचारधारा प्रधान होती है और शेष सब अर्थ की श्रेणी में आ जाता है।

ड्यूमो का कहना है कि वर्ण व्यवस्था उच्चोच्च व्यवस्था नहीं है। उसमें संस्तरण नहीं होता। सभी वर्ण पृथक है। ब्राह्मण वर्ण अपना निर्धारित काम करता है। वर्णों के बीच में पारस्परिक निर्भरता नहीं होती। जाति व्यवस्था वर्ण से भिन्न है। ड्यूमो यहां आकर जाति और वर्ण को पृथक करते हैं। इस पृथकता के तीन लक्षण हैं–

1. संस्तरण **(Hierarchy)**
2. पृथकता **(Separation)**
3. अन्तर्निभरता **(Interdependence)**

वास्तव में जाति के ये तीन लक्षण जाति की प्रकृति को बताते है। शुरु में इन लक्षणों को बोग्ले **(Bougle)** ने रखा था और ड्यूमो ने इन्हें ज्यों को त्यों अपना लिया।

वर्ण और जाति में समजातीयता

ड्यूमो आग्रहपूर्वक कहते है कि विश्लेषण के लिये जाति और वर्ण का अन्तर किया जा सकता है। पर वास्तविकता यह है कि ये दोनों ही उच्चोच्च या संस्तरण व्यवस्थाएं है और इन्होंने हिन्दू समाज का खण्डात्मक विभाजन कर रखा है।

3.5.2 संस्तरण का सिद्धान्त– शुद्ध और अशुद्ध (Theory of Hierarchy: Pure Impure)

ड्यूमो का बहुत बड़ा योगदान उनका जाति संस्तरण का सिद्धान्त है। उन्होंने इस सिद्धान्त के निर्माण में भारत में उपलब्ध मानवजाति अध्ययन की तथ्य सामग्री को खूब काम में लिया है। होमो हिरारकिकस में उन्होंने जाति के बारे में जो कुछ कहा है, उसका आधार मानवजाति अध्ययन के आनुभविक तथ्य है। संस्तरण के इस सिद्धान्त को आलोचको ने विभिन्न नामों से परिभाषित किया है। वीणा दास कहती है कि यह हिन्दू विचारों और व्यवहारों का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को 'शुद्ध और अशुद्ध' के विरोध का सिद्धान्त **(Opposition to Pure and Impure)** भी कहा जाता है।

ड्यूमो से पहले फ्रांसीसी विचारक दुर्खीम न धर्म की परिभाषा करते हुए पवित्र और अपवित्र की प्रतिकूलता को रखा था। उन्होंने कहा कि संसार की वे सब वस्तुएं जिन्हें हम आदर की दृष्टि से देखते है, पवित्र है। पेड़, पानी, पृथ्वी आदि हमारे लिये पवित्र हैं और वे वस्तुएं जिन्हें हम उपयोगिता की दृष्टि से देखते हैं, अपवित्र है। हल, इंजन, कपड़े सभी अपवित्र है, हमारे लिये उपयोगी है।

दुर्खीम की परम्परा में ड्यूमो ने जातियों के संस्तरण को शुद्ध और अशुद्ध की विचारधारा से देखा है। पूजन–पाठ, आराधना शुद्ध है और कचरा, गंदगी हटाना अशुद्ध है। वे कहते है कि शुद्ध–अशुद्ध की तुलना में वरिष्ठ या बेहतर है, और अशुद्ध निम्न है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अशुद्ध को हमेशा शुद्ध से पृथक रहना चाहिये। इस तरह की विचारधारा केवल हिन्दू मानस की हो, ऐसा नहीं है। दुर्खीम ने भी ऐसा ही किया था।

अपने इस सिद्धान्त के आधार पर ड्यूमो ने ब्राह्मणों के विवाह और मौत से जुड़े हुए रीति–रिवाजो को शुद्धता के आधार पर देखा है। वे उन रीति–रिवाजों को भी देखते है। ड्यूमो अपने शुद्ध और अशुद्ध के सिद्धान्त को व्यापक रुप में परखा नहीं है। इस कमजारी के होते हुए भी, वे हिन्दू समाज के संस्तरण को इसी सिद्धान्त द्वारा समझते है।

3.5.3 सभ्यताओं की तुलना (Comparision of Civilization)

वे विद्यार्थी जो मानवशास्त्र की परिभाषा देते है, कहते है कि यह समाज विज्ञान मनुष्य जाति का अध्ययन करता है। लघु समुदायों के अध्ययन के आधार पर अन्य समुदायों की तथ्य सामग्री के माध्यम से वृहद् सामान्यीकरण करना मानवशास्त्र का उद्देश्य होता है और यह सब तुलना के बिना नहीं हो सकता। ड्यूमो ने दो भारतीय समाज का अध्ययन इसलिये किया कि वे इस अध्ययन के द्वारा यूरोप या फ्रांसीसी समाज को सफलतापूर्वक समझ सकें।

सीखने का एक तरीका समाज वैज्ञानिक अपनाते है। वे अपने देश के गांवों को समझने के लिये पहले दूसरे देश के गांवों को समझने की कोशिश करते है। कुछ ऐसा ही ड्यूमो न किया। उन्होंने भारतीय सामाजिक संरचना को समझा। यहां की जाति व्यवस्था को निकटता से देखा और फिर यूरोप के समतावादी समाज की व्याख्या की। ड्यूमो की पहली रुचि जाति व्यवस्था को समझने की नहीं थी। इसके माध्यम से वे यूरोप की सामाजिक समता को समझना चाहते थे। सच में देखा जाये तो यूरोप के समाज को समझना उनकी पहली रुचि थी। यूरोप को समझने का रास्ता, उनके हिसाब से भारत होकर जाता था।

ड्यूमो की अध्ययन विधि तुलना थी। इसे उन्होंने मॉस से सीखा था। मॉस प्रथम श्रेणी के तुलनात्मक विधिवेत्ता थे। वे संस्कृत भाषा के भी प्रकाण्ड विद्वान थे। मॉस का ड्यूमो को दिया गया उपदेश– अगर अपने समाज को समझना है, तो पहले दूसरों के समाज को समझो, पूरी तरह समझ में आ गया।

ड्यूमो वस्तुतः यूरोप की सभ्यता को समझना चाहते थे। इसके लिये उन्होंने भारतीय समाज को समझने का प्रयास किया। ड्यूमो ने तुलनात्मक विधि को दो स्तरों पर लागू किया। पहले तो उन्होंने तमिलनाडु में विवाह के अध्ययन को अपना विषय बनाया। इस अध्ययन के आधार पर उन्होंने उत्तर भारत में (गोरखपुर) जाति पर अपने आपको केन्द्रित किया और इससे आगे उन्होंने यूरोपीय समाज को तुलनात्मक रुप से देखा।

दक्षिण भारत की उत्तर से तुलना करने के लिये ड्यूमो ने प्रेमलाई की कल्लार उपजाति को अपने अध्ययन में शामिल किया। यह क्षेत्र तमिलनाडु में है। उन्होंने पाया कि यहां चचेरे–ममेरे विवाह प्रथा लोकप्रिय है। इसमें लड़के या लड़की का विवाह अपनी मां के भाई की लड़की या लड़के के साथ होता है। इस अध्ययन के लिये ड्यूमो ने उपलब्ध मानवजाति तथ्यों की छानबीन की। लेवी–स्ट्रास के तथ्यों को जांच की। इस आधार पर बान्धव सम्बन्धी निष्कर्षों को रखा। अध्ययन के तुरन्त बाद तो कल्लार जाति के इन आंकड़ों की

वे उत्तर भारत से तुलना नहीं कर पाये। यह इसलिये कि यहां ऐसे अध्ययन हुए नहीं थे। ऐसा करना उनके लिये दस वर्ष बाद सम्भव हो सका, लेकिन वे यह बराबर कहते रहे कि जाति व्यवस्था का बुतियादी सिद्धान्त मित्रता का है। यही सिद्धान्त बान्धव व्यवस्था पर भी लागू होता है।

ड्यूमो ने सर्वप्रथम भारतीय समाज की जाति व्यवस्था को समझा। यह व्यवस्था ऊँच–नीच की व्यवस्था है। शुद्ध और अशुद्ध के विरोध की व्यवस्था है और इसे स्पष्ट करने के बाद वे पश्चिमी समाज को उठाते है। यह समतावादी समाज है। इसमें व्यक्ति जिन्दा रहता है। उसकी बात चलती है। जाति व्यवस्था में व्यक्ति गौण हो जाता है, उसका गला रुंध जाता है।

पूर्व और पश्चिम की सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद ड्यूमो अपनी पुस्तक जर्मन आईडियोलॉजी **(German Ideology, 1994)** में फ्रांस और जर्मनी की तुलना को लेते है। प्रबोधन **(Enlightenmist)** फ्रांस में भी आया और जर्मनी में भी, लेकिन जर्मनी में इसे धार्मिक रुप दिया गया और फ्रांस में इसे सांस्कृतिक विधा समझा गया। फ्रांस के लोगों में बराबर राजनीतिक क्रांति का प्रभाव दिखाई देता है।

यह समझना भूल होगी कि ड्यूमो केवल एक भारत विशेषज्ञ थे। देखा जाये तो तुलनात्मक विधि के वे उत्कृष्ट मानवशास्त्री थे।

3.5.4 व्यक्तिवाद (Individualism)

लुई ड्यूमो भारत में एक चर्चित विचारक है। कई समाजशास्त्रियों ने ड्यूमो के साथ सहमति जताई है और कई ने उनका विरोध किया है। यह सब होना स्वाभाविक है। उन्होंने जाति व्यवस्था पर लिखा है और हमारे देश में समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों ने जाति, परिवार और गांव के अतिरिक्त किसी और मुद्दे पर अपनी कलम नहीं चलाई है। ऐसी अवस्था में जब ड्यूमो ने जाति पर लिखने का साहस जुटाया जो यहां के समाज वैज्ञानिक इस चुनौती के लिये तैयार थे।

ड्यूमो ने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि यद्यपि भारत में कई जातियां हैं, यह समाज का खण्डात्मक विभाजन है, फिर भी इन्हें एक सूत्र में बांधने को कार्य संस्तरण व्यवस्था करती है और यह व्यवस्था शुद्ध और अशुद्ध के मूल्यों पर चलती है। ये मूल्य हिन्दू धर्म के है और इससे सम्पूर्ण सामाजिक संरचना एक हो जाती है। इस संस्तरणवादी जाति व्यवस्था को ड्यूमो पश्चिम के समतावादी समाज की तुलना में रखते हैं।

दो समाज है–भारत का जाति समाज और पश्चिम का समता समाज। इन दोनों समाजों के बीच में व्यक्ति का क्या स्थान है। व्यक्ति है, क्योंकि उसका अस्तित्व है। वह तार्किक है– अपने भले–बुरे के बारे में सोचता है, भारत और पश्चिम, दोनों में व्यक्ति के स्थान को लेकर विवाद है। पश्चिमी समाज में व्यक्ति की भूमिका बहुत मुखर है। इधर भारतीय समाज में व्यक्ति गौण है। जाति की आवाज के सामने, उसकी आवाज नहीं उठती। ऐसी अवस्था में ड्यूमो ने व्यक्ति गौण है। जाति की आवाज के सामने, उसकी आवाज नहीं उठती। ऐसी अवस्था में ड्यूमो ने व्यक्तिवाद की चर्चा की है।

व्यक्ति समाज की महत्वपूर्ण कड़ी है (Individual is an Important Link of Society)

हिन्दी साहित्य में एक महत्वपूर्ण उपन्यास रहा है– भगवतीचरण वर्मा का चित्रलेखा। इस उपन्यास का नायक बीज गुप्त है। बड़ा नामी और धरती धुजाने वाला। वह अपने नगर की चित्रलेखा को उसके सामने अकेले में नृत्य करने को कहता है। चित्रलेखा का उत्तर है– वह व्यक्ति के सामने कभी नहीं नाचती। समूह में ही नाचती है और अब बीजगुप्त और चित्रलेखा में विवाद चलता है– मुद्दा है– व्यक्ति समूह से बड़ा है या समूह व्यक्ति से।

ड्यूमो यद्यपि समतावादी समाज की वकालत करते हैं लेकिन व्यक्ति के अस्तित्व को मानते है। जाति समाज में भी व्यक्ति वजनदार होता है। गाँधी जी ने अछूतों के लिये लड़ाई लड़ी। वे व्यक्ति थे और जाति का विरोध कर गये। ऐसा ही कुछ अम्बेडकर ने किया।

ड्यूमो की व्यक्तिवाद में रुचि (Dumont's Interest in Individualism)

जब 1966 में ड्यूमो की पुस्तक होमो हिरारकिकस का फ्रांसीसी भाषा में प्रकाशन हुआ तब उनके विचारों में आया कि व्यक्ति की स्वतंत्रता पर भी लिखा जाना चाहिये और फिर 1977 में उनकी पुस्तक फ्रोम मन्डेविले टू मार्क्स प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में उन्होंने व्यक्ति की भूमिका पर आलोचनात्मक टिप्पणी की। इस पुस्तक के अतिरिक्त उन्होंने अपने फुटकर निबन्धों में भी व्यक्तिवाद पर बहुत कुछ लिखा है।

वे कहते है कि किसी भी समाज में व्यक्ति को समानता मिलनी चाहिये। यह समानता कई प्रकार की हो सकती है। सभी मानते है कि कानून के सामने सभी बराबर है। लिंग, धर्म, प्रजाति, जाति आदि के आधार पर व्यक्ति में भेदभाव नहीं होना चाहिये। इसी तरह आगे बढ़ने के, प्रगति करने के सभी समान अवसर मिलने चाहिये।

समानता का सम्बन्ध व्यक्तिवाद से है (Equality is Related to Individualism)

ड्यूमो बराबर व्यक्तिवाद को समानता के स्तर पर देखते है। उनका तर्क है कि दुनिया भर के मनुष्य समान है। कोई ऊँचा नहीं, और न कोई नीचा। उन्होंने जाति समाज और समतावादी में व्यक्ति को समानता के आधार पर रखा है। ड्यूमो के व्यक्तिवाद की विचारधारा पर विवरण उनकी पुस्तक होमो एक्वेलिस **(Homo Acqualis, 1977)** में को मिलता है। वास्तव में यह पुस्तक व्यक्तिवाद पर आधारित है।

ड्यूमो इस तथ्य से परिचित है कि हम समानता की चर्चा तो बड़ी रुचि के साथ करते है लेकिन यह भूल जाते है कि दुनिया का एक बहुत बड़ा भाग, आज गरीबी से परेशान है। उसके सामने आगे बढ़ने के समान अवसर नहीं है। उसकी समानता केवल एक छलावा मात्र है।

3.5.5 विधि और सिद्धान्त के नये संदर्श (New Perspective on Method and Theory)

ड्यूमो ने भारतीय समाज के अध्ययन में जिस विधि और जिन सिद्धान्तों को अपनाया है, वे उन्हें तुलनात्मक विधि का महान मानवशास्त्री स्थापित करते है। जब हम किसी सिद्धान्त की परिपक्वता की बात करते है तब हमें यह देखना पड़ता है कि सिद्धान्त निर्माण में किस विधि को अपनाया गया है।

ड्यूमो की सैद्धान्तिक रणनीति (Dumont's Theoretical Strategy)

ड्यूमो के भारत से जुड़े कार्यकाल को 1948 से 1970 के बीच माना जाता है। इस अवधि में उन्होंने जाति व्यवस्था और बान्धव सम्बन्धों पर लिखा है। सिद्धान्त की दृष्टि से उनका उपागम एक नया उपागम था। 1960–1965 में जो ग्रामीण अध्ययन भारत में किये गये, से सूक्ष्म अध्ययन थे। उनकी विधि आनुभविक थी। ड्यूमो ने अपने अध्ययन की नई रणनीति अपनाई। उन्होंने वृहद् अध्ययन की शुरुआत की। उपलब्ध सिद्धान्तों को लेकर उन्होंने जाति व्यवस्था का अमूर्तिकरण और सामान्यीकरण किया। उनकी विधि की निम्न विशेषताएं है–

तुलनात्मक विधि (Comparative Method)

ड्यूमो ने अपने अध्ययन के लिये तुलनात्मक विधि को अपनाया है। उनकी लिखावट में लफ्फाजी बहुत अधिक है और इसलिये उनको समझ पाना साधारण पाठक के लिये कठिन हो जाता है। तुलनात्मक विधि को वे विषमता की तुलना भी कहते है। पूर्व और पश्चिम के देशों में विरोध है, दोनों की संस्कृतियां जुदा–जुदा है। इस तुलना को ड्यूमो विषमता की तुलना कहते है। उन्होंने जाति व्यवस्था की तुलना फ्रांस से की है। दोनों पृथक–पृथक सभ्यताएं है। भारत में जाति का संस्तरण है, यूरोप में समतावादी समाज है, भारत में शुद्ध और अशुद्ध के मूल्यों पर जाति व्यवस्था चलती है, फ्रांस में स्तरीकरण है–वर्ग है। ड्यूमो इवान्स–प्रिचार्ड की इस विचारधारा पर चलते है कि अगर अपने समाज को अच्छी तरह से समझना चाहते हैं तो पहले दूसरों के समाज को समझो।

ड्यमो की परम्परा तुलनात्मक विधि की रही है (Dumont's Tradition has been of Comparative Method)

ड्यूमो फ्रांसीसी थे। उन पर बोगले, रोबर्ट हट्र्ज, मारसल मॉस का बहुत बड़ा प्रभाव था। ये सब तुलनात्मक विधि को मानवशास्त्र की विश्वनीय विधि मानते थे। इससे प्रभावित होकर ड्यूमो ने भारत में जाति व्यवस्था का अध्ययन इसी विधि द्वारा किया।

तुलनात्मक विधि मूल्यों की पहचान करने के बाद लागू की जाती है (Comparative Method is Introduced after Indentification of Values)

ड्यूमो के अध्ययन की महत्त्वपूर्ण इकाई मूल्य है। वे सबसे पहले समाज में प्रचलित मूल्यों की पहचान करते हैं। उनकी तुलना आधार मूल्य होते हैं। उन्होंने जातियों में निहित मूल्यों यानी शुद्ध और अशुद्ध की पहचान की और इसी के आधार पर संस्तरण के सिद्धान्त को बनाया। इसी तरह सभ्यता की तुलना भी व्यक्तिवाद के मूल्यों पर की। पश्चिमी सभ्यता में व्यक्ति महत्त्वपूर्ण है और पूर्व में उसका स्थान गौण है।

वास्तविक तुलना विचारधारा की होती है (Real Comparison is of Ideology)

पूर्व हो या पश्चिम, जाति हो या व्यक्ति, तुलना की सबसे बड़ी इकाई विचारधारा होती है। अगर हम ड्यूमो का सही विश्लेषण करें तो इकाई के पीछे जो विचारधारा होती है, उसे समझना होगा। विचारधारा का अर्थ है मूल्यों की व्यवस्था और ये मूल्य विषम होते है। जाति व्यवस्था का संस्तरण शुद्ध और शुद्ध की मूल्य व्यवस्था पर निर्भर है।

3.6 श्रम–विभाजन

ड्यूमो के अनुसार भारतीय सामाजिक श्रम–विभाजन एव आधुनिक आर्थिक व्यवस्था जो कि मूलतः व्यक्तिगत लाभ पर आधारित है, एवं लिसमे सैद्धान्तिक रुप में बाजार सम्पूर्ण व्यवस्था में जहां महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है, में पाये जाने वाले विभाजन को स्पष्ट करता है।

लुई ड्यूमा कहते है कि पुराने समय में जाति–व्यवस्था के व्यावसायिक पक्ष पर अत्यधिक ध्यान दिया गया था एवं जाति–व्यवस्था को औद्योगिक श्रम–विभाजन के आधार पर विश्लेषित करने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

इस प्रकार लुई ड्यूमो का मानना है कि लगभग 1950 के आसपास जितना भी साहित्य उपलब्ध है उस सभी ने इस पक्ष की उपेक्षा की है। ड्यूमो का मानना है कि इसकी जगह विशेषकर गांव में जजमानी व्यवस्था का एक स्वरुप पाया जाता है जिसकी विवेचना भी अनिवार्य ही है।

3.7 जाति एवं व्यवसाय

लुई ड्यूमो ने लिखा है कि जाति व व्यवसाय के मध्य निश्चित रुप से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसे आसानी से नहीं देखा जा सकता। ड्यूमो इस सम्बन्ध में ब्लण्ट के विचारों को प्रस्तुत करते है।

ब्लण्ट ने जाति–व्यवस्था की उत्पत्ति में व्यावसायिक आधार को महत्वपूर्ण मानते हुए इसे रिजसे के प्रजातीय सिद्धान्त से मिलाने का प्रयत्न किया है। आपके अनुसार, जाति–व्यवस्था की उत्पत्ति एक वर्गगत समाज में व्यावसायिक विभाजन उत्पन्न होने की स्थिति से सम्बन्धित है। इसे स्पष्ट करते हुए ब्लण्ट का विचार है कि भारतीय समाज आरंभ से ही बहुत से प्रजातीय समूहों में विभाजित रहा है जिसका आधार प्रजातीय विशुद्धता अथवा प्रजातीय मिश्रण की मात्रा थी । इसी समय यहाँ व्यवसाय के आधार पर अनेक संघों कानिर्माण हुआ जिनमें सभी समूहो के व्यक्तियों को सदस्यता प्राप्त होने लगी। ये संघ शक्तिशाली संगठनों के रुप में विकसित होने लगे और अपने व्यावसायिक ज्ञान को सुरक्षित रखने के लिए इन्होंने अन्तर्विवाह की नीति को अपना लिया। इन व्यावसायिक संघों का रुपइतना व्यापक था कि अनेक जनजातीय समूह भी इनमेंसम्मिलित होने लगे। इसके पश्चात् भी ये जनजातीय समूह केवल अपने समूह में ही विवाह–सम्बंध स्थापित करने पर जोर देते थे। यही कारण है कि जाति–व्यवस्था के अन्तर्गत सभी प्रमुख जातियाँ और उपजातियाँ अपने आप में अन्तर्विवाही है। ब्लण्ट का विचार है कि अधिकतर जनजातियां अपनी उत्पत्ति एक विशेष पर्वूज से मानते हैं। यही कारण है कि जाति–व्यवस्था के अन्तर्गत यद्यपि प्रमुख जातियों का कोई सामान्य पूर्वज नहीं होता, जबकि अनेक उपजातियाँ आज भी अपनी उत्पत्ति किसी विशेष पूर्वज से होने का दावा करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्लण्ट की मान्यता है कि भारतीय समाज में व्यावसायिक विभाजन के उत्पन्न होने से जाति–व्यवस्था की उत्पत्ति हुई। व्यवसाय के आधार पर यहीं अनेक व्यावसायिक संघ बने जिनकी सदस्यता प्रारम्भ में कोई भी व्यक्ति प्राप्त कर सकता था। धीरे–धीरे ये संगठित होने लगे और व्यवसायिक ज्ञान को अपने तक ही सुरक्षित बनाये रखने का प्रयत्न करने लगे। इसी उद्देश्य से उन्होंने अन्तर्विवाह की नीति का पालन किया और ये अपने ही समूह के लोगों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित करने लगे। ये समूह ही बाद में जातियों में बदल गये है। आज भी अन्तर्विवाह जाति की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

ड्यूमो ने जी.एस. घुर्ये के विचारों की विवेचना करते हुए लिखा है कि घुर्ये न भाषायी आधार पर उनकी विवेचना की है। वे कहते है कि घुर्ये के अनुसार हिन्दु जाति समाज में अपने–अपने विशिष्ट नाम वाले अनेक समूह विद्यमान है जातियों के बड़े समूहों में बहुतों के नाम ही ऐसे हैं जो अनेक मुख्य धन्धों या

शिल्पकारियों से निकलते हैं जिनमें वे लगे हुए थे और अधिकांश में अब भी लगे हुए है। ब्राह्मण का अर्थ वह व्यक्ति है जो प्रार्थना क्रिया पद्धति के सूत्रों या मंत्रों का उच्चारण करता है और जो उस समुह को निर्दिष्ट करता हो जिसके सभी सदस्य किसी समय इसी प्रकार से लगे हुए थे, यद्यपि वह नाम या उपाधि उस समूह विशेष की होकर रह गई है जिसके सदस्य पूर्ण तप से पौरोहित्य के कार्य में नहीं लगे हुए हैं, यही तक कि वे ऐसे कार्यों में भी लगे हुए हैं जो मूल आदर्शो के सर्वथा विपरित है।

उन समूहों में जो वाणिज्य–व्यापार करने है अधिकांश 'वणिक' या 'बनिया' नामधारी होते है। यह शब्द संस्कृत से निकला हुआ है और इसका अर्थव्यापारी होता है ऐसा प्रतीत होता हैकि तामिल चेट्टी भी उस भाषायी प्रदेश में इसी समूह के धन्धे का संकेत करता है। पंजाब के जात का अर्थ कृषक होता है। ऐसा ही अर्थ तामिल के वेल्लाल तथा कन्नड़ प्रदेश के वक्कलिंग का है। कुर्मी तथा कुणबी भी सम्भवतः उस समूह का व्यवसाय यानि कृषि सूचित करते हैं, यद्यपि यह भी सम्भव नहीं कि इन नामों का मूल जन–जातियों से सम्बद्ध हो। उत्तर भारत मेंकृषि करने वाले जाति का नाम किसान है। यह अवश्य ही कृषि के द्योतक संस्कृत शब्द सेनिकला है। कभी–कभी कृषि का संबंध अप्रत्यक्ष रुप से जोड़ा जाता है जैसे मध्य–प्रांत मेंलोधा नाम से प्रकट होता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह नाम मिट्टी का ढेला यालोंदा फाँदने वाला गँवार संस्कृत शब्द 'लोह' यानी 'लोंदा' से निकला है और कृषक का संकेत करता है। मवेशी यानी गाय–बैल पालने वाला समूह ग्वालों या ग्वाला है महत्वपूर्ण नाम कोधारणा करता है जो संस्कृत के 'गो' शब्द से निकला है सोनी या सोनार जो स्वर्णकार जाति का नाम है उस पदार्थ का संकेत करता हैजिसका यह समहू विशेषज्ञ होता है। बढ़ाई, तर्खन, ल्च्छन तथा सुतार विभिन्न भाषायी प्रदेशों में काष्ट–कर्म–कुशल जाति की उपाधियां है और येउस पदार्थ को जिस पर कार्यकिया जाता है, उसकीशिल्प–विधि, या उस शिल्प के विशिष्टयन्त्रों एवं औजारों को सूचित करती हैं। धातु का काम करने वाली जातियों के नाम जैसेलोहार, ताँबत, कसार तथा ठठेरा उस धातु से निकलते है जिसका उपयोग ये समूह करते हैं, जैसे लोहा, ताँबा काँसा तथा पीतल। बननर, जोडिया तांति, कोष्टि, पटक, पट्टानलुकरण तथा सॉल बनुकर यानी – वयनजीवी जातियों के नाम है। प्रथम दो नामों की उत्पत्ति तार जोडने से अथवा रेशमी वस्त्र के संस्कृत शब्द से निकली है। कुम्भार या कुम्बार कुम्हार जाति का नाम है और इसका अर्थ होता है कि वह व्यक्ति जो कुम्भ पकाता हैतिली या तेली या तेल पेरने वालेका अर्थ या तो तेल निकालने वाला होता है या वह व्यक्ति जो तिल का व्यापार करता हो।नाई जाति का नाम या तो नाई के संस्तुत पर्याय से निकला है या इसका अर्थ बाल काटने वाला होता है। लुनिया तथा आगरी का अर्थ नमक बनाने वाला होता है । बारी यानी पत्तलें बनाने वाली जाति का नाम बारयानी पत्ते–पौधों से निकाला है और तम्बोली यानी पान बेचनेवाले का नाम पान के पर्यायवाची संस्कृत शब्द 'ताम्बूल' से बना है धारकार का अर्थ है रस्सीबनाने बाला और बाँस फोड का अर्थ है बाँस चीरकर टोकरियाँ बनाने वाला। चमार या चाभार यानी चमड़े समानार्थक संस्कृत शब्द चर्म से निकला। उत्तर भारत में एक जाति का नामकहार है –इसका अर्थ जल लाने वाला होता है। प्राचीन समय में यह जाति केवल जल लाने में लगी रहती थी, परन्तु अब वह सामान्य तथा घरेलू भृत्यों या सेवकों पर लागू होता है। पासी काअर्थ पाश का उपयोग करने वाला होता है। यह मुख्यतः आदिवासी जाति का नाम है, जो जंगली पक्षियों तथा छोटे–छोटे आखटे के पशु–पक्षियों को पकड़ कर तथा ताड़–खजूर आदि के वृक्ष काटकर अपनी जीविका उपार्जित करती है। भेड़े चराने वाली जाति का अर्थ भेड़ के पर्यायवाची शब्द से निकला हुआ प्रतीत होता है। कम से कम गड़रिया शब्द तो ऐसा ही है जो गाडर शब्दसे बना है, जो प्राचीन हिन्दी में भेड़ के लिए व्यवहृत होता था।

इन विराट समूहों मे कतिपय ऐसे है जो जातियाँ कहलाते है और जिनके नाम या तोजन जातियां या नस्लों से सम्बद्ध है। उदाहरण के रुप में अरोडा, गूजर, लुहाण भोटिया गौना, भील, डोम, आरॉव मुण्डा, न्थाल, अहीर, महार, मराठा, गोण्ड, खोड़ आदि नाम विद्यमान है।

3.8 जजमानी व्यवस्था

इसके बाद लुई ड्यूमो जजमानी प्रथा पर अपने विचार प्रस्ततु करते है। वे बताते है कि सामाजिक स्तरीकरण के लिए भारत में पायी जाने वाली जजमानी प्रथा को समझे बिना सामाजिक स्तरीकरण की विवेचना नहीं की जा सकती। विलियम वाइजर ने सबसे पहले ग्रामीण भारत में जजमानी प्रथा का उल्लेख किया है आस्कर लेविस ने जजमानी प्रथा की विवेचना करते हुए लिखा है कि 'जजमानी व्यवस्था में गांवों में प्रत्येक जाति समूहों से अन्य जातियों के परिवारों को भी कुछ निश्चित सीमाओं की आशा की जाती है। गांवों में–लकड़ी की चीजें बनाता है, लुहार लोहै के औजार बनाता है, एवं नाई बाल काटता है किन्तु वे अपनी सेवाएं सभी व्यक्तियों को प्रदान न करके केवल उन्हीं परिवारों को प्रदान करते है, लिनसे उनके परिवार के सम्बन्ध चले आ रहे है व्यक्ति के पिता ने भी उन्हीं परिवारों की सेवा की होगी और उसका लड़का भी उन परिवारों के लिए कार्य करता है। इस प्रकार यह व्यवसाय और सीमायें जाति के आधार पर परम्परागत रुप से चलती रही है और जजमानी प्रथा में जिस परिवार की सेवा की जाती है वह परिवार अथवा परिवार का मुखिया सेवा करने वाले कस जजमान कहलाता है। इन शब्दों का प्रयोग उत्तरी पश्चिमी भारत में किया जाता है। भारत के अन्य भागों में जहां यह प्रथा पाई जाती है, कमीन के दूसरे नाम भी प्रचलित हैं जजमानी प्रथा को महाराष्ट्र में 'ब्लूटे' मद्रास में 'मद्रास' और मैसूर में 'अद्दे' कहते हैं। वाइजन ने जजमानी प्रथा को परिभाषित करते हुए लिखा है 'इस प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक जाति का कोई निश्चित कार्य पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है। इस कार्य पर उसका एकाधिकार होता है। इसमें एक जाति दूसरी जाति की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।' श्री रेड्डी का मत है कि जजमानी अवस्था में पुश्तैनी तौर पर एक जाति का सदस्य दूसरी जाति को अपनी सेवाएं परम्परागत आधार पर प्रदान करता है। ये सेवा–सम्बन्ध जो पुश्तैनी तौर पर शासित होते हैं, 'जजमान–कमीन सम्बन्ध कहलाते हैं।

वेबस्टर शब्दकोष में लिखा है, 'जजमान एक ऐसा व्यक्ति है जिसने धार्मिक सेवाओं के लिए ब्राह्मणों को किराये पर लिया है, इस तरह वह एक संरक्षक कार्यार्थी है।

जजमान शब्द संस्कृत के यजमान से लिया गया है जिसका अर्थ यज्ञ करने वाले से था। क्रमशः यह शब्द उन सभी के लिए प्रयुक्त होने लगा जो कि सेवा के रुप में किसी से भी काम कराते थे। इस प्रकार जजमानी प्रथा में मुद्रा का विनिमय कम होता है क्योंकि वह खुली बाजार अर्थव्यवस्था नहीं है और न ही जजमान के कमीन के सम्बन्ध पूंजीवादी व्यवस्था की तरह सेवायोजक एवं सेवाकारी की तरह है। जजमान अपने कमीन को समय–समय पर नकद या अनाज में भुगतान करता है कमीन को सेवा के बदले भोजन, वस्त्र निवास स्थान तथा कुछ औजारों का उपयोग करने एवं कच्चे माल की सुविधाएं प्राप्त होती है। ये सुविधाएं इस व्यवस्था को सृदढ़ बनाती है। आज जबकि मुद्रा का उपयोग बहुत बढ़ गया है फिर भी किसान अनाज में भुगतान करना अच्छा समझते है।

लुई ड्यूमो ने श्रम विभाजन के रुप में सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया जिसमें वे जाति एवं व्यवसाय की प्रमुखता से विवेचना करते है तथा इस सम्बन्ध में ब्लंट एवं घर्ये के विचारों को प्रस्तुत करते है। ड्यूमो का मानना है कि जाति का व्यवसाय से अनिवार्यतः सम्बन्ध है और जाति की पद सोपानिक

व्यवस्था को व्यावसायिक विभाजन के आधार पर स्पष्टतः समझा जा सकता है। यद्यपि ऐसा करने में हमें भारतीय जाति–व्यवस्था के परम्परागत रुप को ध्यान में रखना होगा। इसी प्रकार ड्यूमो जजमानी व्यवस्था को भी पद सोपानिक व्यवस्था में एक परम्परागत श्रम–विभाजन के महत्वपूर्ण आधार के रुप में स्वीकार करते है और इसी के साथ वे प्रभुत्व जाति की अवधारणा की विवेचना करते है। ड्यूमो के अनुसार प्रत्येक गांव में एक या कुछ जातियां ऐसी होती है जो गांव की अन्य जातियों से अनेक आधारों पर श्रेष्ठ होने का दावा करती है, और वे आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति की स्वामी तो होती ही है साथ ही साथ उनके पास जीवन निर्वाहक साधनों का भी प्रभुत्व होता है। यही जातियां गांव के बारे में प्रमुख रुप से निर्णय लेती है और शक्ति संरचना में महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

3.9 प्रभाव जाति की अवधारणा

भारतीय गांवों में सामाजिक संस्तरण का मुख्य आधार जाति प्रथा है। यही विभिन्न जातियां जजमानी प्रथा द्वारा आर्थिक रुप से एक–दूसरे पर निर्भर रही है। निम्न एवं उन जातियों के पारस्परिक सम्बन्ध भूस्वामी और काश्तकार, मालिक और सेवक, साहूकार और ऋण लेने वाले, संरक्षक और मातहत, आदि के रुप में भी पाये जाते है। जातियों के पारस्परिक सम्बन्धों एवं ग्राम एकता को समझने के लिए प्रभाव जाति, की अवधारणा को समझना आवश्यक है। यह अवधारणा गांव की राजनैतिक व्यवस्था, शक्ति एवं न्याय व्यवस्था और प्रभुत्व को समझने में भी योगदान देती है।

(1) संख्यात्मक शक्ति, (2) आर्थिक व राजनैतिक प्रभुत्व, (3) जातिय संस्तरण की प्रणाली में उच्च सामाजिक स्थिति, (4) आधुनिक शिक्षा एवं नवीन व्यवसाय, (5) गांव की एकता न्याय और कल्याण के लिए कार्य।

(1) संख्यात्मक शक्ति (Numerical Strength) – प्रभु जाति का सर्वप्रमुख आधार उसकी संख्यात्मक शक्ति है। 'प्रभु जाति, गांव में अथवा क्षेत्र में अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक संख्या में होती है। संख्या में अधिक होने से वह अन्य जातियों पर अपना प्रभुत्व रखती है। अल्पसंख्यक जातियों को उसकी शक्ति के सम्मुख झुकना होता है और कई बार तो प्रभु जाति उन पर अत्याचार भी करती है। अल्पसंख्यक जातियां ऐसी स्थिति में प्रभु जाति का विरोध भी करती है।

(2) आर्थिक व राजनैतिक प्रभुत्व (Economic and Political Dominance)– क्षेत्र अथवा गांव में प्रभाव जाति आर्थिक एवं राजनैतिक शक्ति रखती है। उसके पास गांव की सर्वाधिक भूमि होती है जिस पर अन्य जातियों के लोगों द्वारा काम करवाया जाता है। इस प्रकार अन्य जातियां प्रभु जाति पर आर्थिक रुप से निर्भर होती है। आर्थिक निर्भरता राजनैतिक प्रभुत्व को भी जन्म देती है। चुनाव के समय प्रभु जाति अपने आश्रितों के मत प्राप्त करने में सक्षम होती है। कभी–कभी वह राजनैतिक शक्ति एवं पद पाने के लिए बल का प्रयोग और डराने–धमकाने का कार्य भी करती है। गांव में प्रभु जातियां राज्य विधानसभा और लोकसभा के चुनावों में 'वोट बैंक' का कार्य करती है।

(3) जातीय संस्तरण की प्रणाली में उच्च सामाजिक स्थिति (Higher Status in Caste Hierarchy)– प्रभाव जाति के लिए यह आवश्यक है कि वह जाति व्यवस्था में अपना ऊँचा स्थान रखती हो। कोई भी निम्न जाति नहीं पायी गयी है क्योंकि सामाजिक संस्तरण में जातियों की पवित्रता भी एक महत्वपूर्ण पक्ष रहा है। कई बार एक निम्न जाति संख्या में अधिक होने अथवा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने पर भी गांव में प्रभु जाति का स्थान इसलिए ही नहीं ले पाती कि वह जाति संस्तरण में निम्न स्तर पर है।

(4) आधुनिक शिक्षा एवं नवीन व्यवसाय (Modern Education and New Occupations)– गांव में प्रभाव जाति अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक शिक्षित होती है। वह नवीन व्यवसायों और नौकरियों में लगी होती है। शिक्षित होने के कारण उसका सम्पर्क राजकीय अधिकारियों से होता है। इन सब बातों का अन्य जातियों पर प्रभाव पड़ता है और वे प्रभु जाति का दबदबा मानती है।

(5) गांव की एकता न्याय और कल्याण के लिए कार्य (Administration of Justice, Unity and Welfare for the Whole Community)– प्रभाव जाति गांव की एकता को बनाये रखने में योग देती है और ऐसे कार्य करती है जिससे सारे समुदाय की भलाई हो। यह सारे गांव में झगड़े निपटाने एवं न्याय का कार्य भी करती है। प्रभु जाति अन्य जातियों के नियमों का सम्मान करती है। अन्य जातियों के विवाद हल करने के लिए प्रभु जाति के वयोवृद्ध व्यक्तियों के पास लाये जाते है; प्रभु जाति निष्पक्ष और तटस्थ होती हैं केवल वे मामले ही जो जाति से सम्बन्धित होते है, पास के गांवों में रहने वाले अपनी जाति के वयोवृद्ध व्यक्तियों के पास ले जाते है। सार्वजनिक उत्सवों एवं सभाओं में प्रभु जाति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

प्रभु जाति की अवधारणा का महत्व बताते हुए ड्यूमा कहते है कि ''प्रभुत्व की अवधारणा अथवा प्रभु जाति, भारत में सामाजिक मानवशास्त्र के क्षेत्र में किये गये अध्ययनों की दृढ़ लाभदायक उपलब्धि का प्रतिनिधित्व करती है।

3.10 निष्कर्ष

जैसा कि हमने इस इकाई में अध्ययन किया कि लुई ड्यूमा का भारतीय समाजशास्त्र में विशेष योगदान दिया है। ड्यूमा भारतीय विद्याशास्त्री परिप्रेक्ष्य के प्रमुख समर्थक माने जाते है। ड्यूमा ने सामाजिक व्यवस्था का विधिवत ढ़ग से अध्ययन किया तथा जाति व्यवस्था के अपने अध्ययन में भारत विद्याशास्त्रीय दृष्टि और संरचनात्मक उपागम दोनों प्रयोग किया है और 'भारत के समाजशास्त्र' को समाजशास्त्र एवं भारत विद्याशास्त्र के संगम पर स्थापित करने का प्रयास किया है। ड्यूमा के अनुसार भारत एक ऐसा धार्मिक समाज है जो जाति व्यवस्था की शुद्ध असमानता व्यवस्था से परिचालित है और असमानता पवित्रता और अपवित्रता की विरोधी वैचारिकी पर आधारित है। लुई ड्यूमो ने श्रम विभाजन के रुप में सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया जिसमें वे जाति एवं व्यवसाय की प्रमुखता से विवेचना करते है।

3.11 अभ्यासर्थ प्रश्न

1. ड्यूमो का भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का विश्लेषण कीजिए।
2. ड्यूमो का भारतीय समाजशास्त्र को योगदान का वर्णन कीजिए।
3. प्रभाव जाति की अवधारणा को ड्यूमो ने किस प्रकार प्रस्तुत किया है।
4. ड्यूमो द्वारा प्रतिपादित जजमानी सम्बन्धों को लिखिए।

3.12 संदर्भ ग्रन्थ

- हिरारकी एण्ड मैरिर एलायन्स इन साउथ इंडिया, 1954 (Hierarchy and Marriage Alliance in South Kinship, 1954)
- होमो हैरारकी, 1970 (Homo Hierarchicus, 1970)

- रिलीजन पोलिटिक्स एंड हिस्ट्री इन इडियाः फ्रोम मेंडविले टू मार्क्स, 1970 (Religion Polities and History in India:Mandeville to Marx, 1970)
- ऐसेज ऑन इन्डीविजुअलिजम, 1986 (Essays on Indiviualism, 1986)
- ला आईडियोलिजी एलमन्डे, 1994 (L'ideologie Allmande, 1994)

इकाई–04

एम0 एन0 श्रीनिवास (M.N.Srinivas)

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 संस्कृतिकरण–अवधारणा
4.3 संस्कृतिकरण की विशेषताएँ
4.4 संस्कृतिकरण व ब्राह्मणीकरण में अंतर
4.5 संस्कृतिकरण के कारक
4.6 प्रभु जाति
4.7 प्रभु जाति की विशेषताएँ
4.8 भारत की कुछ प्रभु जातियाँ
4.9 प्रभु जाति की अवधारणा की आलोचना
4.10 धर्मनिरपेक्षीकरण–अवधारणा
4.11 धर्मनिरपेक्षीकरण का अर्थ एवं परिभाषा
4.12 धर्मनिरपेक्षीकरण के आवश्यक तत्व
4.13 धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण
4.14 धर्म निरपेक्षीकरण का प्रभाव एवं परिवर्तन
4.15 आधुनिकीकरण–अवधारणा
4.16 अर्थ एवं परिभाषा
4.17 आधुनिकीकरण की विशेषताएँ
4.18 भारत में आधुनिकीकरण
4.19 भारत में आधुनिकीकरण के कारण
4.20 भारत में आधुनिकीकरण के परिणाम
4.21 पश्चिमीकरण–अवधारणा
4.22 पश्चिमीकरण की विशेषताएँ
4.23 पश्चिमीकरण एवं परिवर्तन
4.24 सारांश
4.25 शब्दावली
4.26 अभ्यास प्रश्न
4.27 संदर्भ ग्रंथ सूची
4.28 उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.29 निबंधात्मक प्रश्न

4.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई में अध्ययन के उपरान्त आप

- एम0 एन0 श्रीनिवास के जीवन से परिचित होंगे।
- समाजशास्त्र व मानवशास्त्र के क्षेत्र में उनके योगदान को समझ पायेंगे।
- इस योगदान के लिए उन्हें प्राप्त स्वदेशी–विदेशी पदकों की जानकारी प्राप्त करेंगे।
- समझ पायेंगे कि संस्कृतिकरण, लौकिकीकरण व प्रभुजाति, आधुनिकीकण व पश्चिमीकरण के संबंध में श्रीनिवास की विचारधारा क्या है?

4.1 प्रस्तावना

भारतीय समाचाशास्त्रियों में प्रो0 ए0एन0श्रीनिवास का नाम अग्रणीय है। कर्नाटक के मूल निवासी श्रीनिवास का पूरा नाम मैसूर नरसिंहराव श्रीनिवास है। 16 नवम्बर 1916 को मैसूर में जन्में श्रीनिवास की प्रारम्भिक शिक्षा मैसूर के स्थारनीय शिक्षण संस्थाओं में हुई। स्नातकोत्तर की डिग्री प्रो0 जी0 एस0 घुरये के मार्गदर्शन में सम्पनन कर पी0ए0डी0 की डिग्री मुम्बई विश्वविद्यालय से प्राप्त की तत्पश्चात् आगे की पढ़ाई के लिए ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय लन्दन में गये और 1951 में पुन' भारत लौटकर बड़ौदा एवं दिल्ली विश्वविद्यालय में (Delhi school of Economics) समाजशास्त्र व सामाजिक मानवशास्त्र विभागों में अपनी सेवाएँ देकर सफलतापूर्ण संचालन किया।

पदक एवं उपलब्धियां– प्रो0 श्रीनिवास अनेक पदक और उपाधियों से सम्मानित किए गए जैसे–

1. रीवर्स हक्सले मैडल–रायल एन्थ्रोपॉलॉजिकल इंस्टीट्यूट इंग्लैंड द्वारा।
2. कला एवं विज्ञान के लिए फैलोशिप–अमेरिका द्वारा।
3. फैलाशिप–ब्रिटिश अकादमी द्वारा
4. पद्मभूषण–भारत सरकार द्वारा

मुख्य रचनाएँ–

- रिलिजन एवं सोसाइटी अमंग द कुगर्स ऑफ साउथ इण्डिया, 1952
  (The religion and society among the coogars south india-1952)
- कास्ट इन मार्डन इण्डिया एण्ड अदर ऐसेज–1962
  (Caste and modern india anD other essays-1962)
- सोशल चेंज इन मार्डन इण्डिया–1973
  (Social change in Modern India- 1973)
- द रिमेनबर्ड विलेज–1976
  (The remainbard villiage-1976)
- मैरिज एण्ड फेमिली इन मैसूर–1942
  (Marriage and Family in Mesoor-1942)
- द डोमिनेंट कास्ट एण्ड अदर एसेज–1998
  (The Dominant Caste and other Essays-1998)

जहाँ तक आधुनिकीकरण का प्रश्न है। यह परिवर्तन की नयी प्रक्रिया है, जिसमें कुछ परिवर्तनशील मूल्यों का समावेश होता है। और इससे किसी परम्परागत अथवा पिछड़े समाज में प्रौद्योगिक विकास, धर्मनिरपेक्षता, लौकिकता, स्वतंत्रता एवं गतिशीलता जैसी विशेषताओं के प्रभाव में वृद्धि होने लगती है।

इसी प्रकार संक्षिप्त रूप में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया, पश्चिमीकरण के प्रभाव से उत्पन्न होती है। नैतिक रूप से तटस्थ व जटिल प्रक्रिया के रूप में पश्चिमीकरण परिवर्तन अच्छे या बुरे होने को, बल्कि इसका संबंध प्रत्येक उस परिवर्तन से है, जिसमें पश्चिमी समाजों के अनुकरण का बोध होता है।

यहाँ पर मुख्य रूप से एम0 एन0 श्रीनिवास के तीन अध्ययनों–संस्कृतिकरण (Sanskritization) धर्मनिरपेक्षीकरण / लौकिकीकरण (Secularization) एवं प्रभुजाति (Dominant Caste) पर केन्द्रित है। इसके साथ ही आधुनिकीकरण एवं पश्चिमीकरण का भी अध्ययन किया जायेगा।

4.2 संस्कृतिकरण (Sanskritization)

भारत में सामाजिक परिवर्तन के संबंध में जो अवधारणाएं विकसित हुई है। उनमें एम0एन0श्रीनिवास की संस्कृतिकरण की अवधारणा का विशेष महत्व है। उन्होंने अपनी पुस्तक **Social Change in Modern India** में लिखा है–''संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा कोई निम्न हिन्दू जातियाँ या जनजातियाँ अथवा अन्य समूह किसी उच्च और प्रायः द्विज जाति की दिशा में अपने रीति–रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन पद्धति को बदलता है।'' प्रारम्भ में श्रीनिवास ने इस स्थिति को 'ब्राह्मणीकरण' नाम से संबोधित किया।

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को संक्षेप में निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझने का प्रयास करेंगे–

- संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के माध्यम से काई भी जाति या समूह अपने से उच्च जाति (विशेषतः द्विज जाति) के रीति–रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और मूल्यों को अपनाने का प्रयास करता है।
- ऐसा करने से निम्नजाति, जनजाति या समूह के रीति–रिवाज व जीवन शैली में उल्लेखनीय परिवर्तन होते हैं।
- संस्कृतिकरण द्वारा निम्न स्तर की जाति समूह सामाजिक सोपान में वर्तमान से उच्च स्थिति **Higher status** प्राप्त करने का प्रयास करता है। जिसके फलस्वरूप जातीय या सामाजिक संस्तरण **social Stalification** और संरचना **(Structure)** में भी उसी अनुरूप परिवर्तन होता जाता है।
- सामान्य रूप से संस्कृतिकरण एक जाति को जातीय संस्तरण में ऊँचा पद प्राप्त करने योग्य बनाती है।
- यह जातीय आधारों में खुलापन लाकर जातीय गतिशीलता को सम्भव बनाती हैं
- संस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा लाया गया परिवर्तन जीवन के ढंग (way of life) से लेकर सामाजिक स्थिति तक हो सकता है।
- श्रीनिवास के अनुसार ब्राह्मण आदर्श के अतिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र आदर्श भी संस्कृतिकरण के आदर्श हो सकते हैं।

उपरोक्त आधार पर स्पष्ट है कि संस्कृतिकरण का अर्थ पवित्र एवं लौकिक जीवन से संबंधित नये विचारों एवं मूल्यों को प्रकट करना है। जिनका विवरण संस्कृति के विशाल साहित्य में बहुधा देखने को मिला है। अतः संस्कृतिकरण नवीन एवं अधिक उत्तम विचार, आदर्श मूल्य, आदत तथा कर्मकाण्डों को अपनाकर अपनी जीवन स्थिति को अधिक उन्नत व परिमार्जित बनाने की ही एक प्रक्रिया है।

4.3 संस्कृतिकरण की विशेषताएँ (Characterstics of Sanskritization)

- संस्कृतिकरण की प्रक्रिया सार्वभौमिक है।
- संस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा सामाजिक पद में परिवर्तन के लिए एक निम्न जाति दो या दो से अधिक पीढ़ी पहले अपना संबंध किसी उच्च जाति से जोड़ती है।
- योगेन्द्र सिंह के अनुसार यह एक अग्रिम समाजीकरण (Anticipatory Socialization) हैं, जिसमें निम्न जाति किसी उच्च जाति की संस्कृति को इस उम्मीद से अपनाती है कि उसे उस जाति में सम्मिलित कर लिया जायेगा।
- संस्कृतिकरण की प्रक्रिया सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तन की सूचक है।
- संस्कृतिकरण अनेक अवधारणाओं का गुच्छा है। इसमें ब्राह्मणीकरण, परसंस्कृतिकरण, अग्रिम सामाजीकरण, अनुकरण आदि सभी धारणाओं के तत्व मौजूद हैं।
- संस्कृतिकरण में राजनीतिक शक्तियों का महत्व भी परिलक्षित होता है, क्योंकि एक क्षेत्र से सत्ता प्राप्त कर लेने के पश्चात् दूसरे क्षेत्र के लिए प्रयास किया जाता है।
- संस्कृतिकरण सामाजिक गतिशीलता की एक सामूहिक प्रक्रिया (coprate-Process) है न कि व्यक्तिगत अर्थात् इसका संबंध किसी व्यक्ति या परिवार विशेष के जीवन में चलने वाली प्रक्रिया से नहीं है।
- संस्कृतिकरण को एक प्रकार का विरोधी आंदोलन (Protest Movement) कहा जा सकता है, जिसमें एक ऐसी प्रतिस्पर्द्धा की प्रक्रिया चलती है। जिसके अंतर्गत अपने से ऊँची सामाजिक स्थिति को प्राप्त कर लेने की कोशिश की जाती है।
- संस्कृतिकरण की प्रक्रिया संदर्भ समूह (Reference Group) से मिलती जुलती है।

4.4 संस्कृतिकरण व ब्राह्मणीकरण में अंतर (Differences between sanskritazation and Brahminization)

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है कि एम0 एन0 श्रीनिवास ने 'ब्राह्मणीकरण' शब्द का उपयोग किया था, लेकिन योगेन्द्र सिंह ने संस्कृतिकरण को ब्राह्मणीकरण की तुलना में अधिक व्यापक अवधारणा बतलाया। अतः दोनों के अन्तर को निम्नवत् स्पष्ट किया जा सकता है–

1. ब्राह्मणीकरण में केवल ब्राह्मणों की जीवन पद्धति का ही अनुकरण किया जाता है, जबकि संस्कृतिकरण में क्षत्रिय वैश्य तथा अन्य प्रभु जातियाँ भी हैं।
2. संस्कृतिकरण ब्राह्मणीकरण की अपेक्षा अधिक विस्तृत एवं व्यापक अवधारणा है।
3. ब्राह्मणीकरण शब्द का प्रयोग संस्कृतिकरण के पूर्व में किया गया था।
4. ब्राह्मणीकरण की अपेक्षा संस्कृतिकरण जातीय परिवर्तनों को इंगित करता है।

4.5 संस्कृतिकरण के कारक (factors of Sanskritzation)

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को बढ़ाने वाले कारकों कों निम्नवत् समझा जा सकता है–

1. यातायात व जनसंचार साधनों में क्रांन्तिकारी परिवर्तन।
2. समाज की पिछड़ी जातियों के उत्थान के निमित्त आर्थिक सुधार कार्यक्रमों के फलस्वरूप पिछड़ी जातियों द्वारा स्वयं की जीवन शैली को प्रभुत्व सम्पन्न जातियों के अनुरूप बनाना।

3. शिक्षा एवं पाश्चात्य शिक्षा।
4. सामाजिक सुधार आन्दोलन नवीन संविधान एवं कानून एवं प्रजातांत्रिक मूल्य व्यवस्था।
5. नगरीकरण, धार्मिक तीर्थस्थल।
6. राजनीतिक व्यवस्था।

4.6 प्रभु जाति (Dominant caste)

प्रो0 एम0 एन0 श्रीनिवास ने सन् 1959 में मैसूर के रामपुरा गांव का अध्ययन करने के पश्चात सर्वप्रथम 'प्रभुजाति' की अवधारणा को विकसित किया। प्रभु जाति के प्रबल जाति, प्रभुता सम्पन्न जाति, प्रभावी जाति तथा संरक्षक जाति आदि अनेक नामों से जाना जाता है। ये सभी शब्द एक ग्रामीण समुदाय के अन्तर्गत किसी ऐसी जाति समूह का बोध कराते हैं, जिनके द्वारा गाँव में पारस्परिक संबंधों तथा ग्रामीण एकता को बड़ी सीमा तक प्रभावित किया जाता है।

एम0 एन0 श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन विलेजेज' (Indian villages) में प्रभुजाति को परिभाषित करते हहुए लिखा है,''एक जाति तब प्रभु जाति कही जाती है। जब वह संस्था के आधार पर गाँव अथवा स्थानीय क्षेत्र में शक्तिशाली हो और प्रभावशाली हो और आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति रखती हो। यह आवश्यक नहीं कि वह परम्परागत जाति क्रम सोपान में सर्वोच्च जाति की हो।''

4.7 प्रभु जाति की विशेषताएँ (Characteristics of Dominant caste)

प्रभु जाति को व्यापक रूप से समझने के लिए निम्न विशेषताओं को समझना आवश्यक है–

(1) आधुनिक शिक्षा एवं नवीन व्यवसाय (Modern Education and new Occupation)– शिक्षा एवं नवीन व्यवसाय को प्रभु जाति के निर्धारण का एक महत्वपूर्ण तत्व स्वीकार किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में आज जिस जाति के अधिक सदस्यों ने आधुनिक शिक्षा प्राप्त करके अपने परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर सरकारी या अन्य नौकरियों में स्थान प्राप्त कर लिया है। उनका अन्य जातियों पर प्रभुत्व स्थापित हो गया है। सामाजिक व शैक्षिक होने के कारण उनका सम्पर्क प्रशासनिक अधिकारियों के साथ होता है। जिसका प्रभाव अन्य जातियाँ भी मानती हैं।

(2) आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभुत्व (Economic and Political Dominance)– क्षेत्र एवं गाँवों में प्रभु जाति आर्थिक व राजनीतिक दृष्टिकोण से अपना प्रभुत्व रखती है। गांव में अधिक भूमि उसके पास होती है जिस पर लोगों को पारिश्रमिक देकर कार्य कराया जाता है। उदाहरणार्थ– मैसूर के वानगल और डोलाना गाँवों में वहाँ की ओक्कालिंगा प्रभुजाति के पास गाँव की 80 प्रतिशत, गुजरात के कसेंद्रा गाँव के बघेल राजपूतों के पास गाँव की सारी भूमि थी, जो सम्पन्नता का प्रतीक थी। प्रभु जातियाँ इसी सम्पन्नता के कारण अन्य लोगों को ऋण देने में सक्षम थीं, जिस पर गाँव के अन्य जाति के व्यक्ति पर निर्भर होते थे।

(3) जाति व्यवस्था में उच्च सामाजिक स्थिति– (Higher Status in Caste Hierachy)–जाति संस्तरण में प्रभु जाति अपना स्थान उच्च रखती है। यह भी इसकी विशेषता है। भारतीय व्यवस्था में कोई भी निम्न प्रभु जाति नहीं पायी जाती हैं, क्योंकि सामाजिक व्यवस्था में जातियों की प्रतिष्ठा व अस्पृश्यता का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

(4) जनसंख्यात्मक शक्ति (Numerical strength)– प्रभु जाति के निर्धारण का एक महत्वपूर्ण आधार किसी गाँव अथवा क्षेत्र में एक विशेष जाति के सदस्यों की अधिक संख्या होना है। पहले यह आधार परम्परागत ग्रामीण समाजों में महत्वपूर्ण था, लेकिन जनतांत्रिक युग में इसका महत्व और बढ़ गया है। इलिएट ने अपने अध्ययन में प्रभु जाति के निर्धारण में जनसंख्यात्मक शक्ति को महत्वपूर्ण मानते हुए स्पष्ट किया है–कि प्रभु जाति की राजनीतिक शक्ति उसकी जनसंख्या के आधार पर ही निर्धरित होती है।'' इसी प्रकार के0 एल0 शर्मा ने सबलपुरा गाँव के अध्ययन के आधार पर स्पष्ट किया कि–''यहाँ जाट सर्वाधिक संख्या होने के कारण प्रभु जाति के अन्तर्गत सम्मिलित हैं।''

(5) सम्पूर्ण गाँव की एकता, न्याय एवं कल्याण के लिए कार्य करना (Administration of Justice, unity and welfare for the whole Community)– प्रभु जाति गाँव की एकता बनाये रखने में अपना योगदान देती हैं, और ऐसे कार्यकरती हैं, जिसमें सारे समुदाय की भलाई हो। अन्य जातियों के नियमों का सम्मान करते हुए निष्पक्ष व तटस्थ रूप से गांव में न्यायपूर्ण कार्य करना प्रभु जाति की विशेषता रही है।

उपरोक्त विशेषताओं का सारांश निम्नवत् समझा जा सकता है–

- कृषि योग्य भूमि के एक बडे भाग पर स्वामित्व होना।
- संख्या में अधिक होना।
- आर्थिक सम्पन्नता एवं राजनीति प्रभुत्व।
- जाति व्यवस्था में उच्च सामाजिक स्थिति।
- प्रशासनिक स्थिति में अधिक संख्या।
- एकता, न्याय एवं कल्याण के लिए निष्पक्ष कार्य करना।

4.8 भारत की कुछ प्रमुख प्रभु जातियाँ (Some Dominant caste of Indian Villages)

विभिन्न विद्वानों ने भारतीय ग्रामों की प्रमुख जातियों को निम्नांकित रूप से वर्णित किया है। विद्यार्थियों के लिए यह जानना आवश्यक है–

- एम0 एन0 श्रीनिवास ने मैसूर जिले के रामपुरा गाँव में निवासित ओक्कलिंगा जाति को जनसंख्या, भू–स्वामित्व व झगड़े विवाद के निवारण में मुख्य भूमिका निर्वाह् करने के कारण प्रभु जाति कहा है।
- आन्द्रे बैते ने तंजौर जिले के श्रीपुरम् गाँव की ब्राह्मण जाति को गैर ब्राह्मण व द्रविणों पर अपना राजनीतिक धार्मिक एवं आर्थिक प्रभुत्व बनाये रखने के कारण प्रभु जाति के रूप में सम्मिलित किया है।
- के0 एल0 शर्मा ने राजस्थान के छः गाँवों का अध्ययन कर राजपूतों को प्रभु जाति बतलाया है।
- एन0 शुक्ला ने भागलपुर के पास झूमको गाँव में यादव जाति को प्रभुजाति के रूप में अध्ययन किया है।
- डी0 एम0 मजूमदार ने मोहाना तथा दुल्दी गाँव में ठाकुर जाति का प्रभुजाति के रूप में अध्ययन किया है।
- ऑस्कर लेविस ने उत्तर प्रदेश के रामपुर गाँव में यादव जाति को प्रभुजाति माना है।

➢ इसी प्रकार हिचकांक ने खालापुर में राजपूतों को, मेयर कुआपेटार्ड ने ब्राह्मणों को तथा हारपर ने टोटागड़ी में हथिक ब्राह्मणों को प्रभुजाति के रूप में अपने अध्ययन में सम्मिलित किया है।

4.9 प्रभु जाति की अवधारणा की आलोचना (Criticism of the concept of Dominant caste)

प्रभु जाति की एम0 एन0 श्रीनिवास द्वारा दी गयी अवधारणा से असहमत कुछ विद्वानों ने इसकी आलोचना की है। विद्यार्थियों को इसका ज्ञान होना आवश्यक है–

➢ प्रो0 एस0 सी0 दूबे के अनुसार– जनसंख्या की अधिकता प्रभुजाति का प्रमाण नहीं हो सकता। इन्होंने प्रभुजाति के स्थान पर 'प्रभुत्वशाली' व्यक्ति को महत्व दिया है।

➢ डी0 एन0 मजूमदार के अनुसार–''प्रभुत्वशाली' व्यक्ति होने के लिए जातिगत संख्या की अधिकता आवश्यक नहीं है, क्योंकि उनका मानना है कि भारत के अनेक गाँवों में अनुसूचित जाति व जनजातियों की संख्या अधिक होने पर भी वे शक्तिशाली नहीं हैं। अर्थात् भारतीय सामाजिक व्यवस्था में उच्च जातियों को ही उच्च स्थान प्राप्त है। अतः वहीं प्रभुजाति हैं।

➢ एंथोनी कार्टर के अनुसार– जाति और प्रभुत्व दोनों सैद्वांतिक रूप से अलग–अलग हैं। ये बात उन्होंने महाराष्ट्र में गिरवी गाँव का अध्ययन करने के पश्चात् कही हैं जिसमें उन्होंने पाया था कि जातियाँ संगठित होकर कार्य नहीं करती हैं। अतः जाति को सत्ता से अलग कर देना चाहिए।

उपरोक्त आलोचना स्पष्ट करती है कि विभिन्न ग्रामीण क्षेत्रों में प्रभु जाति के निर्धारक तत्व एक–दूसरे क्षेत्र में लागू नहीं किया जा सकता। फिर भी श्रीनिवास की प्रभुजाति की अवधारणा विभिन्न जातियों के पारस्परिक संबंधों व ग्रामीण एकता को समझने के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

4.10 धर्मनिरपेक्षीकरण (Secularization)

भारतीय समाज में अंग्रेजी शासनकाल के दौरान आये परिवर्तनों के कारण आज व्यक्ति के व्यवहार में तार्किकता का तत्व स्पष्ट नजर आता है। अंग्रेजों ने भारत में अपने शासन के साथ–साथ भारतीय सामाजिक जीवन में संस्कति के धर्मनिरपेक्षीकरण लौकिकीकरण) की प्रक्रिया की भी शुरूआत की जो संचार माध्यमों के विकास के साथ आरम्भ होकर धीरे–धीरे कस्बों व नगरों के विकास, शिक्षा के विकास के साथ बढ़ती गयी, जिससे व्यक्ति के जीवन में निरंतर धार्मिकता का ह्रास हुआ इसी प्रक्रिया को लौकिकरण या धर्मनिरपेक्षीकरण कहा जाता है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन ने जनसामान्य को सामाजिक व राजनीतिक दृष्टि से लामबन्द किया और धर्मनिरपेक्षीकरण में भी अपना योगदान दिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित करने, कानून द्वारा सबको समान संवैधानिक अधिकार प्राप्त होने तथा मताधिकार का प्रयोग और विकास के लिए योजनाबद्ध कार्यक्रमों की योजना आदि बनायी जाने के कारण धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया में निरन्तर तेजी आयी है। वर्तमान में संस्कृतिकरण व धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रभाव जहाँ नगरीय एवं शिक्षित समूह में अधिक दिखायी पड़ता है। वहीं संस्कृतिकरण की प्रक्रिया हिन्दू जाति व जनजातियों में परिलक्षित होती है।

4.11 धर्मनिरपेक्षीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Secularization)

लौकिकीकरण का विकास 19वीं शताब्दी में ब्रिटेन में जी0 के0 होल्के के नेतृत्व में हुआ था, जिन्होंने इसे सामाजिक नैतिकता की एक प्रणाली के रूप में विकसित करने का प्रयास किया।

धर्मनिरपेक्षीकरण को उस सामाजिक विचार या प्रवृत्ति के रूप में समझा जा सकता है, जिसके अन्तर्गत धार्मिक प्रधानता या परम्परागत व्यवहारों में धीरे–धीरे तार्किकता व व्यवहारिकता लाने का प्रयास किया जाता है, या हम कह सकते हैं तो तब प्राकृतिक और सामाजिक जीवन को समझने के नजरिये के रूप में धर्म का स्थान विज्ञान ले लेता है।

धर्मनिरपेक्षीकरण को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम यहाँ विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत कुछ परिभाषाओं का उल्लेख करेंगे–

1. एम0 एन0 श्रीनिवास के अनुसार–''धर्मनिरपेक्षीकरण शब्द का अर्थ है कि जो पहले धार्मिक माना जाता था, वो अब वैसा नहीं माना जा रहा है। इसका तात्पर्य विभेदीकरण की एक प्रक्रिया से भी है जो कि समाज के विभिन्न पहलुओं–आर्थिक, राजनीतिक, कानूनी और नैतिक के एक दूसरे से अधिक से अधिक पृथक होने में दृष्टिगोचर होती हैं।''
2. राधाकृष्ण के अनुसार– ''लौकिकीकरण 'धार्मिक निरपेक्षता' और धार्मिक सह–अस्तित्ववाद है।''
3. मूर के अनुसार–''परम्परागत धर्म को अस्वीकार करना और दैनिक जीवन में धार्मिक नियंत्रण को कम करना जैसी विशेषताओं को धर्मनिरपेक्षीकरण कहा जाता है।''उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि व्यक्तिगत व्यवहारों व कार्यों में तार्किकता का समावेश होना, जो पहले परम्परागत व धार्मिक माना जाता था, वह अब वैसा नहीं माना जाना था। विभेदीकरण की एक प्रक्रिया इसमें निहित होने के कारण समाज में विभिन्न परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। यही धर्म निरपेक्षीकरण है।

4.12 धर्मनिरपेक्षीकरण के आवश्यक तत्व (Essential Elements of Secularization)

धर्मनिरपेक्षीकरण के आवश्यक तत्वों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

1. **धार्मिक संकीर्णता का ह्रास (Decline of Religious Narrow Mindness)–** जैसा कि पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि लौकिकीकरण का एक प्रमुख तत्व उसकी बुद्धि के साथ–साथ धार्मिकता का ह्रास है। तार्किकता के प्रभाव के कारण धार्मिक कट्टरपन एवं संकीर्णता का पतन व्यक्ति को धर्म के अनुचित प्रभावों से मुक्त कर पारलौकिक या आध्यात्मिक उद्देश्यों के स्थान पर सा0 व व्यवहारिक लाभ के लिए प्रेरित करता है।
2. **तार्किकता (Ralionality)–** तार्किकता के आधार पर व्यक्ति द्वारा जीवन में आने वाली प्रत्येक समस्या पर तर्क एवं विवेक के आधार पर समाधान पर विचार किया जाता है, अर्थात् इसके अंतर्गत धार्मिक व परम्परागत अन्धविश्वास, कुसंस्कार, प्रचलित परम्परागत संकीर्णता व विचारों को आधुनिक ज्ञान व तर्क के साथ परिवर्तित व परिमार्जित किया जाता है।
3. **विभेदीकरण की प्रक्रिया (Process of Defferentition)-** यह धर्मनिरपेक्षीकरण का अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है। अर्थात् लौकिकता में विभेदीकरण की प्रक्रिया तात्पर्य समाज में विभेदीकरण का बढ़ना है। समाज के विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, नैतिक, कानूनी सब एक–दूसरे से पृथक हो जाते है। और इन सभी क्षेत्रों में धर्म का महत्व या प्रभाव कम होता जाता है। उदाहरणार्थ– पहले राजा पुरोहित के नीचे होता था, परन्तु आज धर्म और राज्य अलग–अलग हो गये हैं। अर्थात् आज जीवन विभिन्न क्षेत्रों में धर्म का बन्धन इस प्रक्रिया के कारण समाप्त हो गया है।

4.13 धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण (Factors of Secularization)

प्रत्येक प्रक्रिया के संचालित होने के कोई–न–कोई कारण अवश्य होते हैं। अतः यहाँ हम धर्मनिरपेक्षीकरण के कुछ महत्वपूर्ण कारकों पर प्रकाश डालेंगे जो निम्नवत् है–

1–नगरीकरण (Urbanization)– लौकिकीकरण की प्रक्रिया में नगरीकरण का अत्यधिक योगदान रहा है। या ये कहा जाए कि नगरों में ही धर्मनिरपेक्षीकरण सर्वाधिक हुआ है। नगरों में अत्यधिक भीड–भाड़ का होना। उन्नत यातायात साधन व संचार साधनों की पर्याप्त उपलब्धता के साथ्ज्ञ आधुनिक शिक्षा, फैशन, भौतिकवाद, विवेकवाद, व्यक्तिवाद आदि सभी कारक मौजूद होकर लौकिकीकरण में अत्यधिक सहायता प्रदान करते हैं।

2–आधुनिक शिक्षा (Modern Education)– वर्तमान भारतीय शिक्षा पद्धति में पाश्चात्य शिक्षा का पुट परिलक्षित होता है जिसके कारण यहाँ के परम्परागत मूल्यों में पाश्चात्य मूल्यों का प्रभाव आसानी से देखा जा सकता है। जिस के परिणास्वरूप यहाँ के धर्मों, विशेषकर हिन्दू धर्म पर प्रभाव पडा है। इससे न केवल व्यक्ति के विचारों में बल्कि उन्हें आज धर्म के प्रति एक बार कुछ सोचने को मजबूर होना पड़ा है। शिक्षा के परिणामस्वरूप व्यक्ति का विवेक जाग्रत हुआ है। कठोर एवं अंधविश्वासी नियमों में शिथिलता आयी है तथा उनके अंदर वैज्ञानिक मनोवृत्ति व तार्किक शक्ति ने जन्म लिया है। अब वे केवल धर्म के नाम पर ही कार्य नहीं करते, बल्कि उसमें व्यवहारिकता का पुट देखते हैं। आधुनिक शिक्षा के प्रत्यक्ष प्रमाणों ने जहाँ सहशिक्षा, अन्तर्जातीय विवाह, आदि को प्रोत्साहन मिला है, वहीं अस्पृश्यता, छुआछूत, पवित्रता, अपवित्रता आदि भावनाएँ निरुत्साहित हुई हैं।

3–सामाजिक–धार्मिक आन्दोलन (Social and Religious Movements)– भारत में समय–समय पर कुप्रथाओं को रोकने के लिए सामाजिक, धार्मिक आंदोलन होते रहे हैं जिसमें राजा राममोहन राय, केशवचंद्र सेन, स्वामी दयानन्द, गोविन्द रानाडे, महात्मा गाँधी जी जैसे महान समाज सुधारकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है, जिसके परिणामस्वरूप धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया में पर्याप्त सहयोग प्राप्त हुआ। जहाँ ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज ने पाश्चात्य मूल्यों और ईसाई धर्म की समानता के सिद्वान्त से प्रभावित होकर छुआ–छूत, भेदभाव, पवित्र–अपवित्र, ब्राह्मणों की उच्च स्थिति का कट्टरता से विरोध किया वहीं गाँधी जी ने अस्पृश्य लोगों को हरिजन नाम देकर उनका उद्धार करने का प्रयास किया। अतः धार्मिक, सामाजिक आन्दोलनों की भूमिका धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण रही है।

4–यातायात व संचार साधनों में उन्नति (Development of the means of Transport and Communication) जैसे–जैसे यातायात व संचार साधनों की उन्नति के साथ वृद्धि होती गयी, वैसे–वैसे नये नगर उद्योग, व्यवसाय, मिल व कारखनों का प्रसार बढ़ता गया। विभिन्न धर्म, संस्कृति, मूल्यों, जाति, देश–प्रदेश के लोगों का एक–दूसरे के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ और विचारों का विनिमय होने लगा। व्यक्तियों में समानता की भावना जागृत होने के साथ ही विभिन्न धर्मों की तार्किक आलोचना की प्रवृत्ति भी बढ़ी। संकुचित विचारधारा आधुनिकता में परिवर्तित होकर जात–पात से ऊपर उठकर समानता पर विश्वास करने लगी। इसी प्रकार रेल, बस, कार या अन्य यातायात के साधनों में सभी जाति–धर्म के लोगों का एक साथ सफर करने से पवित्रता–अपवित्रता व छुआछूत संबंधी विचारधारा शिथिल होती गयी।

5–पाश्चात्य संस्कृति (western culture)– अंग्रेजी राज्य स्थापित होने से पूर्व भारत में मुसलमानों का शासन व शासक वर्ग के रूप में उनका दबाव व प्रभाव रहा, लेकिन भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति अधिक व्यापक व प्रभावी रही है। जिसके परिणामस्वरूप भारतीय जीवन के धर्म, कला, साहित्य, संस्कृति, सामाजिक और पारिवारिक जीवन के समस्त पहलुओं में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन को देखा जा सकता है। इससे जाति प्रथा के कठोर नियमों में शिथिलता,भेदभाव में कमी, व्यक्तिवादी दृष्टिकोण, भोगवाद, अधार्मिकता, भौतिक आदि प्रवृतियों को प्रोत्साहन मिला है।

6–धर्मिक संगठनों का अभाव– (Lake of Religious Organization)– धर्मनिरपेक्षीकरणा के विकास में धार्मिक संगठनों के अभाव ने भी पर्याप्त योगदान किया। जिसमें हिन्दू धर्म प्रमुख हैं, क्योंकि इसमें अनेकों मत एवं सम्प्रदाय होने तथा कोई अच्छा संगठन न होने के कारण एक सम्प्रदाय होने तथा कोई अच्छा संगठन न होने के कारण एक हिन्दू दूसरे हिन्दू धार्मिक आधार पर कड़ी आलोचना करता है। जबकि अन्य धर्मों में एक अच्छे संगठन के साथ धर्म के प्रति अत्यधिक कट्टरता परिलक्षित होती है। मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई इसके उदाहरण हैं। जहाँ एक ओर अनेक हिन्दुओं ने ब्राह्मणों के अत्याचारों से पीडित होकर अन्य धर्मों को अपनाया है। वहीं दूसरी ओर पढ़े–लिखों हिन्दू धार्मिक कट्टरता से दूर होकर धार्मिक विश्वासों, मतों, आदर्शों व कट्टरता का पर्याप्त विरोध कर रहे हैं। ये सभी धर्म निरपेक्षीकरण के आधार हैं।

7–भारतीय संस्कृति का धर्मनिरपेक्षीकरण (Secularization of Indian Culture)– भारतीय संस्कृति मूल रूप से धार्मिक होने के पश्चात् भी इस धर्मप्राण संस्कृति का आज धर्मनिरपेक्षीकरण होता जा रहा है, जिसके लिए चलचित्र, समाचार पत्र, रेडियो, टेलीविजन व अन्य आधुनिक उपकरण को इसका उत्तरदायी माना जा सकता है। इन साधनों के कारण ही विभिन्न जाति, धर्म, सम्प्रदाय के लोग एक–दूसरे की अच्छाई–बुराईयों का ज्ञान कर एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। चूंकि भारत स्वयं एक धर्मनिरपेक्ष गणराज्य (Secular Republic) है। अतः प्रचार के उपरोक्त सभी साधन धर्मनिरपेक्षीरकण के पक्ष में क्रियाशील बन जाते हैं।

8–सरकारी प्रयत्न (Government Efforts)– धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने में सरकारी प्रयत्न अत्यधिक महत्वपूर्ण हो रहे हैं। स्वतंत्रता से पूर्व एवं पश्चात् बनाये गये विभिन्न अधिनियमों के कारण ही सभी को समान मानते हुए किसी भी नागरिक के विरूद्ध केवल धर्म, जाति, मूलवंश, लिंग, जन्मस्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद न करने के नियम पारित हुए, जिन्होंने धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को सफल बनाने का कार्य किया। इनमें जाति निर्योग्यता उन्मूलन अधिनियम (Cate Disablities Renoval act 1950), बंगाल सती नियम (Bangal Sati Regulation, 1829), हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम (Hindu widows Re Marriage act 1956), विशेष विवाह अधिनियम (Special Marriage act 1872), हिन्दू विवाह वैधकरण अधिनियम (Hindu marriage Validating act 1949), 'विशेष विवाह अधिनियम' (Special Marriage act 1954), अस्पृश्यता अपराध अधिनियम (Untouchability offences act 1955) आदि प्रमुख हैं।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया में अनेक कारक सहायक व उत्तरदायी माने जाते है। कहने का तात्पर्य यह है कि वास्तव में यह प्रक्रिया ब्रिटिश शासनकाल में प्रारम्भ हुई और अनेक अन्य कारकों के सहयोग से यह निरन्तर विकसित होती रही।

4.14 धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रभाव एवं परिवर्तन (Impact and change in seculaization)

आगे इस बात का अध्ययन किया जायेगा कि धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया से भारतीय समाज पर क्या प्रभाव पड़ा व परिवर्तन हुआ, जिसे निम्न आधार पर देखा जा सकता है–

1–अपवित्रता एवं पवित्रता की धारणा में परिवर्तन (Change in the Concept of Pollution and Purity)– प्राचीन काल से ही भारतीय जीवन एवं धर्म में अपवित्रता व पवित्रता जैसी धारणाएं प्रबल रही हैं यहाँ तक वर्ण व्यवस्था में व्यवसायों का निर्धारण भी इसी आधार पर होता था, लेकिन वर्तमान में कोई भी अपनी योग्यता, धन, सत्ता आदि के आधार पर व्यवसाय व नौकरी करने में सक्षम है। अर्थात् वर्तमान में पवित्र–अपवित्र की धारणाएँ पिछले कुछ दशकों में पूर्वलिखित शक्तियों के कारण क्षण भी हुई हैं और उनकी व्यापकता भी घटी है।

आज खान–पान, रहन–सहन, जाति–धर्म के आधार पर व्यक्तियों के बीच पायी जाने वाली पत्रिता–अपवित्रता की धारणा का ह्रास हुआ है। उस पर धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया हावी व प्रभावी दिखायी पड़ती है।

2–जीवन चक्र व संस्कारों पर धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रभाव (Impact of Secularization on life cycle and Rituals)– भारतीय समाज व संस्कृति में पवित्रता, परिशुद्धि, परिष्कार, परिमार्जन, सुसंस्कृत रखने, स्वस्थ रहने, दीर्घायु प्राप्ति के लिए संस्कारों को बड़े ही विविध–विधान के साथ सम्पन्न कराने का प्रचलन रहा है। इन संस्कारों ने सामाजिक एकता, पवित्रता, धार्मिक आस्था, नैतिकता, कर्तव्यों के प्रति जागरूकता, सहायता का भाव, दान–पुण्य की रूचि, संबंधों की स्थिरता, धार्मिक कृत्यों का महत्व, पुनर्जन्म का विश्वास, कर्मफल की मान्यता जैसी भावनाएँ निहित थी। प्राचीन काल में द्विज मात्र को ही उपनयन संस्कार जैसी प्रक्रिया से पवित्र होने, अध्ययनक करने, धार्मिक कृत्यों के सम्पादन का अधिकार था, जिसमें ऊँच–नीच, पवित्र–अपवित्र का भेदभाव दिखायी पडता था, लेकिन समय परिवर्तन एवं समाज सुधारक दयानन्द सरस्वती जी के अथक प्रयासों के परिणामस्वरूप सभी को यज्ञोपवित धारण करने का अधिकार दिया गया। इतना ही नहीं महिलाओं का भी पुरुषों के समान उपनयन संस्कार होने लगा। वर्ण व्यवस्था ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की क्रमशः 8, 11 एवं 12 वर्ष के उपनयन की जो अवधि निश्चित की थी, वे भी वर्तमान में प्रतिबंधित हैं लौकिकीकरण की प्रक्रिया से भारतीय समाज में सम्पन्न होने वाले न केवल 16 संस्कारों में कमी आयी, बल्कि अपने समय, परिस्थिति के आधार पर इन्हें सम्पन्न करने में भी परिवर्तन परिलक्षित होता है। आज जहां विवाह से एक–दो दिन ही जनेऊ धारण कर उपनयन संस्कार को सम्पन्न करने की औपचारिकता का निर्वाह् किया जाता है, वही विवाह संस्कार, कोई, मंदिर जैसे स्थानों में भी सम्पन्न करने के लिए व्यक्ति स्वतंत्र है।(समकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, अच्युतानंद एवं गोदावरी घिल्डियाल, 1987, पृ0 84–95)

कहने का तात्पर्य है कि लौकिकीकरण के प्रभाव से जहाँ एक ओर संस्कारों के महत्व को कम किया है वहीं इनकी संख्या में भी कमी आयी है।

3–धार्मिक जीवन में धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रभाव (Impact of secularization in Religious life)– धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण आज धार्मिक जीवन परिवर्तित हो रहा है। आज घण्टों पूजा–पाठ करने, पण्डितों को दान–दक्षिणा देने अपने पूर्व जन्मों के पापों का प्रायश्चित व अगले जन्म को सुधारने के लिए व्रत, उपवास करने के स्थान पर व्यक्ति ने धर्म को कर्म व जिम्मेदारी के रूप में स्वीकार किया है। दान–पुण्य देने में गरीबों की सहायता, अनाथ आश्रम, विधवा आश्रम, वृद्धाश्रमों, चिकित्सालयों में दान देने की वैचारिकता में वृद्धि हुई है। इसी प्रकार आधुनिक नवीन संचार साधनों के माध्यम से विभिन्न प्रकार की धार्मिक कथाएँ, गाथाएँ, सीरियल, भजन, घर बैठे सुनकर लोग जहाँ समय की बचत करते हैं वहीं पण्डितों के आधिपत्य में भी कमी आयी है। इसका पूरा श्रेय धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को ही जाता है।

4–जाति संरचना पर धर्म निरपेक्षीकरण का प्रभाव (Impact of secularization in caste structure)– भारत में जाति प्रथा का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। जो जन्म पर आधारित है और इसमें संस्तरण होने के कारण श्रेष्ठता और निम्नता पायी जाती है। सभी जातियां भोजन, नातेदारी, व्यवसाय तथा सामाजिक सम्पर्क से पृथक्कृत होती है और इन जातियों में जजमानी जैसी व्यवस्था पायी जाती है। वर्तमान में जाति के प्रति पूर्ववत् श्रद्धा की भावना समाप्त हुई हैं। ब्रिटिश शासन ने शिक्षा पद्धति को धर्मनिरपेक्ष बनाया, जिससे कानून के समक्ष व्यक्तियों की समानता, राज्य के सभी नागरिकों के लिए समान अधिकार, पेशे की स्वतंत्रता, नई शिक्षा पद्धति विकसित होने के कारण व्यक्ति जन्म पर आधारित समाज के विभाजन को अवैज्ञानिक मानने लगे हैं। महात्मा गाँधी के हरिजन आन्दोलन के न केवल स्वस्थ जनमत का निर्माण किया, बल्कि सरकार को भी हरिजनों के उत्थान के लिए प्रयत्नशील बनाया। आज अपनी योग्यता सत्ता, क्षमता के माध्यम से काई भी जाति अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। यह धर्मनिरपेक्षीकरण की देन है।

5–परिवार पर धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रभाव (Impact of Sacularization in Family)–संघ में बहुत बड़ी शक्ति होती है। भारत अतिप्राचीन काल से कृषि प्रधान देश रहा है। कृषि उत्पादन में वृद्धि, पशुपालन और यज्ञ आदि कार्यों के सम्पादन के लिए संघ–समूह या सहकारिता की आवश्यकता हुई। अतः परिवार के विस्तृत रूप होने पर पारस्परिक सहयोग की भावनाओं ने संयुक्त परिवार को जन्म दिया। जिसका अपना एक महत्व है। इसमें संगठन, जीवन निर्वाह, अधिक लोगों के लिए अधिक संग्रह करने की भावना, अनुशासन और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का सुन्दर व सुव्यवस्थित रूप देखा जा सकता है, जिसमें सामाजिक, आर्थिक, राष्ट्रीय लाभ निहित था, जनसंख्या की तुलना में प्रति परिवार पर जमीन का अधिक होना भी संयुक्तता से रहने का महत्वपूर्ण कारक था, लेकिन परिवर्तित परिस्थितियों के कारण संयुक्त परिवार विघटित होते जा रहे हैं। जनसंख्या की अधिकता, पारिवारिक कार्यों का संस्था व समितियों को हस्तांतरित होना, प्राचीन मूल्य एवं नैतिकता का हनन, पीढ़ियों के वैचारिक अन्तराल की दूरियों का बढ़ना, आधुनिक शिक्षा, औद्योगीकरण, नगरीकरण, पाश्चात्य व आधुनिक शिक्षा, जल, जंगल, जमीन का शोषण, जानवरों का आतंक, पलायन की मार, व्यक्तिवादिता स्वार्थ का बोलबाला आदि के कारण संयुक्त परिवार एकांकी परिवार में परिवर्तित होते जा रहे हैं, जहाँ हम की भावना में परिवर्तित दिखायी पड़ती है। अतः स्पष्ट है कि परिवार पर भी लौकिकीकरण के प्रभाव से बहुत परिवर्तन आया है।

ग्रामीण समुदाय में धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रभाव (Impact of secularization in Rural community)- जहाँ एक ओर नगरों में पर्याप्त लौकिकीकरण हुआ है वहीं ग्रामीण समुदाय में भी इसका प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है। गांवों में जाति पंचायत की शक्तियों घटती जा रही हैं और उनका स्थान जनता द्वारा

चुने हुए प्रतिनिधियों से गठित पंचायतों ने ले लिया है। जैसा कि श्रीनिवास ने लिखा है–''ग्रामीण समुदायों में राजनीतिकरण की प्रक्रिया चल रही है। आज गाँव का प्रत्येक व्यक्ति राजनीति में सक्रिय भागीदारी का इच्छुक है। देश–विदेश की राजनीतिक बातों का ज्ञान करने की सभी की उत्कृष्ट इच्छा रहती है। शाम को चौपाल पर धार्मिक या सामाजिक विषयों पर विचार करने की अपेक्षा राजनैतिक बातों पर बहस होती है और साहूकार के राजनैतिक अधिकार समाप्त हो गये हैं।''

कहने का तात्पर्य यह है कि धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया से ग्रामीण समुदाय की परम्परागत सत्ता विघटित हुई है। समुदाय के निर्णय अब कानून व संविधान के हाथ संचालित हो रहे हैं शिक्षा के प्रसार से स्त्रियां घर की चौखट से बाहर आकर सभी क्षेत्रों में अपनी सक्रिय भागीदारी का प्रदर्शन कर रही हैं, जिसे धर्मनिरपेक्षीकरण का सकारात्मक पहलू कहा जा सकता है।

14.15 आधुनिकीकरण (Modernization)

आधुनिक युग में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में परिवर्तन के कारण जीवन के प्रत्येक पहलू सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि में भी परिवर्तन हुए हैं, जो निरंतर रूप से विश्व स्तर पर आज भी चल रहे हैं। इसी परिवर्तन को स्पष्ट करने के लिए करने के लिए सामाजिक वैज्ञानिकों ने आधुनिकीकरण जैसी अवधारणा का प्रयोग किया है। औद्यौगीकीकरण की अवधारणा का प्रयोग विशेष तौर पर समाज में होने वाले परिवर्तनों या औद्योगीकरण के कारण पश्चिमी देशों में आये परिवर्तनों को समझने के लिए किया गया है। भारतीय समाज के संदर्भ में आधुनिकीकरण परम्परागत जीवन तरीकों में आधुनिक तत्वों के सम्मिलित होने का एक प्रक्रिया है।

4.16 आधुनिकीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and definition of Modernization)

आधुनिकीकरण एक ऐसी अवधारणा है जिसमें कुछ परिवर्तनशील मूल्यों का समावेश होता है। यह परिवर्तनशील मूल्य विकास, सार्वभौमिकता तथा तार्किकता की दिशा में होते हैं यदि हम इतिहास के पृष्ठों को पलटें तो पाते हैं कि भारतीय समाज को परम्परावादी समाज के रूप में देखा जाता रहा है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारतीय जीवन शैली तथा सामाजिक संस्थाओं में जब पश्चिमी सभ्यता का समावेश होना प्रारम्भ हुआ, तब यहाँ आधुनिकीकरण की प्रक्रिया तेजी से बढ़ने लगी। ''आधुनिकीकरण वह प्रक्रिया है। जो परम्परागत या अर्द्ध परम्परागत अवस्था से प्रौद्योगिकी के किन्हीं इच्छित प्रारूपों तथा उनसे जुड़ी हुई संरचना के स्वरूपों, मूल्यों, प्रेरणाओं एवं सामाजिक आदर्श नियमों की ओर ले जाने वाले परिवर्तनों को स्पष्ट करती हैं।'' (दूबे, एस0सी0, 1971) समाजशास्त्रियों ने आधुनिकीकरण को विभेदीकरण की एक प्रक्रिया के रूप में स्पष्ट किया है। जिसके अन्तर्गत पुरानी संरचना के स्थान पर नयी संरचना का उदय, नये व्यवसायों के बढ़ने से सामाजिक संरचना में विभेदीकरण, नयी शैक्षणिक संस्थाओं का विकास तथा नये समुदायों की उत्पत्ति आदि की विशेषताएं समाज में स्पष्ट होने लगती है।

यहां पर आधुनिकीकरण के संबंध में विभिन्न विद्वानों द्वारा दिये गये विचारों को परिभाषाओं के आधार पर समझने का प्रयास किया जायेगा।

डेनियल लर्नर–''किसी पश्चिमी देश के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव के कारण किसी गैर पश्चिमी देश में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों के लिए आधुनिकीकरण शब्द ही अधिक उपयुक्त है।

एस0 सी0 दूबे, ''आधुनिकीकरण की परिभाषा शक्ति को जड़ स्रोतों के उपयोग तथा इससे संबंधित प्रयत्नों के प्रभाव में वृद्धि करने वाले उपकरणों के उपभोग से संबंधित है।

योगेन्द्र सिंह–''आधुनिकीकरण सांस्कृतिक क्रियाओं का एक विशेष रूप है जिसमें मुख्य रूप से सार्वभौमिक व विकासवादी लक्षणों का समावेश होता है। यह लक्षण अति मानवता से संबंधित होने के साथ ही सजातीयता व वैचारिक आधार से परे होते हैं।''

एम0 एन0 श्रीनिवास– ''किसी गैर पश्चिमी देश में एक पश्चिमी देश के प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले परिवर्तन का नाम आधुनिकीकरण है।''

एस0 एन0 आइजनटीड– ''ऐतिहासिक रूप से आधुनिकीकरण सामाजिक परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जो पश्चिम यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका में विकसित होने वाले सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं की दिशा में देखने को मिलती है।

जी0 ई0 ब्लैक– आधुनिकीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें ऐतिहासिक रूप में सम्बद्ध संस्थाएँ परिवर्तित होते हुए नवीन कार्यो की तीव्रता से अपनाती हैं। जिससे व्यक्तियों के ज्ञान में वृद्धि होती है और जो वैज्ञानिक ज्ञान को प्रोत्साहित करती हैं।

एडिटा बजास– ''आधुनिकीकरण आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में विविध अन्तः संबंधित परिवर्तनों की एक ऐसी प्रक्रिया है। जिसके माध्यम से कम विकसित समाज अधिक विकसित समाजों की विशेषताओं को प्राप्त कर लेते हैं।

अतः आधुनिकीकरण की उर्पयुक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि आधुनिकीकरण परिवर्तन की वह प्रक्रिया है। जो किसी परम्परागत अथवा पिछड़े हुए समाज में प्रौद्योगिक विकास, धर्मनिरपेक्षता, लौकिकता, स्वतंत्रता एवं गतिशीलता जैसी विशेषताओं के प्रभाव में वृद्धि करने लगती है।

4.17 आधुनिकीकरण की विशेषताएँ (Characterstics of Modernization)–

यहाँ पर हम आधुनिकीकरण की कुछ सामान्य विशेषताओं को संक्षेप में वर्णन करेंगे–

1. **उद्योगीकरण (Industrilization)–** यदि देखा जाए तो आर्थिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का सबसे प्रमुख लक्षण औद्योगीकरण है, जिसमें नवीनतम प्रौद्योगिकी के आधार पर उद्योगों का विकास कर मशीनों के प्रयोग से उत्पादन को बड़े पैमाने में करता है। इससे वाणिज्य, व्यापार, रोजगार के साधन, राष्ट्रीय सम्पत्ति में वृद्वि तथा जीवन स्तर में उच्चता आती है।
2. **नगरीकरण (Urbanization)–** नगरीकरण औद्योगीकरण का परिणाम है, जहां उद्योग, व्यापार और वाणिज्य केन्द्रित होती हैं। वहाँ स्वतः ही धीरे–धीरे नगर स्थापित होने लगते हैं। नगरों की संख्या व आकार में वृद्वि होती है। विभिन्न धर्म, जाति, सम्प्रदाय, संस्कृति के लोगों का मिलना होता है और यातायात साधनों की उन्नति होने के कारण नगरवासियों का सम्पर्क सारे देश व विश्व में हाता है। इसी कारण नगरों विशेषकर बड़े नगरों के आधुनिकीकरण सभी लक्षण परिलक्षित होते हैं।

3. **प्रौद्योगिकीय प्रगति (Technological Progress)-** प्रौद्योगिक दृष्टिकोण से पिछड़े समाज में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया बहुत धीमी गति से क्रियाशील होती है। अतः नवीनतम प्रौद्योगिकी को अपनाना आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक होता है। अतः यह भी आधुनिकीकरण के प्रमुख लक्षण में से एक है।
4. **विज्ञान की प्रगति (process of science)-** आज निरन्तर विज्ञान की प्रगति, नवीन वैज्ञानिक प्रयोग, नये आविष्कारों के कारण, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया क्रियाशील है। विज्ञान के कारण ज्ञान भण्डार में वृद्धि, सामाजिक–आर्थिक उन्नति, अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का विकास, रोगों पर विजय समीव होती है।
5. **सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि (Increase in Social Mobility)–** आधुनिकीकरण का एक उल्ललेखनीय लक्षण सामाजिक गतिशीलता में वृद्वि का माना जाता सकता है। इस प्रक्रिया की क्रियाशीलता के कारण उस समाज के सदस्यों का एक दूसरे स्थान में आना–जाना, एक–दूसरे के पेशे को अपनाना, एक स्थिति (Status) से दूसरी स्थिति को जाना अधिक देखने को मिलता है।
6. **सामाजिक विभेदीकरण (social differentation)–** आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के कारण ही विभिन्न समूह, संस्था, समितियों में विभेद निरन्तर बढ़ता जाता है, जिससे श्रम विभाजन व विशेषीकरण का आधिक्य देखने को मिलता है। नये व्यवसाय, नये उत्पादन की इकाईयाँ, नयी राजनैतिक पार्टियां, नये व्यवसायी समूह, स्वार्थ समूह विकसित होते हैं जो सभी आधुनिकीकरण के लक्षण माने जाते हैं।
7. **परम्परागत मूल्यों तथा आदर्शों में परिवर्तन–(changes in traditional values and ideas)–**सामाजिक–सांस्कृतिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का एक अन्य लक्षण परम्परागत मूल्यों व आदर्शों के स्थान पर नवीन आदर्श मूल्यों का पनपना है। परिवार, विवाह, धर्म, शिक्षा, साहित्य, लोकगीत, नृत्य, गाथा, राजनीति सभी से संबंधित परम्परागत मूल्य व आदर्श के स्थान पर नवीनता व्यक्ति की आवश्यकता बनती जा रही है। जैसे–बाल विवाह अनुचित, विधवा पुनर्विवाह उचित, कन्या भ्रुण हत्या अपराध, विवाह के अटूट बंधन की अनिवार्यता में कमी, विवाह–विच्छेद आवश्कतानुसार उचित, धार्मिक दिखावा व कुसंस्कार अनुचित आदि नवीन आदर्श आधुनिकीकरण की परिचायक हैं
8. **शिक्षा का प्रसार (Spread of Education)** आज सभी के लिए शिक्षा की अनिवार्यता ने व्यक्ति की उचित–अनुचित को समझने संबंधित विचारों में विस्तार किया है। सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त विभिन्न व्यवसायों से संबंधित शिक्षा के कारण लोगों के जीवन का ढंग बदला है। लोगों को व्यवसाय व रोजगार भी उपलब्ध हुए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विकास **(Development of International co-opretive)**–आज व्यक्ति का जीवन अपने देश, राज्य, समाज तक ही सीमित न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप लेता जा रहा है। जिससे विभिन्न राष्ट्रों के बीच सहयोग बढ़ रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समितियों व संगठनों की स्थापना की जाती हैं संयुक्त राष्ट्र संगठन (U.N.O) इसका उत्तम उदाहरण है।

उपर्युक्त आधार पर स्पष्ट होता है कि जहाँ आधुनिकीकरण के कारण प्रगति, विकास, शिक्षा का प्रसार, रोजगार की उपलब्धता आदि प्राप्त हुई है, वहीं परम्परागत आदर्श, मूल्यों का भी ह्रास हुआ है।

4.18 भारत में आधुनिकीकरण (Modernization in India)

भारतीय समाज में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया क्रियाशील है जो भारत के नगरीय समुदायों में अधिक विकसित हैं, क्योंकि भारत के नगरों में बड़े–बड़े उद्योग व कारखानों की स्थापना हो गयी। जहाँ आधुनिक जटिल मशीने व तकनीकी सहायता से उत्पादन कार्य सम्पन्न होता है। विज्ञान की प्रगति,

सामान्य व तकनीकी दोनों प्रकार की शिक्षा का प्रसार तेजी से बढ़ता जा रहा है। सामाजिक गतिशीलता व विभेदीकरण, धार्मिक आडम्बर में कमी, सामाजिक परम्परागत कुरीतियों का अन्त, संकीर्ण जातीय नियमों में शिथिलता, समानता के कारण सभी को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व वैधानिक अधिकारों की प्राप्ति, संविधान व कानून पर विश्वास, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में प्रगाड़ता। नवीन विचार, मूल्य, आदर्शों की स्थापना, संस्कृति का आदान–प्रदान इत्यादि सभी भारतीय जीवन के आधार बन चुके हैं।

नगरीय समुदायों के साथ–साथ ग्रामीण समुदयों में भी आधुनिकीकरण की प्रक्रिया क्रियाशील है। परम्परागत कृषि के स्थान पर वैज्ञानिक तकनीकी से खेती, अच्छे व उन्नत बीज, वैज्ञानिक खाद, ट्रैक्टर, नवीन मशीनें, बेमौसमी फल एवं सब्जी का उत्पादन, किसानों को समय–समय पर दिया जाने वाला प्रशिक्षण, संचार साधनों के माध्यमों से अच्छे उत्पादन के सुझाव आदि समय–समय पर प्राप्त होने से ग्रामीण अर्थवयवस्था सुदृढ हुई है। छोटे–छोटे बच्चों के लिए स्कूली शिक्षा, प्रौढ शिक्षा, स्त्री शिक्षा, कन्या बचाओ, कन्या पढ़ाओ आदि जैसे विचारों की सार्थकता से ग्रामीण परिवेश बदला है। ग्रामीण उद्योगों का मशीनीकरण हो रहा है। कुप्रथाओं, कुसंस्कारों, पुरुष प्रधान मासिकता का अन्त करने के लिए रेडियो–टेलीविजन द्वारा प्रचार–प्रसार कर ग्रामीणों को रूढ़ियों से बाहर निकलने के लिए प्रेरित किया जा रहा है। आवागमन के साधनों से पारस्परिक सम्पर्कों में बढ़ोत्तरी रहन–सहन के स्तर में सकारात्मकता, पर्दाप्रथा का अन्त, अंधविश्वासों में कमी ग्रामीण समाज को आधुनकीकरण की ओर ले जा रहा है। जाति व्यवस्था व धर्म संबंधी अनेक अंधविश्वासों के प्रति आज ग्रामीणों को सचेत होते हुए देखा जा सकता है। केवल आधुनिक विचारों को ही नहीं, अपितु आधुनिक व्यवहार, प्रतिमानों, खान–पान, रहन–सहन के ढंग, फैशन आदि का विस्तार ग्रामीण समुदायों में हो रहा है। जिससे स्पष्ट होता है कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया केवल भारत के नगरीय समुदायों में ही नहीं, बल्कि ग्रामीण समुदायों में भी क्रातिकारी तरीके से अपनी ओर प्रभावित कर रहा है।

4.19 भारत में आधुनिकीकरण के कारक (factors of Modernization in India)

यहाँ भारत में आधुनिकीकरण के कारणों को निम्नवत् संक्षिप्त रूप में समझने का प्रयास करेंगे–

1. औद्योगीकरण (Industrilization)
2. नगरीकरण (Urbanization)
3. पश्चिमीकरण (westernization)
4. आधुनिक शिक्षा (modern Education)
5. लौकिकीकरण (secularization)
6. लोकतंत्रीकरण (Democratization)
7. संस्कृतिकरण (sanskritization)

उपरोक्त सभी कारकों का पूर्व में विस्तार किया जा चुका है।

4.20 भारत में आधुनिकीकरण के परिणाम–(consequences of Modernization in India)

यहाँ आधुनिकीकरण की क्रियाशील प्रक्रिया से उत्पन्न अच्छे व बुरे दोनों प्रकार के परिणामों की चर्चा करेंगे–

1–आर्थिक दशाओं में सुधार– आर्थिक क्रियाशीलता के कारण आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से उत्पादन, व्यापार, वाणिज्य सभी विकसित होते हैं, जिससे औद्योगिक विकास की सार्थकता के कारण रोजगार के अवसरों व प्रति व्यक्ति आय से वृद्धि होती है और आर्थिक दशाओं में सुधार होता है।

2–कृषि तथा ग्रामोद्योग में उन्नति– यदि कृषि एवं ग्रामोद्योगों को देखा जाए तो इसमें आधुनिकीकरण के सकारात्मक परिणाम परिलक्षित होते हैं। आधुनिक मशीनों, वैज्ञानिक सोच, नवीन तकनीक व उपकरणों के माध्यम से बंजर भूमि पर भी अच्छी फसल उत्पन्न की जाती है और कुटीर उद्योगों के उत्पादन के स्तर का भी ऊँचा उठा जाता है, जिससे ग्रामीण निर्धनता व बेरोजगारी में सहायता मिलती है।

3–आधुनिक ज्ञान–विज्ञान की दुनियाँ से संपर्क– आधुनिकीकरण की प्रक्रिया हमारा सम्पर्क ज्ञान–विज्ञान की दुनिया से कराकर नवीन ज्ञान, प्रविधि, आविष्कार, विचार, वैज्ञानिकता व तार्किकता से सोचने समझने की शक्ति को विकसित करती हैं।

4–अन्तर्राष्ट्रीय आदान–प्रदान का व्यापक क्षेत्र– यातायात व संचार साधनों की निरन्तर वृद्धि के कारण प्रचार–प्रसार द्वारा अन्तराष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक, तकनीकी, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदान–पदान या सहयोग बढ़ता है। और देश लाभान्वित भी होता है।

5–संकीर्णता व रूढ़िवादिता का ह्रास– आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से प्राप्त नवीन मूल्य, नैतिकता, आदर्श, तार्किकता व वैज्ञानिकता के कारण धार्मिक अंधविश्वास, कुसंस्कार, कुप्रथाओं में कमी आती है तथा व्यक्ति जागरूक होकर भाग्य की अपेक्षा कर्म पर विश्वास करने लगता है।

6–बेरोजगारी व आर्थिक संकट– आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के केवल सकारात्मक परिणाम ही होते है। ऐसा नहीं है। मशीनीकरण ने जहाँ श्रम बचाने वालों (Labour Saving) यंत्रों का प्रयोग अधिक होने से देश में बेरोजगारी बढ़ती है। मशीनीकरण के प्रभाव से लघु उद्योग धंधों में भी निरंतरता गिरावट आ रही है।

7–शिल्पकारिता का ह्रास – आधुनिक समाज का हर काम मशीनों पर आधारित व निर्भर होने के कारण जहाँ शिल्पकारिता का ह्रास होता है। वहीं दुनिया में अपनी कारीगरी के लिए विख्यात करीगरों के हुनर व हस्तशिल्प की सार्वजनिक स्वीकृति भी नष्ट होती जा रही है।

8–संस्कृति का निरादर .आधुनिकीकरण की क्रियाशील प्रक्रिया ने जीवन के प्रत्येक पहलू में हस्तक्षेप कर भारतीय संस्कृति को भी प्रभावित किया है। आज हमारा खान–पान, रहन–सहन, भाषा–बोली, परम्परागत मूल्य, आदर्श, संगीत, साहित्य सभी में पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव स्पष्ट देखा जाता है। यह आने वाली पीढ़ी के लिए अपनी संस्कृति को जानने व बनाये रखने के लिए एक बड़ी चुनौती है।

9–अपराध, व्याभिचार और भ्रष्टाचार में वृद्धि - आधुनिकीकरण, नगरीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों से अपराधिक प्रवृत्तियों के ग्राफ में निरन्तर वृद्धि हो रही है जो केवल नगरों तक सीमित न रहकर ग्रामीण क्षेत्रों तक जा चुकी है। मनोरंजन का व्यापारीकरण, पश्चिमी संस्कृति का अनुकरण, संचार साधनों की वृद्धि आदि के कारण नशा, बलात्कार, मर्डर, हिंसा जैसी प्रवृत्तियों का बोलबाला व भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भ्रष्ट तरीकों से धन कमाने की प्रवृत्ति में वृद्धि होती जा रही है।

10–औपचारिकता में वृद्धि आधुनिकीकरण के कारण आज व्यक्ति की व्यस्तता में वृद्वि से स्नेह, अनुकूलता, मित्रता में कमी आयी है। पीढ़ियों का अन्तराल काफी बढ़ चुका है। दिखावे व्यक्तिगत व स्वार्थ से

भरी–भावनाएं एक–दूसरे की दूरियों को बढ़ाने का कार्य कर रही है। इसलिए कहा जाता है कि आधुनिकीकरण एक ठण्डे जगत (cold world) की सृष्टि में सहायक हुआ है।

उपरोक्त आधुनिकीकरण के सकारात्मक व नकारात्मक परिणामों का अध्ययन करने से हमने पाया कि यह प्रक्रिया अपने आप में बहु सुव्यवस्थित है, जब जानबूझकर इसकी प्रक्रिया को छेड़ा जाता है या विकृत किया जाता है तो ये बुरी बन जाती है, क्योंकि यदि देखा जाए तो आधुनिकीकरण के कारण मुख्य रूप से प्रौद्योगिक विकास, जीवन स्तर में सुधार, कृषि का आधुनिकीकरण, समाजसुधार को प्रोत्साहन, अन्तर्जाजीय संबंधों में परिवर्तन, शिक्षा का प्रचार–प्रसार, लोकतांत्रिक नेतृत्व का विकास तथा सामाजिक मूल्य व मनोवृत्तियों प्रभावित हुई हैं, जिससे भारतीय समाज विकसित समाज की ओर अपने कदम बढ़ाने में सक्षम हो रहा है।

4.21 पश्चिमीकरण (Westernization)

आधुनिक भारत विशेषकर ग्रामीण भारत में परिवर्तन लाने के लिए जिन प्रक्रियाओं व सामाजिक शक्तियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उनमें पश्चिमीकरण की प्रक्रिया विशेष उल्लेखनीय रही है। अंग्रेजी शासन काल में पाश्चात्य संस्कृति ने अपने प्रभाव से भारतीय समाज में अनेक उल्लेखनीय परिवर्तन किये, जिससे भारतीय जनजीवन में परिवर्तन की गति तेज हो गयी। अर्थात् पश्मिीकरण की प्रक्रिया से उत्पन्न परितर्वन ग्रामीण व नगरीय दोनों समाजों में देखे गये। पश्चिमीकरण की प्रक्रिया को समझने के लिए पहले इसके अर्थ को समझेंगे।

पश्चिमीकरण का अर्थ (Meaning of westernization)

पश्चिमीकरण का तात्पर्य पश्चिमी सभ्यता व संस्कृति के अनुकरण से है। अर्थात् पश्यिमीकरण परिवर्तन की उस प्रक्रिया का द्योतक है। जो कि भारतीय जन–जीवन व संस्कृति के विभिन्न पक्षों में उस पश्चिमी संस्कृति के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप्स उत्पन्न हुई जिसे कि अंग्रेज शासक अपने साथ लाये थे। इसमें प्रौद्योगिकी से लेकर जाति प्रथा, संयुक्त परिवार, विवाह, धर्म, कला, परम्परा, मूल्य, आदर्श साहित्य, संगीत, विचार और लक्ष्य इत्यादि सभी पर पश्चिमी संस्कृति की एक अमिट छाप लग गयी। हम पश्चिम के रंग में रंगते चले गये। यहीं पश्चिमीकरण की प्रक्रिया है

पश्चिमीकरण के परिभाषाओं को निम्नवत् समझेंगे–

एम0एन0श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण के विषय में लिखा है–''भारत समाज व संस्कृति में डेढ़ सौ वर्ष से अधिक के अंग्रेजी शासन काल के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुए परिवर्तन, जिसमें विभिन्न स्तरों जैसे–प्रौद्योगिकी, संस्थाओं, विचारधाराओं व मूल्यों में परितर्वन शामिल हैं पश्चिमीकरण है।''

प्रो0 योगेन्द्र सिंह के अनुसार–''मानवतावाद तथा तार्किकतावाद, पश्चिमीकरण के महत्वपूर्ण हिस्से हैं, जिसके फलस्वरूप भारत में अनेक संस्थात्मक व सामाजिक श्रृंखलाबद्ध सुधार हुए हैं। वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी एवं शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना, राष्ट्रवाद का उदय, देश में नयी राजनैतिक संस्कृति व नेतृत्व सभी पश्चिमीकरण के अधिउत्पादक हैं।''

जे0 पी0 सिंह के अनुसार–''पश्चिमीकरण की प्रक्रिया को पूर्वीकरण (orentailization) के नाम से पहचाना जाना चाहिए।'' एक अन्य विचार प्रस्तुत् करते हुए योगेन्द्र सिंह ने लिखा है–''संस्कृतिकरण भारतीय संस्कृति में परिवर्तन का आन्तिरिक कारक है और पश्चिमीकरण बाह्य।''

हरिकृष्ण रावत के समाजशास्त्र विश्वकोश के अनुसार–''पाश्चात्य संस्कृति के संघात द्वारा उत्पन्न सामाजिक प्रक्रिया को पश्चिमीकरण की संज्ञा दी गयी है। यह प्रक्रिया पाश्चात्य संस्कृति के तत्ववों को अंगीकार करके तथा पश्चिमी जीवन के अनुरूप सामाजिक नैतिक और आर्थिक व्यवहारों में परिवर्तन को इंगित करती है।''

उपर्युक्त आधार पर कहा जा सकता है कि पश्चिमीकरण सभ्यता व संस्कृति का अनुकरण करने की एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसे हम अंग्रेजी शासन काल से अंगीकार कर रहे हैं। प्रारम्भ में इसकी गति मन्द थी, लेकिन वर्तमान में कुछ दशकों से इसमें क्रान्तिकारी तीव्रता परिलक्षित होने के साथ–साथ परिवर्तनात्मक लहर दिखायी पड़ती है।''

4.22 पश्चिमीकरण की विशेषताएँ (characterstics of westernization)

पश्चिमीकरण की विशेषताओं का उल्लेख निम्नवत् किया गया है–

1. **पश्चिमीकरण एक प्रक्रिया है (westernization is a process)-** एक प्रक्रिया के रूप में पश्चिमीकरण एक ऐसी स्थित को स्पष्ट करती है। जिसमें कुछ समूह पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति को अपनाने लगते हैं। इसके दो पक्ष हैं–चेतन व अचेतन। अर्थात् कभी तो व्यक्ति चेतन रूप से अर्थात् अपनी इच्छानुसार इसे अपनाता है और कभी अचेतन रूप से पाश्चात्य संस्कृति व सभ्यता को ग्रहण कर लेता है।
2. **एक जटिल अवधारणा –** पश्चिमीकरण की प्रक्रिया जटिल है। इसमें उन सभी परिवर्तनों को सम्मिलित किया जाता है जो पाश्चात्य प्रौद्योगिकी और आधुनिक विज्ञान के फलस्वरूप उत्पन्न हुई है। कई बार व्यक्ति नवीन व्यवहार प्रतिमानों से सामंजस्य स्थापित करने में कठिनाई अनुभव करते हैं। पश्मिीकरण की प्रक्रिया गांवों की तुलना में नगरों में अधिक प्रभावी रही हैं, लेकिन गाँवों में भी उच्च सामाजिक, आर्थिक स्थिति के लोगों में पश्चिमीकरण के प्रभाव को आसानी से देखा जा सकता है।
3. **एक तटस्थ अवधारणा (A Complex concept)-** पश्चिमीकरण की प्रक्रिया में इस अर्थ में तटस्थ है कि यह पश्चिमी के प्रभाव से उत्पन्न किसी अच्छे या बुरे परिवर्तन को स्पष्ट करने में अधिक रूचि नहीं लेती, बल्कि इसका संबंध सभी प्रकार के परिवर्तन को स्पष्ट करने में अधिक रूचि नहीं लेती, बल्कि इसका संबंध सभी प्रकार के परिवर्तनों को व्यक्त करने से है। श्रीनिवास के शब्दों में–''पश्चिमीकरण शब्द नैतिक दृष्टि से तटस्थ है। इसका प्रयोग किसी परिवर्तन के अच्छे या बुरे होने को सूचित नहीं करता, बल्कि यह प्रत्येक ऐसे परिवर्तन से संबद्ध है जो पश्चिमी समाज के अनुकरण को अभिव्यक्त करता है।''
4. **किसी निश्चित प्रारूप का अभाव (Lake of a Specfic Model)-** पश्चिमीकरण का तात्पर्य किसी भी पश्चिमी समाज के उस प्रभाव से है जो किसी गैर पश्चिमी समाज पर पड़ता है। कुछ वर्ष पूर्व तक जहाँ पश्चिमीकरण में इंग्लैण्ड का प्रभाव था, वहीं भारतीयों का लगाव इस क्षेत्र से कम होने के कारण

अमेरिका व रूस के महत्व में वृद्धि होने लगी और इससे पश्चिमीकरण के प्रारूप में भी परिवर्तन हो गया। अतः इसके किसी निश्चित प्रारूप का उल्लेख नहीं किया जा सकता।

5. **सामान्य संस्कृति का अभाव (Lake of Common Culture)–** पश्चिमी समाजों की संस्कृति में समानता न होने के कारण भारतीय समाज में उत्पन्न परिवर्तनों को ब्रिटिश संस्कृति का प्रतीक माना जाना चाहिए। श्रीनिवास के अनुसार–''वर्तमान समय में पश्चिमीकरण का तात्वर्य पश्चिमी देशों में से किसी की भी एक या अनेक सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहाण करने से समझना चाहिए।'' ब्रिटिश संस्कृति का ही प्रभाव है इस बात से श्रीनिवास सहमत नहीं हैं।
6. **अनेक अधिमान्य मूल्यों का समावेश (Inclusion of many preferential values)** वास्तविकता यह है कि पश्चिमीकरण अनेक मूल्यों का समन्वय है जो परम्परागत भारतीय विशेषताओं से अत्यधिक भिन्न रहे हैं अर्थात् तार्किक ज्ञान की प्रधानता, व्यक्तिवादिता, नवजागरण, स्वतंत्रता, समानता, उदारवादी दृष्टिकोण, विचारों की स्वतंत्रता तथा भौतिक आकर्षण पश्चिमीकरण के प्रमुख तत्व हैं और इनमें निर्मित नवीन मूल्य व्यवस्था ही पश्चिमीकरण का आधार हैं।

उपर्युक्त विशेषताओं से स्पष्ट है कि यदि कोई भी समाज इन तत्वों या विशेषताओं पर आधारित वैचारिक तथा व्यवहारिक स्तर पर अपनी जीवन पद्धति में परितर्वतन करने लगता है तो इसे पश्चिमीकरण की प्रक्रिया कहा जाता है।

4.23 पश्चिमीकरण एवं परिवर्तन (westernization and change)

पश्चिमीकरण के प्रभाव से होने वाले परिवर्तनों को अनेक रूपों में देखा जा सकता है, लेकिन यहाँ पर मुख्य रूप से सामाजिक धार्मिक व राजनैतिक जीवन में पड़ने वाले प्रभावों की चर्चा की जायेगी।

सामाजिक जीवन और संस्थाओं में परिवर्तन (change in social life and institutions)- सामाजिक संस्थाओं में पश्चिमीकरण द्वारा उत्पन्न परिवर्तन में सर्वप्रथम जाति प्रथा में व्याप्त परिवर्तन का उल्लेख करेंगे–

1) जाति प्रथा (Caste system)– जैसा कि सर्वविदित है कि भारत में व्यवस्था जन्म के आधार पर सामाजिक संस्तरण और खण्ड विभाजन की एक गतिशील व्यवस्था हुई थी। अंग्रेजी शासन काल के पश्चात अनेक प्रकार के कारक व शक्तियों ने विकसित होकर जातिप्रथा के संरचनात्मक तथा संस्थात्मक दोनों ही पहलुओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाकर प्रतिबन्धित कठोर नियमों को शिथिल किया। औद्यौगीकरण के साथ ग्रामीण आत्मनिर्भरता का पतन हुआ तथा हजारों की संख्या में श्रमिक रोजी रोटी की लालसा से नगरों की ओर अग्रसर हुए। नगरी पर्यावरण विभिन्न जातियों के लोगों का केन्द्र होने के कारण जाति प्रथा की रूढ़िवादी मानसिकता कम होने लगी। विभिन्न जातियों का साथ रहना, खान–पान व सम्पर्क से जातिगत दूरियां कम होती गयी। अंग्रेजों द्वारा यहां मुद्रा व्यवस्था संगठित करने के कारण धन का महत्व बढ़ने लगा। वाणिज्य, व्यापार के विस्तार के साथ ही शासन संबंधी नवीन व्यवस्था ने नये–नये पेशों को विकसित कर विभिन्न जाति के लोगों को उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें चुनने के अवसर दिये। अतः जाति आधारित पेशों के चयन की समाप्ति हो गयी। यातायात संचार साधनों का सभी के द्वारा प्रयोग किये जाने के कारण छुआछूत की भावना भी कम होने लगी। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से भी जाति प्रथा में उत्पन्न क्रान्तिकारी परितर्वन को देखा जा सकता है। जहाँ भारतीय परम्परागत शिक्षा ब्राह्मणों के हाथों की कठपुतली के रूप में कार्यरत् थी, वहीं पाश्चात्य शिक्षा धर्मनिरपेक्ष अर्थात् सबके लिए थी, जिससे निम्न जातियों के वंचित लोगों में भी शिक्षा का प्रसार होने लगा। शिक्षित

व्यक्तियों में धर्म, जाति, अन्धविश्वास, रूढ़िवादी मानसिकता का स्तर घटने लगा। अग्रेजी शिक्षा प्रजातंत्रवाद, समानता, स्वतंत्रता व बंधुत्व के पश्चात मूल्यों को भी विद्यार्थियों में विकसित कर देती थी, जिसक कारण जाति प्रथा दुर्बल होती गयी।

वैज्ञानिक विचार, सामाजिक–धार्मिक आंदोलन, सह–शिक्षा, विवाह के नियमों में शिथिलता, उद्योग–धंधे, वाणिज्य, व्यापार, राजनैतिक संगठन इत्यादि ऐसे आधार रहे हैं, जिन्होंने विभिन्न जातियों को साथ रहने, खाने, एक–दूसरे की संस्कृति को जानने। साथ यात्रा, साथ शिक्षा आदि के कारण व्यक्तिगत पहचान को धूमिल किया और जातीय कठोर प्रतिबंधों को तोड़ दिया। इसी पृष्ठभूमि के आधार पर बंगाल की यह कहावत–''जाति मारले तीन सेन–स्टेसेने विलसेने और केशवसेने।'' अर्थात् तीन सेन लोगों ने जाति प्रथा को समाप्त किया। स्टेशन अर्थात् रेलवे स्टेशन, विलसन अर्थात् कोलकता का एक प्रसिद्ध होटल मालिक तथा ब्रहम समाज के संस्थापक केशवचंद्र ने। अतः स्पष्ट है कि पश्चिमीकरण के प्रभाव से जातिगत शिथिलता में सामाजिक दूरियां उत्पन्न कर महत्वूपर्ण कार्य किया है।

2) अस्पृश्यता (Untouchability)- अस्पृश्यता को समाप्त करने के लिए महात्मा गाँधी के साथ–साथ, आर्य समाज, ब्रह्म समाज, रामकृष्ण मिशन आदि की महत्वपूर्ण भूमिका रही है, लेकिन पाश्चात्य मूल्यों एवं शिक्षा के कारण समानता के सिद्धान्त ने समाज को एक स्वस्थ व सकारात्मक वातावरण देकर छुआ–छूत को दूर करने में सक्रिय भूमिका का निर्वाह् किया है। अस्पृश्यता अपराध अधिनियम 1953 पारित होने के लिए समाज सुधारकों द्वारा जो प्रयास किये गये उसमें पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव को आसानी से देखा जा सकता है।

3) विवाह (Marriage)- एक सामाजिक, धार्मिक संस्था के रूप में विवाह को धार्मिक संस्कार माना जाता रहा है। जिसमें जातिगत नियमों के साथ अनेक प्रतिबंधों का पालन आवश्यक था, लेकिन पश्चिमीकरण की जटिल व तटस्थ प्रक्रिया के कारण अन्तर्जातीय विवाह, विलम्ब विवाह, प्रेम विवाह, विवाह विच्छेद की सुविधा, विधवा पुर्नविवाह आदि की स्वतंत्रता के साथ ही बाल विवाह, बेमेल विवाह, बहु विवाह जैसी प्रचलित कुप्रथाओं का अन्त व एक विवाह की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया, जिसे एक सार्थक परिवर्तन माना जा सकता है।

4) स्त्रियों की स्थिति (Status of women)- स्त्रियों की स्थिति का मूल्यांकन इस बात को इंगित करता है कि उनकी स्थिति को संतोषप्रद नहीं माना जाता और बात यदि भारतीय परम्परागत समाज की करें तो स्थिति अत्यधिक गंभीर व भयावह थी, लेकिन पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव ने एक नयी सोच, आदर्श व जागृति पैदा की। समानता व स्वतंत्रता के प्रगतिवादी विचारधारा, नवीन सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों ने उनमें आन्दोलनों की भावना का विकास किया। जिस से आज वे घर–परिवार के साथ–साथ आर्थिक रूप में सहयोगी बनकर दोहरी भूमिका का बखूबी से निर्वह्न कर रही हैं। मां, बहिन, पत्नी या घर की दासी से बाहर निकलकर अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार कर वे राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे ंविस्तृत हो चुकी हैं इसे पश्चिमीकरण का ही प्रभाव कहा जायेगा।

5) रीति–नीति और प्रथा (Usages and costoms)- पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव भारतीय जीवन के हर क्षेत्र, खान–पान, रहन–सहन, वेशभूषा, बोलचाल, जीवन जीने का ढंग, संस्कृति, साहित्य, संगीत इत्यादि में दिखायी पड़ता है। जिसने भारतीय रीति–नीति और प्रथाओं को परिवर्तित कर उन्हें नवीन मूल्य व विचारधारा में चलने के लिए प्रेरित किया है।

6) राष्ट्रीयता (Nationality) पाश्चात्य संस्कृति के कारण ही हम आज राष्ट्रीय जीवन के साथ–साथ अन्तर्राष्ट्रीय विभिन्न समूहों के सम्पर्क में आकर वहाँ व्याप्त मूल्यों से परिचित होते हैं इससे राष्ट्रीय

समानता, एकता पनपती है। उन्नतिशील संदेशवाहक और यातायात के साधनों के कारण राष्ट्रीय नेताओं को भी संगठित करने का अवसर मिला।

7) संयुक्त परिवार (Joint Family)– भारतीय समाज कृषि प्रधान होने के कारण यहाँ संयुक्त परिवारों की व्यवस्था रही है। जहाँ प्रत्येक क्षेत्र में सामूहिकता व संयुक्तता की विशेषता निहित है। पाश्चात्य आदर्शों ने त्याग व कर्तव्य से हटकर अधिकार, सुख व समानता के लिए प्रेरित किया, जिससे संयुक्त परिवार विघटित होने लगे, अर्थात् पाश्चात्य शिक्षा, संयुक्त परिवार के अनुकूल नहीं था, क्योंकि उसमें छोटा परिवार, व्यक्तिवाद, स्त्रियों की स्वतंत्रता पर बल दिया गया है और, क्योंकि वर्तमान में भारतीय समाज इसका अनुकरण कर रहा है। इसलिए भारतीय समाज में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के कारण संयुक्त परिवारों का विघटन हुआ है।

ख–धार्मिक जीवन में परिवर्तन (Changes in Religious life)- भारतीय जीवन में धर्म का अत्यधिक प्रभाव रहा है। जिसके कारण असंख्या धार्मिक, अविश्वास, कुप्रथाएँ, जाति–पाति के भेदभाव का बोलबाला रहा। लेकिन पाश्चात्य संस्कृति ने भारतीय धार्मिक जीवन को परिवर्तित किया, जिसमें समाज सुधारकों की अहम् भूमिका रही है। पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क में आने से धार्मिक विधियों, कर्मकाण्डों में कमी के साथ–साथ ब्राह्मणों के प्रभुत्व में भी कमी आयी। हिन्दू धर्म की संकीर्ण मानसिकता के कारण लोगों ने ईसाई धर्म को अपनाना शुरू कर दिया। भौतिकवाद व बुद्धिवाद के प्रभाव के धार्मिक विधियों तथा कर्मकाण्ड का खंडन होने लगा। हिन्दू धर्म के दोषों को दूर करने के उद्देश्य से नये धामिक सिद्धान्तों को जनता के सम्मुख रखा गया। राजा राममोहन राय, महर्षि देवन्द्रनाथ ठाकुर तथा केशवचंद्र सेन से ब्रहम समाज का संचालन का काम जोरों से चलने लगा। वेद–वेदांत के प्रचार में वृद्धि हुई। सन् 1861 में श्री सेन ने नवयुवक साथियों के साथ मिलकर 'संगत सभा' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य आध्यात्मवाद का प्रचार करना था। ब्रह्म समाज, आर्य समाज की स्थापना ने भी जाति–पाति का भेद, बाह्य आडम्बर, कुप्रथाओं व कुसंस्कारों का अन्त कर पाश्चात्य खुले विचारों को अपनाने के लिए प्रचार–प्रसार किया।

1875 में स्वामी दयाननद सरस्वती ने आर्य समाज के प्रमुख दस सिद्धान्तों में से सम्पूर्ण सत् विद्या और सत् विद्याा से जो पदार्थ पाये जाते हैं। सब का मूल परमेश्वर है और ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप निराकार, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, न्यायकारी, दयालु, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना योग्य है। जैसे दो प्रमुख सिद्धान्तों को लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया। जाति प्रथा के स्थान पर कर्म के महत्व, वर्ण व्यवस्था के संकीर्ण स्वरूप में परिवर्तन कर वेदान्त को एक नया स्वरूप प्रदान किया। पाश्चात्य संस्कृति का स्वामी विवेकानन्द पर भी गहरता प्रभाव पड़ा। जिसके कारण उन्होंने देशसेवा, जनसेवा, मातृत्व भाव, समानता, प्रेम आदि को भारतीय समाज के समक्ष रखा। उनका मानना था कि वास्तविक धर्म का पालन देश की सेवा करना है। उनका संदेश आत्मशक्ति, सामाजिक प्रगति व समाजसुधार की नींव पर आधारित है। अतः सामाजिक समानता, विश्वबंधुत्व, सर्वव्यापक धर्म तथा जनसेवा इन्हीं सब आदर्शों को मूर्त रूप देने के लिए स्वामी विवेकानन्द ने 1899 में 'रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। सन् 1909 में इस मिशन को गर्वनर जनरल ने कानूनी मान्यता प्रदान की। अतः पश्चिमीकरण ने भारतीय धार्मिक जीवन को भी परिवर्तित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह् किया है।

3– राजनैतिक जीवन में परिवर्तन (Changes in Political Life)- ब्रिटिश काल के परिणामस्वरूप राजनैतिक क्षेत्र में भी चेतना आयी। समाज सुधारक महापुरुषों ने ब्रिटिश परम्परा के मानवतावादी तार्किक लौकिक मूल्यों को अपनाकर राष्ट्रीय भावना तथा राजनैतिक चेतना को प्रेरित किया। 15 अगस्त 1947

भारत के स्वतंत्र होने पर प्रजातांत्रिक, समाजवाद के आधार पर विकास व प्रगति का मार्ग चुना। 26 जनवरी 1950 को नवीन संविधान लागू किया गया, जिसमें पश्चिमी नीतियों को ध्यान में रखते हुए भारत में समाजवाद को प्रमुखता प्रदान करते हुए राज के लिए नीति–निर्देशक सिद्धान्तों तथा नागरिकों के मूल अधिकारों को भी संविधान में सम्मिलित किया गया। वर्तमान में राजनीति में पश्चिमीकरण का प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है, जहाँ एक ओर राजनीतिक गतिविधियों में वृद्धि हुई है। वहीं भ्रष्टाचार जैसी प्रवृत्तियां भी विकसित हुई हैं।

4– साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में परिवर्तन (Changes in the field of Litreture and Culture)– विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य व संस्कृति पर भी पश्चिमी करण के प्रभाव को देखा जा सकता है। वर्तमान में अंग्रेजी साहित्य संसार के सब आधुनिक साहित्यों में काफी समृद्ध माना जाता है। इसके साथ ही शिक्षा, संगीत, खान–पान आधुनिक कला, मनोरंजन के साधनों पर भी इसका प्रभाव सहज स्पष्ट होता है। योगेन्द्र सिंह ने अपनी पुस्तक **"Modernization in Indian Tradition"** में कहा है–''पाश्चात्य प्रभाव न केवल नैतिकता और दर्शन तक सीमित रहा था, अपितु कुछ क्षेत्रों में विशेषतः उच्च मध्यम वर्ग के सदस्यों में यह आदतों और प्रथाओं में भी देखने को मिलता है'' अर्थात् संस्कृति के साथ–साथ विदेशी साहित्य का अध्ययन भी भारतीयों की रूचि में शामिल होता गया। विभिन्न मराठी लेखकों ने अंग्रेजी कवियों व लेखकों जैसे–शेक्सपीयर, जॉनसन आदि के विचारों का अनुवाद किया। अन्य भाषा के लेखक भी इसका अनुकरण कर रहे है। साहित्य में अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद जैसी विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रयोग पश्चिमीकरण का ही परिणाम है। संगीत का पाश्चात्यकरण, वाद्य यंत्रों की प्रचुरता, स्थापत्य कला व वास्तुकला, चलचित्र, मनोरंजन सभी में पश्चिमीकरण उजागर होता है।

5) आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन (Changes in Economic Field)- अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद भारत के आर्थिक ढांचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। पूर्व में आत्मनिर्भर होने के कारण व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर लेता था। यातायात साधनों की उन्नति के बाद उद्योग स्थापित हुए और गाँवों की आत्मनिर्भर प्रणाली में कमी आने लगी। कृषि का व्यापारीकरण, कच्चे माल की बाजार, जमींदारी प्रथा का अन्त, गृह उद्योगों में कमी के साथ ही पूंजीवादी व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ। बड़े–बड़े मिल–कारखाने स्थापित होकर उत्पादन की प्रक्रिया में बढ़ोत्तरी कते प्रतीक बन गये। अंर्तप्रान्तीय व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि, प्रतियोगिता रोजगार में बढ़ोत्तरी तो हुई, लेकिन श्रमिक समस्याएँ भी बढ़ने लगी, बाल श्रमिक, बाल श्रमिकों का शोषण, औद्योगिक झगड़े, आन्दोलन, श्रमिक संघ, मालिक संघ बनाये जाने लगे। इसे पश्चिमीकरण का प्रभाव ही माना जा सकता है।

श्रम अधिनियम, बाल श्रम निरोधक अधिनियम निर्मित हुए और साम्यवादी व समाजवादी अर्थव्यवस्था के आदर्शों तथा विचारों के प्रसार में मदद मिली। विशेषकर कार्लमार्क्स के क्रान्तिकारी व साम्यवादी आर्थिक विचारों का प्रभाव भारतवासियों पर पड़ा।

6– वैज्ञानिक व प्रौद्योगिक क्षेत्र में परिवर्तन (Changes in Techonological and Scientific field)– पश्चिमीकरण ने वैज्ञानिक व प्रौद्योगिक क्षेत्र में विकास कर नए सामाजिक–सांस्कृतिक युग का सूत्रपात किया। संचार के क्षेत्र में नये तथा क्षेत्रीय भाषाओं में समाचार–पत्रों, डाक सेवाओं एवं रेडियो आदि का प्रारम्भ भी। इस काल में देखने को मिलते हैं जो कि निश्चित रूप से पश्चिमीकरण का प्रभाव था।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि पश्चिमीकरण प्रक्रिया ने भारतीय समाज व संस्कृति में परिवर्तन कर समानता, तार्किकता, वैज्ञानिकता, लौकिकता इत्यादि को प्रचारित किया, वहीं भारतीय नैतिक मूल्यों व आदर्शों को भी परिवर्तित कर महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह् किया है।

4.24 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान चुके हैं कि संस्कृतिकरण की व्याख्या एम0एन0श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक 'सोशल चेन्ज इन मार्डन इण्डिया' (**Social Change in Modern India**) 1976 में मैसूर के रामपुरा नामक ग्राम का अध्ययन करते समय की थी।

संस्कृतिकरण की अवधारणा को पहले 'ब्राह्मणीकरण' कहा गया, लेकिन संस्कृतिकरण अधिक व्यापक होने के कारण व्यवहार में लाया गया।

संस्कृतिकरण एक सार्वभौमिक व बहुआयामी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा सामाजिक पद में परिवर्तन के लिए निम्न जाति अपना संबंध किसी उच्च जाति से जोड़ती है। यह सामाजिक–सांस्कृति परिवर्तन की सूचक है।

प्रभु जाति की अवधारणा भी सर्वप्रथम एम0एन0 श्रीनिवास ने 1959 में मैसूर के रामपुरा गांव का अध्ययन करनते समय प्रतिपादित की थी, जिसमें अधिक भू–स्वामित्व अधिक जनसंख्या और जाति संस्तरण में उचित स्थान, आधुनिक शिक्षा, प्रशासनिक स्थिति, आर्थिक सम्पन्नता, विकास योजनाओं के साथ की सीमा, राजनीतिक प्रभुत्व आदि को प्रभु जाति क निर्धारक तत्वों के रूप में प्रस्तुत् किया है।

'धर्मनिरपेक्षीकरण का विकास 19वीं शताब्दी में ब्रिटेन में जी0के0होल्के के नेतृत्व में हुआ था, धीरे–धीरे भारत में इसका इसका प्रचलन बढ़ा और एक क्रांतिकारी परिवर्तन सामने आया। धर्मनिरपेक्षीकरण का तात्पर्य उस सामाजिक विचार या प्रवृत्ति के रूप में समझा जा सकता है, जिसके अन्तर्गत धार्मिक प्रधानता या परम्परागत व्यवहाहारों में धीरे–धीरे तार्किकता, वैज्ञानिकता व व्यवहारिकता लाने का प्रयास किया जाता है। इसके प्रमुख कारणेां में नगरीकरण, आधुनिक नवीन यातायात व संचार साधन, आधुनिक व पाश्चातत्य शिक्षा, सरकारी प्रयत्न प्रमुख हैं, जिनके फलस्वरूप सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था चाहे वे धर्म हो जाति हो, समुदाय हो, परिवार हो संस्कार हो या अन्य क्षेत्र प्रभावित हो रहे हैं।

4.25 शब्दावली

सामूहिक प्रक्रिया (coprate process)– जिस प्रक्रिया का संबंध व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होता है। सामजिक स्थिति (Social position)– समाज में व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति का निर्धारण सामाजिक नियमों से अलग नहीं है।

ब्राह्मणीकरण–Brahminization– ब्राह्मणों की संस्कृति व सभ्यता का अनुकरण जीवन के ढंग (way of life) जीवन जीने की प्रक्रिया उच्च स्थित (higher status) सामाजिक सोपान या उतार–चढ़ाव के क्रम में उच्च स्थिति प्राप्त करना। प्रभु जाति (Dominant caste) अपना प्रभुत्व जमाने वाली जाति भू–स्वामित्व (land ownership) कृषि योग्य भूमि के एक बड़े भाग का स्वामित्व

जनसंख्यात्मक शक्ति (Numerical Strength) सदस्यों की अधिक संख्या प्रत्याशी सामाजीकरण (anticipatory socialization) जिसमें निम्न जाति उच्च जाति की संस्कृति को इस आशा से अपनाती हैं। ताकि उसे उस जाति की सदस्यता या सामाजिक स्थिति मिल जाएगी।

Orientatization– पूर्वीकरण–पूर्व का अनुकरण

Humanitarianism rationalism–	मानवतावाद तथा तार्किकतावाद
By producer–	अधि उत्पादन
Importance of National Interest–	राष्ट्रहित की प्रधानता–जहां राष्ट्रहित को सर्वोपरि समझा जाए।
Stable Economy–	सुदृढ अर्थव्यवस्था

4.26 अभ्यास प्रश्न

1–संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के प्रवर्तक कौन हैं?

(क) योगेन्द्र सिंह

(ख) एस0 सी0 दूबे

(ग) एम0 एन0 श्रीनिवास

(घ) के0 एम0 पाणिक्कर

2– निम्न में से किसने संस्कृतिकरण को प्रत्याशी सामाजीकरण की प्रक्रिया माना है?

(क) डी0 एन0 मजूमदार (ख)एम0 एन0 श्रीनिवास (ग) योगेन्द्र सिंह (घ) हैरल्ड गूल्ड

3–यह कथन किसका है–''आधुनिकीकरण एक प्रक्रिया है जो परम्परागत समाज से प्रौद्योगीकरण पर आधारित समाज की ओर अग्रसर होती है''–

(क) एस0 सी0 दुबे (ख) योगेन्द्र सिंह (ग)एम0 एन0 श्रीनिवास (घ) एम0 एफ0 गोरे

4– एक व्यवस्थित अवधारणा के रूप में पश्चिमीकरण की विवेचना में मुख्य योगदान है–

(क) राबर्ट रेडफील्ड (ब) डेनियल लर्नर (स)एम0 एन0 श्रीनिवास (द) योगेन्द्र सिंह

5– संस्कृतिकरण शब्द से पूर्व इसे किस नाम से जाना जाता था?

(क) लौकिकीकरण (ख) पाश्चात्यकरण (ग) आधुनिकीकरण (घ) ब्राह्मणीकरण

6– इनमें से कौन से कारक संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को बढ़ाने में सहायक है?

(क) यातायात एवं संचार साधन (ख) सामाजिक सुधार आन्दोलन

(ग) भारतीय कानून एवं संविधान (घ) उपरोक्त सभी

7– निम्न में से कौन सी पुस्तक एम0एन श्रीनिवास द्वारा नहीं लिखी गयी है?

(क) इण्डियन विलेजेज (Indian villages)

(ख) मैरिज एण्ड फैमिली इन मैसूर (Marriage and family in Mysore)

(ग) ह्यूमन सोसाइटी (Human society)

(घ) सोशल चेंज इन मार्डन इण्डिया (Social change in Modern India)

8– ब्रह्म समाज की स्थापना किसने की?

(क) स्वामी विवेकानन्द (ख) केशवचन्द्र सेन

(ग) राजारायमोहन राय(घ) दयानन्द सरस्वती

9– अस्पृश्यता अपराध अधिनियम' कब पारित हुआ?

(क) 1872 (ख)1949 (ग)1829 (घ) 1955

10– धर्मनिरपेक्षीकरण के आवश्यक तत्व कौन से हैं?

(क) विभेदीकरण की प्रक्रिया (ख) तार्किकता (ग) धार्मिक संकीर्णता का ह्रास (घ) उक्त सभी

निम्नलिखित के आगे सत्य/असत्य लिखिये?

(11) बंगाल सती नियम' 1829 में पारित हुआ–
(12) अवैज्ञानिकता एवं अतार्किकता धार्मिक निरपेक्षीकरण के आवश्यक तत्व हैं–
(13) मजूमदार के अनुसार 'संस्कृतिकरण की अपेक्षा असंस्कृतिकरण की प्रक्रिया अधिक स्पष्ट है'–
(14) सामाजिक विभेदीकरण का तात्पर्य सामाजिक विभिन्नताओं से है–
(15) संस्कृतिकरण सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया है–
(16) उपलब्ध स्थानीय कृषि भूमि के एक बड़े भाग पर स्वामित्व होना प्रभु जाति की विशेषताएँ हैं–
17–'मार्डनाइजेशन ऑफ इण्डियन ट्रेडिशन' पुस्तक श्रीनिवास द्वारा लिखी गयी है–
(18) योगेन्द्र सिंह ने रामपुरा गाँव का अध्ययन करते समय ओक्कलिंगा जाति को प्रभु जाति के रूप में पाया–

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1–ग 2–ग 3–ख 4–स 5–घ 6–घ 7–ग 8–ग 9–घ 10–ध 11–सत्य 12 असत्य 13–सत्य 14–सत्य 15–सत्य 16–सत्य 17–असत्य 18–असत्य

4.27 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

श्रीनिवास, एम0एन0, आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, राजकमल प्रकाशन, पटना, 2003, पृ0 19–51

यादव राम गणेश (मु0सं0), भारतीय समाज, ओरियेंट ब्लैक स्वान, प्रा0 लिमि0, दिल्ली, 2014, पृ0सं0–213–214

यादव राम गणेश (मु0सं0), भारतीय समाज, ओरियेंट ब्लैक स्वान, प्रा0लिमि0, दिल्ली, 2014, पृ0सं0–165–170

अग्रवाल जी0 के0 एवं पाण्डे एस0एस, ग्रामीण समाजशास्त्र, साहित्य पब्लिकेशन, आगरा, 1999, पृ0सं0–204–211

यादव राम, गणेश, भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं विकास, 2014, पृ0सं0 50–75, ओरियेंट ब्लैकस्वान, प्रा0लिमि0दिल्ली।

मुखर्जी रवीन्द्रनाथ, भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र, प्रकाश बुक डिपो, बरेली, 2001, पृ0सं0–66–83

मुखर्जी, रवीन्द्रनाथ, सामाजिक परिवर्तन, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 1996, पृ0सं0–181–206

मदान, जी0 आर0, परिवर्तन एवं विकास का समाजशास्त्र, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 2006, पृ0सं0 137–142
अग्रवाल जी0 के0 सामजिक नियंत्रण एवं परिवर्तन, साहित्य भवन, आगरा–1999, प10सं0 428–431
घिल्डियाल अच्युतानान्द एवं गोदावरी, समकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, गौरीशंकर प्रेस, वाराणसी, 1987, 143–145
दूबे एस0सी0, एक्फ्लेशेशन एण्ड मैनेजमेंट ऑफ चेंज, टाटा मैक्ग्रोहिल, 1977, पृ0सं0–67–68
Lerner D., The Passing of Traditional Society, Free Press, NewYork-1958, page-45-49
Levi M.J., Countrasing Factors in the Modernization of China and Japan, page 27
Singh Yogender, Modernization of Indian Tradition Delhi Thomson Press, 1973, p.61

4.28 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री–

1–M.N.Srinivas- social change in Modern India, रामकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2003 पृ0सं0 19–51,107–128।
2–Singh yogender, social stratification and change in India, Manohar Publication and Distributors, New Delhi, 1997, P.144
4. आहूजा राम, भारतीय समाज, रावत पब्लिशर्स, दिल्ली, 2001

4.29 निबंधात्मक प्रश्न

1– संस्कृतिकरण को परिभाषित कीजिए तथा इसके सहायक कारकों का वर्णन कीजिए?
2– एम0 एन0 श्रीनिवास द्वारा संस्कृतिकरण पर दिये गये विचारों पर एक निबन्ध लिखिए?
3– धर्मनिरपेक्षीकरण को परिभाषित कर इसके तत्वों पर प्रकाश डालिए?
4–भारतीय समाज पर धर्मनिरपेक्षीकरण के प्रभाव व इससे उत्पन्न परिवर्तनों पर प्रकाश डालिए?
5– 'प्रभुजाति' की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। भारतीय गाँवों की शक्ति संरचना को समझने में इसका क्या महत्व है?
6– 'प्रभुजाति' के निर्धारक तत्व कौन से हैं?किसी एक प्रभु जाति की प्रकृति का वर्णन कीजिए?
7– आधुनिकीकरण से आप क्या समझते हैं? आधुनिकीकरण के प्रमुख कारकों की विवेचना कीजिए।
9–भारत में आधुनिकीकरण के प्रभावों की चर्चा कीजिए?

10–हिन्दू विवाह और सामाजिक संस्थाओं पर पश्चिमीकरण के प्रभाव का उल्लेख कीजिए।

11–भारतीय सामाजिक व राजनैतिक जीवन पर पश्चिमीकरण के प्रभाव पर एक निबंध लिखिए?

इकाई–05

श्यामाचरण दुबे (S.C.Dube)

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 श्यामाचरण दुबे का जीवन परिचय एवं कृतियाँ
5.3 भारतीय ग्राम
5.4 शमीरपेट गाँव की भौगोलिक स्थिति व पृष्ठभूमि
5.5 शमीरपेट गाँव की सामाजिक संरचना
5.6 परम्परा
5.7 परम्परा की विशेषताएँ
5.8 भारतीय परम्परा की विभिन्न धाराएँ
5.9 आधुनिकीकरण का अर्थ एवं परिभाषा
5.10 आधुनिकीकरण के प्रमुख पाँच आयाम
5.11 आधनिकीकरण के कारण
5.12 आधुनिकीकरण के संबंध में श्यामाचरण दुबे के विचार
5.13 आधुनिकीकृत व्यक्तित्व की विशेषताएँ
5.14 आधुनिकता के लक्षण
5.15 आधुनिकीकरण की बाधाएँ व अवरोध
5.16 विकास का अर्थ एवं परिभाषा
5.17 विकास की विशेषताएँ
5.18 विकास पर दुबे के विचार
5.19 विकास के सिद्धान्त
5.20 परम्परा का विकास व आधुनिकता से अन्तर्संबंध
5.21 साँस्कृतिक संक्रमण की समस्या
5.22 सारांश
5.23 शब्दावली
5.24 संदर्भ ग्रंथ सूची
5.25 सहायक/उपयोगी–पाठ्य सामग्री

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययनोपरान्त आप समझ पाएंगे–

- प्रो0 श्यामाचरण दुबे का जीवन परिचय, उनका कृतित्व।
- भारतीय ग्राम रचना के आधार पर ग्रामीण सामाजिक संरचना का वैज्ञानिक अध्ययन।
- परम्परा संबंधी दुबे जी के विस्तृत विचार।

- आधुनिकीकरण क्या है? इसके लक्षण, इसमें उत्पन्न बाधाएँ।
- विकास संबंधी दुबे जी की अवधारणा।
- परम्परा का विकास व आधुनिकता से अन्तर्संबंध व
- सांस्कृतिक सक्रमण की पीड़ा संबंधी दुबे जी के विचार।

5.1 प्रस्तावना–

श्यामाचरण दुबे का नाम भारत के अग्रणी समाजशास्त्रियों, मानवशास्त्रियों व साहित्यकारों में हमेशा सम्मान के साथ लिया जाता है। उन्हें एक कुशल प्रशासक और विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के सलाहकार के रूप में याद किया जाता है। छोटी सी आयु में अपनी लेखनी को हिन्दी पत्रकारिता के माध्यम से प्रारम्भ कर अंग्रेजी के बड़े ग्रंथों तक पहुँचाया। ग्रामीण परिवेश में पढ़ने के पश्चात् भी अपने अभूतपूर्व योगदान से समाजशास्त्र, मानवशास्त्र व साहित्य को एक नयी दिशा देने का कार्य प्रत्येक क्षेत्र में सराहनीय व महत्वपूर्ण है। अतः उनके व्यक्तित्व व कृतित्व की चर्चा करना विद्यार्थियों के लिए आवश्यक होगा।

5.2 श्यामाचरण दुबे का जीवन परिचय एवं कृतियाँ

श्यामाचरण दुबे का जन्म 25 जुलाई 1922 को मध्यप्रदेश के नरसिंगापुर में हुआ था। उनकी माता राष्ट्रवादी थीं और पिताजी कोर्ट ऑफ वार्डस के प्रबंधक थे। जब वे 7–8वर्ष के थे, तभी उनकी माता जी का देहान्त हो गया। पिता के संरक्षण में पलते बढ़ते उनका समय पढ़ने में व्यतीत होने लगा। जब वे 10वीं कक्षा में थे, तभी से उन्होंने हिन्दी पत्रिकाओं में कई लेखों का प्रकाशन किया, जो आगे चलकर अंग्रेजी के ग्रंथों तक पहुंच गया।

गाँव के प्राथमिक विद्यालय में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की जहाँ टाट पट्टी पर बैठकर पढ़ाई की जाती थी। नागपुर से राजनीति विज्ञान में ऑनर्स प्रथम श्रेणी में प्राप्त कर उच्च शिक्षा प्राप्त की। मानव विज्ञान को शोध के विषय रूप में चयनित कर विशेष रूप से छत्तीसगढ (मध्यप्रदेश) की 'कमार' जनजाति को अपना अध्ययन का केन्द्र बनाया। व्यवसायिक जीवन को प्रारम्भ नागपुर के हिस्लोप कॉलेज के एक प्राध्यापक के रूप में करने के पश्चात् लखनऊ विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हुए। यहाँ डी0 एन0 मजूमदार के साथ उन्होंने 'द इस्टर्न एन्थ्रोपॉलिजिस्ट' नामक पत्रिका का प्रकाशन व सम्पादन किया। तत्पश्चात् उस्मानिया एवं सागर विश्वविद्यालय में अध्ययन अध्यापन का कार्य जारी रखा, जिसमें उनका परिप्रेक्ष्य संरचनात्मक प्रकार्यात्मक रहा। इन्होंने इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टडी, शिमला–1972–1977 **(Indian Institute of Advance Study, shimla)** के निदेशक जम्मू विश्वविद्यालय के कुलपति (1978–83), यूनेस्को और यूनाइटेड नेशंस की विभिन्न राष्ट्रीय–अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और समितियों के विभिन्न पदों को सुशोभित किया तथा 1976 में 'अखिल भारतीय समाजशास्त्री परिषद् के अध्यक्ष भी रहे।

इनके लेखन के मुख्य विषय भारतीय ग्राम व्यवस्था के साथ–साथ परम्परा, विकास, पिरिवर्तन व आधुनिकीकरण भी रहे हैं। इनके द्वारा लिखित 'इण्डियन विलेज' **(Indian village 1955)** ने इन्हें सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय पहचान दिलायी।

इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं–द कमार (1954), इण्डियन विलेज (1955), इण्डियाज चेंजिंग विलेजेज (1958), ऐसेज ऑन मॉडर्नाइजेशन (1971), एक्प्लेशन एण्ड मैनेजमैंट ऑफ चेंज (1971), ट्राइबल हैरिटेज ऑफ इण्डिया (संपादित 1977), माडर्नाइजेशन एण्ड डेवलपमेंट (1988), ऑन क्राइसिस एण्ड कमिटमेंट इन सोशल वैल्यूज, इंडियन सोसाइटी (1992), मानव और संस्कृति (1993), भारतीय ग्राम (1975), विकास का समाजशास्त्र, समय और संस्कृति, संक्रमण की पीड़ा, परम्परा और परिवर्तन, इतिहास बोध और संस्कृति (1993)। ज्ञान पीठ पुरस्कार व मूर्ति देवी पुरस्कार से आप सम्मानित रहे। अतः स्पष्ट है कि दुबे जी का समाजशास्त्र व मानवशास्त्र के क्षेत्र में दिया गया योगदान अविस्मरणीय है।

5.3 भारतीय ग्राम (Indian village)

व्यक्तित्व कृतित्व का अध्ययन करने के पश्चात् भारतीय ग्राम **(Indian village)** जो आंध्र प्रदेश के हैदराबाद के निकट 'शमीरपेट' गाँव के वर्णानात्मक शोध पर आधारित है, का अध्ययन किया जा रहा है। जिसका प्रारम्भ 1951–52 में किया गया। लेकिन पुस्तक के रूप में यह 1953 में सामने आयी। यह उस्मानिया विश्वविद्यालय के तत्वावधान में आयोजित समाजसेवा विस्तार योजना तथा समाजशास्त्र एवं एवं मानवशास्त्र के संयुक्त अध्ययन का प्रतिफल है। ग्रामीण अध्ययन के क्षेत्र में यह कृति अत्यधिक उपयोगी व महत्वपूर्ण मानी जाती है। क्योंकि यह कृति अत्यधिक उपयोगी व महत्वपूर्ण मानी जाती है, क्योंकि इसमें ग्रामीण जनजीवन को सरलता के साथ गहराई से प्रस्तुत् किया गया है–

5.4 शमीरपेट गाँव की भौगोलिक स्थिति व पृष्ठभूमि

यह गाँव भारत के दक्षिण पठार में स्थित हैदराबाद और सिकंदराबाद से लगभग 25 मील की दूरी पर बसा हुआ है। उपजाऊ खेतों, वीरान चट्टानों, तालों, झीलों व मंदिरों के तेलंगाना क्षेत्र का यह गाँव ऐसे ही एक तलाब शाहगीर के किनारे बसा हुआ है। एक स्वतंत्र समामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक इकाई के रूप में सामुदायिक जीवन के कई पक्षों में यह गाँव आत्मपूर्ण है। सामाजिक नियंत्रण के महत्वपूर्ण अभिकरण के रूप में एक अर्द्धन्यायिक पंचायत भी है।

1951 की जनगणना के अनुसार यहाँ की कुल जनसंख्या 508 परिवारों में बंटी हुई थी। जिनमें सर्वाधिक ऊँची हिन्दू जातियाँ 1434 अस्पृश्य/अनुसूचित 680 मुसलमान हैं। यहाँ अधिकांश तेलुगु व उर्दू बोलने वाले द्विभाषी थे।

5.5 शमीरपेट की सामाजिक संरचना

इस गाँव की सामाजिक संरचना को दुबे जी ने तीन प्रमुख इकाईयों–ग्राम समुदाय में जाति व्यवस्था, आंतरिक गठन (सत्ता और न्याय), अंतर जातीय व अनतर ग्रामीण संगठन में विभाजित किया है।

1) ग्राम समुदाय में जाति व्यवस्था–यहाँ हिन्दू–मुसलमान दोनौं हैं और सभी मुसलमान सुन्नी सम्प्रदाय से हैं। इनका समूह सामाजिक–धार्मिक आधार पर संगठित है। सम्पत्ति–पूंजी के आधार पर समान है। यहाँ हिन्दुओं की कठोर व स्तरीकृत जाति व्यवस्थाप से मुसलमानों भी प्रभावित हैं, क्योंकि धार्मिक दृष्टि से हिन्दुओं ने स्वयं से उन्हें नीचे माना है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व द्विज वर्णों में विभक्त इस गाँव में अनेक

ऐसी जातियाँ हैं, जिन्हें अस्पृश्य नहीं गिना जाता। अतः जाति की श्रेष्ठता की दृष्टि से शमीरपेट की विभिन्न जातियों का क्रम निम्नवत् है–

द्विज जातियाँ– ब्राह्मण (पुराहित), कोमटि (व्यापारी)

व्यवसायिक जातियाँ– कृषक, कारीगर, मजदूर

कापुरेड्डी	कुभ्भरि	गोल्ला	कापु मुत्तरासी
(कृषक)	(कुम्हार)	(चरवाहे)	(कृषक)
साले	गाओण्डा	साकली मंगली	
(जुलाहा)	(तांड़ी बनाने वाले)	(धोबी)	(नाई)
बड्डार	एकरकला	पिच्च–कुटला	
(पत्थर तोड़ने वाले)	(शिकारी व चटाई बनाने वाले)	(जाति–गोत्र का गुणगान करने वाले भाट)	

अस्पृश्य जातियाँ– माला, मादिगा

हिन्दुओं में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि है।

2) आन्तरिक गठनः सत्ता व न्याय–इस गाँव के आंतरिक गठन को भी सामाजिक–धार्मिक तथा प्रशासनिक गठन दो रूपों में देखा जाता है। जहाँ सामाजिक–धार्मिक गठन के आधार पर वंशानुगत मुखिया सर्वाधिक सम्मानित व प्रभावशाली व्यक्ति माना जाता है। जिसका निर्णय सर्वमान्य होता है और जो झगड़े निवारण, त्योहारों का कार्यक्रम, धार्मिक अनुष्ठान, चंदे का एकत्रीकरण, सार्वजनिक कार्यों के लिए विचार विमर्श, सरकारी कर्मचारी के विरुद्ध शिकायत करने जैसे कार्यों का सम्पादन करता है। वहीं प्रशासनिक सत्ता में पुलिस प्रमुख होती है। आपराधिक गतिविधियों पर नजर रखना, जन्म–मरण संबंधी रिकार्ड रखना जैसे कार्यों का सम्पादन इसमें किया जाता है। जिसके लिए इन्हें प्रतिमाह वेतन दिया जाता है।

3) अन्तरजातीय व अन्तर ग्रामीण संगठन–सामाजिक संगठन की इकाई के रूप में जाति का विस्तार व्यापक है। सामान्यतया अधिकांश जातियाँ अपना आदान–प्रदान तेलंगाना तक ही रखती हैं। मुसलमानों का संबंध क्षेत्र विस्तृत है। हिन्दू जाति के लोग पड़ोसी गाँव के साथ मिलकर एक अर्द्धसरकारी स्थानीय समूह बनाते हैं।

संस्कारात्मक गतिविधियाँ–यहाँ प्रचलित संस्कारों को निम्नवत् देखा गया है–

अ–धर्म का स्वरूप–यह मुख्यतः एक हिन्दू गाँव है। समस्त मुसलमान सुन्नी हैं। न तो ये पाँच समय की नमाज पढ़ने के लिए नियम का पालन करते हैं, न ही हिन्दुओं में विशेष पर्वों के अतिरिक्त प्रतिदिन मंदिर जाने की परम्परा है। पर्व–त्योहार नियमानुसार मनाये जाते हैं युवाओं में धार्मिक अनुभव प्राप्ति का उत्साह बहुत कम है। ये सभी भाग्यवादी हैं। भाग्य 'कर्म व पुनर्जन्म' के विचार से जुड़ा है। यहाँ के लोग परम्परागत

नियमानुसार कार्य करना पसंद करते हैं। मृत्यु व आत्मा की अवधारणा को मानते हैं, भूत–प्रेतों पर विश्वास करते हैं।

विश्वास–शमीरपेट के प्रायः सभी मुसलमान हिन्दू धर्म से परिवर्तित मुसलमान है। जो भूत–प्रेत व आत्माओं पर विश्वास रखते हैं। गाँवों में मनाये जाने वाले त्यौहार–पर्वों में उनकी सहभागिता होती है तथा विपरित परिस्थितियों, समस्याओं के समाधान हेतु देवी–देवता की पूजा को आवश्यक मानते हैं।

हिन्दू–त्यौहार–व्रत और भोज हिन्दुओं के धार्मिक जीवन के महत्वपूर्ण अंग हैं। उगादी, रामनवमी, टोली एकादशी, नागुल पंचमी, कृष्ण अष्टमी, पितृमास, दसरा, तिलसंक्रान्ति, शिवरात्रि व होली हिन्दुओं के तो मुहर्रम, मीलाद शरीफ, ग्यारहवीं शरीफ, शबे मीराज, शबे बारात, रमजान, ईदउल जुआ आदि मुसलमानों के प्रमुख त्योहार हैं। पोच्चमा, मैसम्मा, जलाल मियां का उर्स इत्यादि ग्रामीण त्यौहार के रूप में मनाये जाते हैं।

जीवन यात्रा संबंधी संस्कार–इनमें मुख्यतः जनम, युवा होने से पूर्व, वयः संधि, विवाह एवं मृत्यु संस्कारों की परम्परा है। जिनका उद्देश्य व्यक्ति की आत्मोन्नति एवं दूषण को दूर करके शुद्धिकरण करना है। नामकरण युवा होने पर हिन्दुओं में यज्ञोपवीत, मुसलमानों में खतना व अक्षर ज्ञान के लिए बिसमिल्लाह, विवाह आदि संस्कारों की प्रमुखता पायी जाती है। सामान्यतया हिन्दू, मुसलमान दोनों ही शवों को दफनाते हैं ब्राह्मण व कोमटि अपने मृतकों को जलाते हैं।

उपरोक्त भारतीय ग्राम नाम कृति में डॉ0 दुबे ने सूक्ष्मता से शमीरपेट की सामाजिक संरचना को प्रस्तुत किया है।

5.6 परम्परा (Tradition)

एस0 सी0 दुबे ने परम्परा, विकास, आधुनिकता के अन्तर्संबंध पर समय–समय पर लेख लिखे, व्याख्यान दिये जिनका संकलित रूप इनकी पुस्तक परम्परा इतिहास बोध और संस्कृति, परम्परा और परिवर्तन, विकास का समाजशास्त्र, समय व संस्कृति में देखने को मिलता है। अतः इन विषयों पर आगे चर्चा की जायेगी।

परम्परा को परिभाषित करना अत्यधिक जटिल है। साहित्य से लेकर विज्ञान तक इसे अलग–अलग ढंग से परिभाषित किया गया है। अधिकांशतः परम्परा व आधुनिकता को समान माना जाता है। कोई भी चीज कब तक परम्परागत मानी जाती रहेगी या किसी चीज में आधुनिकता कब प्रारम्भ होती है इस बात का निश्चितिकरण समाज वैज्ञानिकों के लिए कठिन है। ये दोनों ही द्विभाजक (dichotomous) शब्द नहीं हैं, बल्कि इनके बीच एक अनवरतता (continuum) की स्थिति है। परम्परा एक सापेक्षिक शब्द है। यदि कोई एक चीज एक समाज के लिए भी परम्परागत है तो कोई जरुरी नहीं कि दूसरे समाज के लिए भी परम्परागत ही होगी।

अतः परम्परा को समझने के लिए इन्हें विद्वानों द्वारा कहे गये कथनों के अनुसार निम्नवत् समझे–

निकोलस एबरक्रॉमी (Nicholas Abercrombie) के अनुसार–''शाब्दिक अर्थ में परम्परा से अभिप्राय एक ऐसी मानवीय प्रथा, विश्वास, संस्था या मानवाकृति से है। जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित की जाती है।''

एस0 सी0 दुबे (S.C.Dube)- ''शाब्दिक अर्थ में ऐसे विचार, प्रथाएँ व्यवहार, प्रकार, जीवन मूल्य और संस्थानिक रूप जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दिये जाते हैं। परम्परा की परिधि में आती हैं।

उपरोक्त आधार पर कहा जा सकता है कि परम्परा एक अमूर्त सामाजिक रचना है, जिसे पीढ़ी दर पीढ़ी होते हुए समाज को स्थायित्व मिलता है। लोगों के आचरण का निर्धारण व उसे वैधता प्राप्त होती है, अर्थात् यह एक प्रकार की सामाजिक विरासत है।

अमूर्त स्वरूप सापेक्षिक अवधारणा, अभौतिक संस्कृति, धीमी गति, सामाजिक विरासत के रूप में, स्थायित्व प्रदान करने व व्यवहार नियंत्रण जैसी सम्पूर्ण विशेषताओं को परम्पराओं में देख जा सकता है। एस0 सी0 दुबे के परम्परा संबंधी विचारों को निम्नवत् स्पष्ट किया जा रहा है–

पृष्ठभूमि (Background)- द्वितीय विश्वयुद्ध के प्श्चात् पुराने उपनिवेशों के स्थान पर धीरे–धीरे नव स्वाधीन राष्ट्रों के उदय ने अपने देशों के विकास हेतु नियोजित आर्थिक विकास का रास्ता अपनाया और अपेक्षित परिणाम या लाभ न होने की स्थिति में परम्पराओं को उसका दोषी ठहराया। इन परिस्थितियों में लम्बे समय से चले आ रहे साँस्थानिक ढाँचे, अभिवृत्तियों एवं मूल्यों को बदलने की मांग की जाने लगी। जबकि देखा जाए तो इन परिवर्तनों से जहाँ विकास का समूचा एजेण्डा अस्त–व्यस्त हो सकता था, वहीं नियोजन प्रबंधन, संचार नीति के दोषों से विकास की गति अवरुद्ध हो सकती थी। इस प्रकार समसामयिक संवाद में परम्परा केन्द्रीय बिन्दु बन गयी और संस्कृति की पुर्नरचना, राजनीतिकरण और सैनिकीकरण व्यवस्था के लिए गम्भीर प्रश्न व भविष्य के लिए चुनौती बनने लगे। जैसा कि ऊपर चर्चा की गयी है कि दुबे जी ने लिखा है–''शाब्दिक अर्थ में ऐसे विचार, प्रथाएँ व्यवहार, जीवन मूल्य और साँस्थानिक रूप जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दिए जाते हैं। परम्परा की परिधि में आते हैं।''

दुबे के अनुसार परम्परा मात्र इन तत्वों का संकल नही नहीं है, बल्कि एकीकरण और समाकलन की प्रक्रिया द्वारा यह संगठित होकर आन्तरिक संबंधों को विकसित कर एक स्वतंत्र छवि के रूप में हमारे सामने आती है। अपने लेख 'परम्परा कुछ विचार कुछ प्रश्न' में आपने लिखा है–''किसी भी समाज की जड़ें अतीत में होती हैं। परन्तु वह समाज वर्तमान में जीता है और भविष्य की चिन्ता और प्रावधान करता है। परम्पराएँ अतीत को वर्तमान, वर्तमान को अतीत से जोड़ती हैं। उसके माध्यम जीवन को निरन्तरता मिलती है और उसका स्वरूप निर्धारित होता है।

5.7 परम्परा की विशेषताएँ (characteristics of Traditions)

परम्पराएँ अभौतिक संस्कृति के रूप में स्वभाविक रूप से विकसित होकर व्यक्ति के व्यवहार व आचरण को निर्धारित व नियंत्रित करती हैं। दुबे जी ने इसमें व्याप्त विशेषताओं की चर्चा निम्नवत् की है–

1–परम्परा व संस्कृति शब्द समान नहीं हैं–संस्कृति अत्यधिक व्यापक एवं विस्तृत अवधारणा है। परम्पराएँ किसी भी संस्कृति के निर्माण में आवश्यक हैं, किन्तु इससे ही पूरी संस्कृति को नहीं समझा जा सकता। दुबे का मानना था कि संस्कृति की जटिल रचना को भली–भाँति समझने के लिए बहुमुखी अध्ययन आवश्यक है। संस्कृति क्षेत्र के अध्ययन से हमें उसके विस्तार एवं व्यापकता का बोझ होता है, जबकि परम्पराएं संस्कृति की धारणाएँ होती हैं। अतः दोनों को पर्यायवाची नहीं माना जा सकता।

2–परम्पराएँ जाति स्मृति का अंग होती हैं–परम्पराएँ जातीय स्मृति का अंग होने के प्श्चात् भी इनका चयन समाज स्वयं जीवन के बदलते संदर्भों और तात्कालिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर करता है। विशेष परिस्थितियों में प्राचीन परम्पराओं को भुलाकर नयी परम्पराएँ भी गढ़ी जाती हैं।

3–परम्पराओं में अन्तर होता है–परम्परा एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। लेकिन इनमें अन्तर परिलक्षित होता है और ये अन्तर छोटे–छोटे कबीलों में भी स्थान, गोत्र, वंश आधार पर देखा जा सकता है। संशलिष्ट व जटिल संरचना की संस्कृतियों में परम्पराओं के भेद और भी महत्वपूर्ण हो जाते हैं भारत के अधिकांश भागों में पितृसत्तात्मक व्यवस्था के साथ मातृसत्तात्मक बहुपति विवाह के साथ बहुपत्नी विवाह परम्परा भी पायी जाती है। दुबे का मानना है कि वैचारिक परम्पराएँ जितनी विस्तृत होंगी, वैचारिक संस्कृति उतनी ही समृद्ध होगी।

4–परम्परा गत्यात्मक व परिवर्तनशील होती है–परम्पराएँ सामाजिक विकास एवं ह्रास से संबंद्ध रहती हैं एवं इन प्रक्रियाओं से उनपके स्वरूप में भी परिवर्तन होता है। भिन्न परम्पराओं में आदान प्रदान होता है। परम्पराएँ स्वयं भी समय–समय पर अपना मूल्यांकन कर अपनी दिशा बदलती हैं। परम्परा की इस आन्तरिक गतिशीलता को स्वीकार किये बिना न उसके स्वरूप को न ही उसकी भूमिका को समझा जा सकता है।

5–परम्पराएँ मिथक होती हैं न इतिहास–परम्परा में मिथक व इतिहास दोनों के तत्व घुले–मिले होते हैं। अनुभवजन्य तथ्य भी इसके स्वरूप को प्रभावित करते हैं। और अत्यंत रहस्यमयता इसके स्वरूप को विकृत कर देती हैं।

6–सामाजिक उर्जा के सशक्त स्रोत के रूप में परम्पराएँ–परम्पराएँ व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करती हैं तथा आचरण का निर्धारण भी। व्यक्ति इन परम्पराओं के साथ–साथ विवेक व दूसरों के विचार संप्रेषण को भी व्यवहार में सम्मिलित करता है। अलग–अलग समाजों में इन निर्देशों को अनुपात भिन्न–भिन्न हो सकता है।

परम्पराएँ बाह्य दबाव व शक्ति प्रयोग द्वारा बदली गयी परम्पराओं को आन्तरिक रूप से स्वीकार करना कठिन होता है। ऐसी स्थिति में परम्पराएँ भारतीय अस्मिता से जुड़ जाती हैं।

5.8 भारतीय परम्परा की विभिन्न धाराएँ

राबर्ट रेडफील्ड और मिल्टन सिंगर 'वृहद एवं लघु' परम्पराओं को अवधारणाओं और मैकिम मैरिएट की लोक व्यापीकरण और स्थानीकीकरण की प्रक्रियाओं पर विचार करने के पश्चात् भारतीय परम्परा की धाराओं हेतु दुबे जी ने भारतीय परम्परा की की धाराओं हेतु अपने निष्कर्ष प्रस्तुत् किये। जिसे समझने के लिए पहले संक्षिप्त रूप 'वृहद–लघु परम्परा' व स्थानीकीकरण और लोकव्यापीकरण को संक्षेप में चर्चा करनी आवश्यक है।

लघु परम्परा– लघु परम्परा का एक स्थानीय क्षेत्र होता है, अर्थात् एक छोटे क्षेत्र के अंदर जो विश्वास धीरे–धीरे विकसित होते हैं। उन्हें धीरे–धीरे धार्मिक कृत्य का रूप मिल जाता है और यही विश्वास और धार्मिक कृत्य लघु परम्परा का स्वरूप धारण कर लेते हैं। रेडफील्ड ने लिखा है–''सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन से संबंधित यदि किसी परम्परा का मूल धर्मग्रंथों से कोई संबंध न हो, वह परम्परा एक छोटे क्षेत्र में

प्रचलित हो तथा अधिकांश व्यक्ति उसके अर्थ को न समझते हों,तब ऐसी परम्परा को हम लघु परम्परा कहते हैं।''

वृहद परम्परा– जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट होता है कि वृहद परम्पराएँ अधिक विस्तृत, प्राचीन मौलिक धर्मग्रंथों से संबंधित चिन्तनशील अभिजात वर्ग से संबद्ध, व्यवस्थित तथा शास्त्रीय विषय वस्तु पर आधारित होती हैं। मैकिम मैरियट ने लिखा है–''यदि कोई परम्परा प्राचीन धार्मिक ग्रंथों में बताये गये व्यवहारों के अनुरूप होती है तथा उसका प्रसार सम्पूर्ण समाज में होता है तो उसे वृहद् परम्परा कहते हैं।''

एस0 सी0 दुबे का विचार है कि वृहद् परम्पराओं का तात्पर्य विश्वासों, कर्मकाण्डों तथा सामाजिक प्रतिमानों की उस संयुक्तता से समझा जाता है जो नियमबद्ध व पवित्र ग्रंथों से संबंद्ध है।''

स्थानीयकरण (Parochialization)–कोई भी वह प्रक्रिया जो समूह की भावना को संकीर्ण बनाती हैं, अथवा समूह में ग्रामों की स्थानीय विशेषताओं को उत्पन्न करती हैं और जिसमें स्थानीय धार्मिक विश्वासों को विशेष महत्व होता है। वह स्थानीयकरण कहलाती हैं।

सर्वव्यापीकरण (Universalization)-मैकिम मैरिएट के अनुसार–''सर्वव्यापीकरण की प्रक्रिया का तात्पर्य वृहद् परम्परा का उन तत्वों में निर्मित होना है। जो छोटी परम्पराओं में पहले से ही विद्यमान होती हैं और जिनसे वृहद् परम्पराएँ आच्छादित रहती हैं।

उपरोक्त तथ्यों का अवलोकन करने के पश्चात् दूबे द्वारा भारतीय परम्परा की विभिन्न धाराओं को सरलता से समझा जा सकता है। जो निम्नवत् है–

एस0 सी0 दुबे का मानना था कि परम्पराओं के प्रति लगाव सार्वदेशिक व सार्वकालिक है। इसकी पुष्टि उन्होंने पाँच धाराओं में वर्गीकृत कर की है।

1–देशजीकरण एवं परम्पराएँ–डॉ0 दुबे के अनुसार इसके अन्तर्गत बाध्य सांस्कृतिक तत्वों, प्रथाओं और मूल्यों का उन्मूलन किया जाता है। परम्परा अपने मूल रूप को कैसे पाप्त कर पाए इसके लिए प्रयास किया जाता है। जिसे अंग्रेजी में मिलनेरिज्म (milnerism) या विभाविष्यवाद कहा जाता है। इसमें दो तत्वों की प्रधानता होती है–

अ–अदेशज जो बाहरी हो ऐसे तत्वों का विनाश।

ब–एक नये युग–पुरुष या मसीहा की प्रतीक्षा।

यह विश्वास किया जाता है यह मसीहा या युग पुरुष देशज व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए सुख समृद्धि के द्वापर खोल देगा और ऐसे तत्वों का विनाश करेगा, जो अदेशज हों। यह प्रक्रिया विभिन्न समाजों व युगों से चली आ रही है। जो पुनरुत्थानवाद की प्रकृति को जन्म देती है। इसमें प्रयत्न किया जाता है कि परम्परागत मूल्य, व्यवहार, प्रकार और सामाजिक गठन के रूप पुनः प्रतिष्ठित किये जायें, जिससे समाज को उसकी खोई हुई गरिमा पुनः प्राप्त हो सके।

2–जीवनीकरण एवं परम्पराएँ–इसके अन्तर्गत परम्परा को एक नवीन जीवन शक्ति प्रदान करने के लिए बाध्य सांस्कृतिक तत्वों का स्वागत किया जाता है। दुबे के अनुसार–यदि देखा जाए तो संसार के प्रत्येक

समाज द्वारा पर सांस्कृतिक प्रभाव प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप में थोड़ा या अधिक मात्रा में ग्रहण किये गये हैं। लेकिन कुछ समाजों ने सजग रूप से प्रयत्नपूर्वक उन्हें अपनाने का प्रयत्न किया है। उदाहरणार्थ जापान, जहाँ नये तत्वों का चयन समाज स्वयं करता है।

3–पुनर्व्याख्या एवं परम्पराएँ–इसमें नए तत्वों कों पुराने व पुराने तत्वों के नए ढाँचे में परखकर, उन्हें न्यायसंगत ठहराने का प्रयास किया जाता है। नाभिकीय विस्फोटों को ब्रह्म अस्त्र या अग्नि अस्त्र के समकक्ष समझना इस प्रवृत्ति का उदाहरण है।

4–जातीय भावना एवं परम्पराएँ–इसकी प्रेरणा, प्रजाति, भाषा, धर्म या संस्कृति या इनमें से किन्हीं दो तत्वों के मिले जुले योग से होती हैं। पिछले दो दशकों में इसका जबरदस्त राजनीतिकरण हुआ है। जातीय भावना की इस पृष्ठभूमि में परम्परा की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

5–मूल तत्वों की ओर वापसी एवं परम्पराएँ– परम्परा धार्मिक भावना के साथ मिलकर इस प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है। इस्लाम, ईसाइयत, बौद्ध, सिख और अपने आप को सहिष्णु कहे जाने वाले हिन्दू धर्म में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है। अतः इस प्रवृत्ति के संबंध में सकारात्मक–नकारात्मक दोनों ही पक्ष हैं।

परम्परा विषय डॉ0 दुबे के विचारों की चर्चा के प्श्चात आधुनिकता पर उनके विचारों पर प्रकाश डालेंगे–

प्रो0 दूबे के अनुसार–''मानव की स्थिति और नियति के बारे में वर्तमान में प्रचलित बहस में आधुनिकीकरण व विकास प्रमुख हैं। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में मानसिक अभिवृत्तियों तथा संस्थागत संरचनाएँ मूल तत्व होती हैं। जिसमें समाज के स्तर में होने वाली बदलाव की एक श्रृंखला छिपी होती है। यहाँ दुबे के आधुनिकीकरण की चर्चा को विस्तार से समझने का प्रयास किया जायेगा।

आधुनिकीकरण को विभिन्न विद्वानों ने भिन्न–भिन्न रूपों में स्पष्ट करने का प्रयास किया है। लेकिन सभी विचार इस बात पर केन्द्रित हैं कि आधुनिकीकरण का संबंध वैज्ञानिक मूल्यों से है। यह किसी समाज व संस्कृति के घेरे में बंद नहीं है।

आधुनिकीकरण को व्यक्ति, समूह, समाज, राजनीति, शिक्षा, प्रौद्योगिकी, प्रशासन इत्यादि आधधारों में देखा जा सकता है।

5.9 आधुनिकीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

आधुनिकीकरण को एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में जाना जाता है। जिसके अन्तर्गत शिक्षा ज्ञान, विज्ञान प्रौद्योगिकीय आदि का विकास किया जाता है। जहाँ यंत्रीकरण, विशाल उद्योगों की स्थापना, ज्ञान, विज्ञान का प्रसार तथा आर्थिक प्रगति इसका भौतिक पक्ष है, वहीं नैतिक व साँस्कृतिक कोण से ये विशिष्ट मान्यताओं व आदर्शों का परिचायक है। अतः आधुनिकीकरण दूसरे के विचार और दृष्टिकोण को सहानुभूतिपूर्वक समझने के भाव तथा अपना विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता का विकास करता है।

विद्वानों द्वारा आधुनिकीकरण की परिभाषाओं को जानने का प्रयास निम्नवत् किया जायेगा–

आइजेनस्टॉट एस0 एन0 (Eisenstandt S.N.)- ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिकीकरण सामाजिक, आर्थिक और रानीतिक व्यवस्थाओं में उन प्रकारों की दिशा में परिवर्तन की प्रक्रिया है जो सत्रहवीं शताब्दी से

उन्नीसवीं शताब्दी तक पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका में विकसित हुए हैं और उसके पश्चात् जिनका विस्तार यूरोपीय देशों में 19वीं तथा 20वीं शताब्दियों में दक्षिणी अमेरिका, एशिया, अफ्रिका के महाद्वीपों में हुआ है।''

लर्नर डी0 **(Lerner D.)–**''आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का संबंध उन दशाओं के निर्माण से है जिनमें कोई समाज व्यक्तिगत क्रियाओं और संस्थागत संरचना की दृष्टि से विभेदीकृत हो जाता है और उनमें विशेषीकरण बढ़ जाता है।

श्रीनिवास एम0 एन (M.N.Srinivas)– अंग्रेजी राज्य के फलस्वरूप भारतीय समाज और संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों को आधुनिकीकरण से संबोधित किया जाता है। यह शब्द प्रौद्योगिकी, संस्थाएं विचारधारा और मूल्य आदि स्तरों पर होने वाले परिवर्तनों को आत्मसात् करता है।''

दुबे, एस0सी0 (Dube S.C.) आधुनिकीकरण के फलस्वरूप व्यक्तियों में तक, परानुभूति, गतिशीलता एवं सहभागिता बढ़ती है।''

उपरोक्त आधार पर कहा जा सकता है कि आधुनिकीकरण एक बहुआयामी प्रक्रिया है, जिसके आदर्श पश्चिमी देश एवं उनमें होने वाले परिवर्तन रहे हैं।''

आधुनिकीकरण की विशेषताएँ (characteristics of Modernization)

आधुनिकीकरण की प्रमुख विशेषताएँ निम्नवत् हैं–

1. वैज्ञानिक मिजाज (Scientific Temper)
2. तर्क एवं बुद्धिवाद (Reason and Rationalism)
3. वैयक्तिक विश्वास एवं धर्मनिरपेक्षता (Indivisual belief and secularism)
4. उच्च आकांक्षा एवं उपलब्धि (High Aspirations and achievement orientation)
5. साधारण समाज की आाधारभूत मनोवृत्ति, मानदण्डों एवं मूल्यों में परिवर्तन (change in basic allitudes, norms and values of simple Society)
6. नयी प्रकार्यात्मक संस्थओं का गठन (functional Institutions)
7. मानव संसाधनों गुणात्मक वृद्धि में पूंजी निवेश (Investment in human resources)
8. विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था (Growh Oriented Economy)
9. राष्ट्रहित
10. समाज का खुलापन (Openness in society)
11. व्यक्तित्व में गतिशलता (Mobility in Personality)

5.10 आधुनिकीकरण के प्रमुख पांच आयाम

(Main five Dimensions of Modernization)

1- प्रौद्योगिकी (Technology)
2- आर्थिक (Economic)
3. राजनीतिक (Political)
4- सामाजिक (Social)

5. मनोवैज्ञानिक (Psychological)

5.11 आधुनिकीकरण के कारण (fectors of Modernization)

1. शिक्षा (Education)
2. संचार (Communication)
3. राष्ट्रीय विचारधारा (Nationalistic ideology)
4. करिश्माई नेतृत्व (Charismatic leadership)
5. अवपीड़क सरकारी प्राधिकार (Coercive Governmental authority)

उपरोक्त आधुनिकीकरण विषय में संक्षिप्त जानकारी के पश्चात् प्रो0 श्यामाचरण दुबे द्वारा प्रतिपादित आधुनिकीकरण की चर्चा की जायेगी–

5.12 आधुनिकीकरण के संबंध में श्यामाचरण दुबे के विचार

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् तृतीय युद्ध के देशों द्वारा अपने देश में विकास प्रक्रिया प्रारम्भ करने के लिए नीति निर्माण का कार्य शुरू किया गया। इन देशों के लिए यूरोपीय व अमेरिका जैसे आर्थिक रूप से सम्पन्न किया गया। इन देशों के लिए यूरोपीय व अमेरिका जैसे आर्थिक रूप से सम्पन्न देश एक संदर्भ समूह के रूप में कार्य कर रहे थे। आधिक विकसित देशों में पारस्परिक लाभ देने वाले संबंधों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए सीमित सहयोग के लिए हाथ बढ़ाने का निर्णय लिया गया। शोधकर्ताओं द्वारा विकास कार्यक्रमों के स्वरूप व संचालन के निर्माण के लिए आकर्षक प्रारूप निर्मित था, जो एक महत्वपूर्ण संभावना वाले मॉडल के रूप में स्वीकार किया गया।

यद्यपि यह मॉडल पश्चिमी देशों की नीतियों के अनुकरण पर आधारित था, फिर भी तृतीय दुनियाँ के देश अपने देशज मूल्यों, जीवन शैली व सांस्कृतिक सम्पदा से समझौता करने के पक्ष में नहीं थे। जिसके कारण पश्चिमी देशों का आदर्श स्वीकारना उनके लिए कठिन था। डॉ0 दुबे का मानना था कि आधुनिकीकरण का विचार इन देशों की सांस्कृतिक श्रेष्ठता की भावना के लिए घातक नहीं था।

दुबे ने 'आधुनिकीकरण पर पुनर्विचार' में लिखा है–''यह व्यवस्था एक तार्किक और वैज्ञानिक विश्वदृष्टि, आर्थिक वृद्धि तथा विज्ञान और तकनीकी के अधिकाधिक उपयोग पर आधारित है। नयी विश्वदृष्टि की आवश्यकता और उभरते हुए तकनीकी समाज के साथ निरंतरा अनुकूलन भी अनिवार्य शर्त है।''

दुबे के अनुसार–''आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में मानसिक अभिवृत्तियाँ तथा संस्थागत संस्थाएँ मूल तत्व होती हैं, तथा समाज के स्तर पर होने वाले बदलाव की एक श्रृंखला छिपी हुई होती है। पारम्परिक कृषि समाज में आरोपित, अनन्य और विकर्ण स्वरूप की प्रधानता होती है। उनके सुस्थिर व स्थानीय समूह होते हैं और अपने गाँव या क्षेत्र से बाहर सीमित गतिशीलता होती है। व्यवसाय का वर्गीकरण अपेक्षाकृत सरल और सुस्थिर होता है। तथा सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था आस्था प्रधान होती है। जिसका प्रभाव बड़ा विस्तृत होता है।

प्रो0 दुबे का मानना है कि भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में केवल लघु व वृहद परम्पराओं के आधार पर ही परम्पराओं को नहीं समझा जा सकता, बल्कि परम्पराओं को निम्नलिखित छः भागों में वर्गीकृत किया गया है।

1–शास्त्रीय परम्परा

2–राष्ट्रीय अविर्भावी परम्परा

3–क्षेत्रीय परम्परा

4–स्थानीय परम्परा

5–पश्चिमी देशों की परम्परा

6–सामाजिक समूह की स्थानीय उपसंस्कृति की परम्परा

उपरोक्त वर्गीकरण में जहाँ प्रो0 दुबे ने प्राचीन समय से चली आ रही शास्त्री परम्पराओं का उल्लेख किया है। वहीं स्वतंत्रता आन्दोलन के समय राष्ट्रभावना जाग्रत करने वाली राष्ट्रीय परम्परा के वर्णन को भी व्यक्त किया है। विभिन्नता को प्रांतीय परम्परा के अन्तर्गत रखा ब्रिटिश शासन काल के दौर में यहां की जीवनशैली में पाश्चात्य परम्पराओं का प्रभाव दिखायी देने लगा। स्थानीय परम्परा के अंतर्गत छोटे–छोटे अनेकों उपसमूहों की पृथक अस्तित्व को स्वीकार किया।

प्रो0 दुबे के अनुसार आधुनिकीकरण की मूल तीन स्थापनाएँ हैं–

1–मानव समस्याओं के समाधान और जीवन स्तर के निम्नवत् स्वीकार्य स्तर को बनाये रखने के लिए ऊर्जा के संसाधनों को अधिकाधिक दोहन जिसकी ऊपरी सीमा क्रमशः ऊपर उठेगी।

2–लक्ष्य की दिशा में वैयक्तिक और सामुहिक दोनों ही प्रकार के प्रयास आवश्यक हैं। सामूहिक सहयोग ही जटिल संगठनों को आधुनिकीकरण के मध्यम व उच्च स्तर तक पहुंचा सकता है।

3–जटिल संगठनों के निर्माण और संचालक के लिए क्रांतिकारी व्यक्ति परिवर्तन और सामाजिक संरचना तथा मूल्यों में परिवर्तन आवश्यक है।

5.13 आधुनिकृत व्यक्तित्व की विशेषताएँ

दुबे मानते हैं कि व्यक्तित्व स्तर पर आधुनिकीकरण, गतिशीलता और उच्च सहभागिता निहित है तथा लर्नर द्वारा प्रतिपादित परानुभूति, गतिशीलता तथा उच्च सहभागिता को भी उनके द्वारा आधुनिकृत व्यक्तित्व की विशेषताओं में निम्नवत् शामिल कर स्पष्ट किया गया है।

1. **तार्किक विचार की क्षमता–** तार्किकता व्यक्ति कते सोचने विचारने की प्रक्रिया में बदलाव लाती है। घटनाएँ व प्रक्रियाएँ कार्य और करण के रूप में समझी जाती हैं, जो लक्ष्य केन्द्रित होती हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण मिथ्या व कल्पना को नकारता है। यह बदलाव व्यक्ति की सोच से ऊपर

संस्थाओं की क्रिया प्रणाली में भी देखा जा सकता है जो समाज को उसके लक्ष्य तक पहुँचाने के तरीकों को निर्धारित करता है।

2. **परानुभूति–** आधुनिकीकृत व्यक्ति इस बात को ध्यान में रखते हुए कि समाज के अन्य व्यक्ति समाज में घटित घटनाओं और परिस्थितियों के बारे में किस तरह का प्रत्यक्षीकरण कर रहे हैं। अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। अर्थात् परानुभूति का तात्पर्य दूसरों की दृष्टि में स्थितियों को देखने की क्षमता से है।
3. **गतिशीलता–** आधुनिकीकृत समाज में एक खुली पदव्यवस्था होती है। जिससे अनुकूलन के लिए व्यक्ति में एक पद से दूसरे पद और संबंधित भूमिकाओं के अपनाने की क्षमता होनी चाहिए। गतिशीलता के अभाव में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया बाधक होती है। अतः सामाजिक परिवर्तन के लिए मानसिक गतिशीलता आवश्यक है।
4. **उच्च स्तरीय सहभागिता–**परम्परागत सामाजिक ढांचे में परिवर्तन एक जटिल प्रक्रिया है, क्योंकि उन्हें स्वीकार करने व उनका उल्लंघन न करने के लिए व्यक्ति बाध्य था। लेकिन आधुनिक समाज में व्यक्ति सक्रिय और सहभागी होकर सामाजिक संस्कारों से जुड़ जाता है। निर्णय की प्रक्रिया में भागीदार होता है, और लक्ष्य तक पहुँचने से जुड़े कार्यों में सक्रिय सहभागिता का निर्वाह् करता है।

प्रो0 दुबे ने अपनी पुस्तक 'विकास का समाजशास्त्र' में आधुनिकता के लिए निम्न आवश्यक तत्वों पर प्रकाश डाला है–

1. उपलब्धि की प्रेरणा
2. संघर्ष की क्षमता
3. असन्तोष का मुखर होना
4. मानवीय क्षमता में विकास होना
5. जोखिम उठाने की नयी अभिवृत्ति का विकास
6. आाधुनिकता का कल्याण और समृद्धि के साथ जुड़ाव
7. परिश्रम की प्रवृत्ति
8. साक्षरता की उच्च दर
9. परम्परागत ढ़ाँचे की खामियों को स्वीकारा जाना
10. निवेश की प्रवृत्ति
11. जनसंचार माध्यमों का विकसित ढ़ाँचा।

5.14 आधुनिकता के लक्षण

प्रो0 दुबे ने आधुनिकता के लक्षणों पर प्रकाश डालने के लिए पारसंस के प्रतिमान चर का उल्लेख किया है। इसमें उन्होंने माना है कि आधुनिकीकरण पारसन्स के तीन प्रतिमान चरों में परिवर्तन लाता है जो इस प्रकार हैं।

अ–आरोपित मापदण्ड के स्थान पर उपलब्धि के आधार पर प्रस्थिति निर्धारित होती है।

ब–अन्तःक्रिया का स्वरूप विशिष्ट मानकों के स्थान पर सार्वभौमिक मानकों द्वारा नियमित होता है।

स–व्यक्ति की भूमिकाएँ व कर्तव्य व कर्तव्य अधिक विशिष्टता प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार दुबे के अनुसार आधुनिक समाज बोध की दृष्टि से विशिष्ट प्रकार्यों वाला, भावनात्मक दृष्टि से तटस्थ, लक्ष्य की दृष्टि से व्यक्ति केन्द्रित तथा स्तरीकरण की दृष्टि से श्रम विभाजित होता है। इसके साथ ही राजनैतिक आयाम में भी परिवर्तन आते हैं। सशक्त हित समूह बनते हैं और राजनीतिक प्रतिद्वंदिता संस्थागत रूप ले लेती हैं।

जटिल संगठनों की एक अपेक्षाकृत विशिष्ट, आत्मनिर्भर प्रकार्यात्मक स्वरूप श्रृंखला प्रभावी होती है। यह नए ज्ञान की खोज, मानव परिस्थितियाँ एवं समस्याओं के लिए उसका उपयोग, नयी परिस्थितियों एवं समस्याओं के लिए प्राचीन ज्ञान का अनुकूलन, संसाधनों का संचालन और विभाजन, परिवर्तन का प्रबंध, आपदा समाधान, उपयुक्त पूंजी निर्माण तथा प्रशासनिक व कानूनी संरचना का निर्माण एवं महत्वपूर्ण दिशा निर्देशों के निर्माण आदि में परिलक्षित होती है।

5.15 आधुनिकीकरण की बाधाएँ व अवरोध

दुबे मानते हैं कि जब आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ तभी से अवरोध उत्पन्न होने लगे। जिसमें परम्परा, अकुशल, नियोजन, कुप्रबन्ध इसकी प्रगति में बाधा डाल सकते हैं। बाद के अनुभव में इन पूर्वाभासों की पुष्टि की गयी। परिणामों के अभाव ने व्यापक जनसमुदाय में विरक्ति व आक्रोश को जन्म दिया। अतः उन क्रियाओं पर ध्यान दिया जाने लगा, जो आधुनिकीकरण के लिए बाधा उत्पन्न कर रही थी। वे निम्नवत् हैं–

1. **संस्थागत बाधाएँ–** इस प्रक्रिया के अन्तर्गत इस आधार पर परम्परागत ढ़ांचों में किसी तरह का परिवर्तन नहीं किया गया कि परम्परागत ढ़ांचे आधुनिकीकरण के साथ स्वयं अनुकूलन कर लेंगे। इसके लिए किसी प्रकार की दिशा निर्देश की व्यवस्था न होने के कारण शिक्षा, जनसंचार व परिवहन जैसी सुविधाओं का विकास नहीं हों पाया। नेतृत्व व नौकरशाही दोनों ही विकास की प्रक्रिया की जटिलता को पूर्णतया समझ पाने में समर्थ रही।
2. **वैचारिक बाधाएं–**उपनिवेश व साम्राज्य विरोधी संघर्षों ने तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में राष्ट्रीय एकता प्राप्त कर सके। विदेशी प्रभुत्व के खिलाफ राष्ट्रवादी भावना ने अनेक विभाजन शील प्रवृत्तियों को अस्थायी रूप से दबा दिया था। स्वतंत्रता मिलने के बाद जातीय, भाषिक, क्षेत्रीय और धार्मिक आदि ने राष्ट्रीय एकता को कमजोर करने को कार्य किया, जिससे विकास की वैचारिक प्रेरणा में कमी आने लगी।
3. **प्रेरणादायक बाधाएँ–**आम जनता में इस प्रक्रिया में भागीदारी के लिए प्रेरणा का टीााव था। वे सोचते थे कि समाज बदलना चाहिए और बदला जा सकता है तथा इस प्रकार परिवर्तन वांछित और आवश्यक है। लेकिन यह विचार सफल होता नहीं दिखायी पड़ा। दृढ़ स्वीकृति और जोरदार कार्यान्वयन के अभाव में अनियमितता एवं संकीर्ण प्रवृत्तियाँ पनपीं। इस प्रवृत्ति ने आर्थिक विकास के राष्ट्रीय प्रयासों से जो कुछ भी थोड़ी बहुत उपलब्धि प्राप्त की गयी। उसे अंशतः व्यर्थ कर दिया।
4. **संगठनात्मक बाधाएँ–**तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में स्थानीय और राष्ट्रीय राजनैतिक प्रक्रियाएँ असंगठित, प्रशासनिक ढ़ांचा पंगु रहा है। व्यवस्था की आवश्यकता के कारण नए राजनैतिक अभिजात वर्ग के अविचरित निर्देशों ने व्यवहारिक नियमों को शिथिल कर दिया। प्रशिक्षित कर्मचारियों का अभाव, नियोजन व संचार के क्षेत्र की खामियों ने भी अवरोध उत्पनन किया। विकास कार्यक्रमों में स्थानीय व

क्षेत्रीय वरीयता के कोई मानक नहीं थे। अतः संगठनात्मक बाधाओं का जन्म होने लगा। यही कारण था कि उत्साह के साथ प्रारम्भ इस प्रक्रिया का 1970 के मध्य तक आते–आते आकर्षण समाप्त होने लगा।

5. **अस्पष्टताएँ एवं अनुपयुक्तता–** आधुनिकीकरण के मानवीय आयाम अस्पष्ट हैं। इसमें जीवन की गुणवत्ता, सामाजिक न्याय, समानता जैसे आयामों की कमी के कारण यह गरीब देश के स्वथ्थ विकास की परिकल्पना से दूर है। इसमें परम्पराओं की भी अस्पष्ट व्याख्या की गयी है। दुबे के अनुसार–'परम्पराएँ अल्पविकसित देशों में विभिन्न अवयव विभिन्न प्रकार्यों के लिए उपयोगी होने के कारण जीवित हैं। जब तक आधुनिकीकरण की आवश्यकताओं के अनुरूप कोई प्रकार्यात्मक ढाँचा उसका स्थान लेने के लिए तैयार न हो, परम्परा की समाप्ति एक शून्यता को जन्म देगी।''

इसके अतिरिक्त प्रर्यावरण असन्तुलन एक महत्वपूर्ण अवरोधक है। जिससे धरती की सतह, भूमि, जल, जंगल, जमीन, जलवायु प्रदूषण सभी परिस्थिति की अविवेकीपूर्ण आधुनिकीकरण की ही परिणति है।

उपरोक्त आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं में उत्पन्न बाधाओं पर प्रकाश डालने के उपरांत प्रो0 एस0सी0दुबे के विकास संबंधी अवधारणा पर चर्चा की जाएगी–

5.16 विकास का अर्थ परिभाषा एवं विशेषताएँ

किसी अपेक्षित दिशा में होने वाले परिवर्तन को विकास कहा जाता है। यह परिवर्तन की उस गति को दर्शाता है। जिसमें एक अवस्था दूसरी अवस्था का स्थान लेती हुई अपेक्षित दिशा में आगे बढ़ती जाती है। इसमें एक के बाद दूसरी नयी अवस्थाएँ सामने आती जाती हैं। अतः अपेक्षित दिशा में नियोजित परिवर्तन को ही विकास कहते हैं।

विकास का क्षेत्र सामाजिक व आर्थिक भी हो सकता है। सामाजिक विकास का तात्पर्य सामाजिक जीवन में विकास की प्रक्रिया की क्रियाशीलता से है। यद्यपि आर्थिक विकास का भी प्रभाव सामाजिक विकास पर निश्चित रूप से पड़ता है। अतः विकास को परिवर्तन के तीसरे प्रमुख प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया जाता है।

बी0एस0 डिसूजा (B. S. D-souza) के अनुसार– ''सामाजिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा तुलनात्मक रूप से एक सरल समाज विकसित समाज के रूप में बदल सकता है।''

बॉटोमोर (T. B. Batomore) के अनुसार–''साधरणतया विकास शब्द का प्रयोग हम 'उन्नति' के अर्थ में अथवा किसी वस्तु की 'अधिकतम जानकारी' प्राप्त करने के अर्थ में करते हैं।''

सैमुएल्सन (P.A.Samualson)- विकास से संबंधित सामाजिक परिवर्तन मुख्यतः आर्थिक वृद्धि से ही संबंधित है।''

5.17 विकास की विशेषताएँ

विकास की विभिन्न विशेषताओं का विद्वानों द्वारा उल्लेख किया गया है। विद्यार्थियों की जानकारी हेतु यह निम्नवत् हैं–

1. विकास आर्थिक व प्रौद्योगिकीय में होने वाला परिवर्तन है जो भौतिक पर्यावरण को नियंत्रित करने में मानव बढ़ती हुई क्षमता को स्पष्ट करता है।
2. विकास सार्वभौमिक अवधारणा है।
3. विकास के मुख्य आधार में आर्थिक तथा प्रौद्योगिक व गौण आधार में सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तन को शामिल किया जाता है।
4. विकास अवैयक्तिक संबंधों पर निरंतर वृद्धि करता है।
5. विकास में गतिशलीता पायी जातीी है।
6. विकास श्रम विभाजन, विशेषीकरण, शिक्षा में वृद्धि एवं धार्मिक मान्यताओं, परम्परागत मूल्यों को शिथिल करता है।

उपरोक्त विवेचना के पश्चात् दुबे विकास संबंधी अवधारणा की चर्चा करेंगे–

5.18 विकास पर दुबे के विचार (Dube view on Development)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद देशों के विकासहेतु विकास की नीति अपनायी गयी। उस समय विकास को राष्ट्र की स्थित अर्थव्यवस्था को सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि को बनाए रखने के रूप में देखा जाता था, लेकिन दुबे ने मात्र आर्थिक आधार पर विकास को परिभाषित करना उचित नहीं माना। उनकाा विचार था कि देश के विकास के लिए आर्थिक विकास आवश्यक है। लेकिन यदि उसे सुस्पष्ट सामाजिक लक्ष्यों से नहीं जोड़ा जायेगा। यह अपने उद्देश्य में कभी सफल नहीं हो सकता। विकास की अवधारणा को जापान की तरह हमें भी सम्पूर्ण राष्ट्रीय कल्याण के आधार पर सोचना होगा।' उनके अनुसार नए उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है–

1. जीवन की गुणवत्ता के आधार पर सामाजिक लक्ष्यों की पुनः परिभाषा।

2. सामाजिक प्रवृत्तियों का निर्धारण और सामाजिक प्रगति का मूल्यांकन करने के लिए संकेतों का प्रतिपादन।

3. नये सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु नुर्नवितरणाात्मक संस्थात्मक संरचना का निर्माण।

4. लक्ष्यों की शीघ्र प्राप्ति हेतु संगठनात्मक मूल्य संबंधी परिवर्तन के लिए व्यापक नीति का विकास।

5.19 विकास के सिद्धान्त (theory of Deveolopment)

''विकास के पुनर्विचार' नामक अपने लेख में दुबे ने विभिनन चिंतकों के विचारों को स्पष्ट किया है। दुबे के अनुसार–''प्रारम्भिक चिंतकों में विकास का तात्पर्य केवल एक स्थिर और मन्द अर्थव्यवस्था में 5 से 7 प्रतिशत की दर से सकल राष्ट्रीय उत्पादन में वार्षिक वृद्धि करने व उसको बनाये रखने की क्षमता के होने से था।

1–विकास का डब्ल्यू आर्थर लेविस मॉडल– इस सिद्धान्त द्वारा लेविस ने जनसंख्या के आधार पर प्रतिव्यक्ति उत्पादन की वृद्धि को महत्व देते थे, न कि वितरण को वे वितरण के बारे में तभी चिंतित होते थे, जब वृद्धि से उत्पन्न धन पुनः उत्पादक तक नहीं पहुँच पाता। इसकी सीमाएँ परिलक्षित होने के बाद इसके महत्व में कभी अवश्य आयी पर यह समाप्त नहीं हुआ।

2–विकास का कींसियन मॉडल–कींस का मॉडल तीसरी दुनिया में विशेष रूप से प्रभावी था। इसने विकास के कई मॉडलों को बनाने के लिए प्रेरणा दी। इसके मॉडल का केन्द्र बिन्दु उच्च पूंजीवादी बाजार के अर्थतंत्र में संपूर्ण आय और रोजगार का निर्धारण करना था। 1930 में प्रस्तुत् यह मॉडल आर्थिक मंदी व बेरोजगारी के कारणों के विश्लेषण के लिए था। कींस के सिद्धान्त का परोक्ष रूप से काफी प्रभाव देखा गया।

3–रोजस्टीन रोडन मॉडल– इसी प्रकार रोजस्टीन रोडन का 'धक्के का सिद्धान्त' आर्थिक विकासक के मुख्य उपाय के रूप में पूँजी निवेश पर बल देता है तथा कींस के विचारों से काफी प्रभावित भी है। हार्शमैन का 'असंतुलित विकास का सिद्धान्त', वाल्टर डब्ल्यू रोस्टोव का 'आर्थिक वृद्धि के चरणों का सिद्धान्त' इसी कोटि में आते हैं।

दुबे उपरोक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त माओं व गांधी जी की विकास संबंधित विचारधाराओं का उल्लेख करते हैं दोनोंक की कार्यशैली अलग थी। जहाँ गाँधी जी अहिंसावादी जबकि माओ मार्क्सवादी अर्थात् अहिंसावादी थे। लेकिन दोनों ही आम आदमी के लिए चिंतित थे। श्रम को महत्व देते थे। आत्मनिर्भरता की वकालत करते थे। निःसंदेह विकास की वैकल्पिक विचारधारा के रूप में दोनों का विशेष महत्व है।

दुबे ने आगे लिखा है कि आर्थिक विकास के बदले सामाजिक विकास का प्रत्यय या सिद्धान्त आर्थिक विकास को स्वयं में समेटे अधिक विस्तृत व व्यापक है। परंतु समस्या यह है कि सामाजिक लक्ष्यों, आदर्शों व सामाजिक विकास को ही ठीक ढंग से परिभाषित नहीं किया गया। इनके अनुसार–किसी भी देश के विकास के आंकलन के लिए सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पादन (G.N.P) के स्थान पर सम्पूर्ण राष्ट्रीय कल्याण ;हण्दण्ण्द्ध को पैमाना माना जाना चाहिए।

इसके लिए दुबे जी ने जिन नये लक्ष्यों की अपेक्षाएं की हैं वे इस प्रकार हैं–

1–बड़े समुदाय, जिसमें बहुसंख्यक गरीबी सम्मिलित है के विकास पर बलि देने की दिशा में बदलाव।

2–मानवीय आवश्यकताओं एवं जीवन की गुणवत्ता में सुधार के आधार पर सामाजिक लक्ष्यों को पुनः परिभाषित करना।

3–आर्थिक–सांस्कृतिक लक्ष्यों के पारस्परिक संबंधों को ध्यान में रखकर नियोजन व कार्यान्वयन की शैलियों में परिवर्तन।

4–नये सामाजिक लक्ष्यों को पाने के लिए पुनः वितरण की संस्थागत संरचना का निर्माण और संगठनाात्मक और मूल्य संबंधी परिवर्तनों को लोने के लिए व्यापक युक्तियां विकसित करना।

5–सामाजिक प्रगति के मूल्यांकन और जन्म ले रही नयी प्रवृत्तियों को आंकने के लिए सूचकों का निर्माण।

6–वृद्धि के स्तर को बनाए रखने योग्य निगरानी की व्यवस्था।

7–वृद्धि से जुड़ी अन्य समस्याओं का पूर्वानुमान तथा उन्हें हल करने की तत्परता।

8–वर्तमान समाजिक संरचनाओं की उपयुक्तता व औचत्य पर पुनर्विचार और पुनः रचना की दिशा में काम करने के लिए सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश का निर्माण।

दुबे मानते थे कि किसी समाज के स्वस्थ विकास के लिए निम्न तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक है। उनके द्वारा बतलाये गये तथ्यों पर निम्नवत् चर्चा की जा रही है–

अ–पर्यावरण का संरक्षण– जहाँ अतिविकसित देश पूंजी व तकनीक के माध्यम से प्राकृतिक संसाधनों की तीव्रता से दोहन कर रहे हैं, वहीं विकासशील देशी भी कम उपभोग स्तर होने के कारण पर्यावरण असन्तुलन के लिए विकसित देशों से जवाब मांग रहे हैं। स्वस्थ विकास के लिए पर्यावरण असन्तुलन व वायुमण्डल प्रदूषण उत्पन्न चुनौतियां के समाधान के लिए नयी वैज्ञानिक और तकनीकी प्रक्रिया अपेक्षित है।

ब–समानता व न्याय पर आधारित विकास– पूंजी व तकनीक से जहाँ विकसित देश और अधिक विकसित होते जा रहे हैं और विकासशील देश गरीबी का दंभ झेलने को मजबूर हैं, जो विकसित और विकासशील देशों के बीच की दूरी को बढ़ाने का कार्य करता है। उपभोक्तावादी संस्कृति सेवा निवेश के ऊपर हावी होती जा रही है। नकल की प्रवृत्ति बढ़ने से सामाजिक अन्याय व असमानता में वृद्धि हो रही है। अतः बहुसंख्यकों के श्रम पर अल्पसंख्यकों की पूंजी व तकनीक का हावी होना किसी समाज व देश के स्वास्थ विकास के लिए घातक है।

द–आवश्यकता की पूर्ति में सहायक– एस0सी0दूबे के अनुसार– विकासशील देश की गरीबी एक समस्या नहीं, बल्कि परस्पर जुड़ी समस्याओं की एक श्रृंखला हैं। अभिजात वर्ग की समाज में निम्नवर्ग के लिए मार्गदर्शन और संदर्भ मॉडल का काम करता है। इस प्रकार गरीबी होने पर भी समाज उपभोगतावाद को बढ़ावा देता है।

य–व्यक्ति मूल्न्य से सामाजिक मूल्यों की ओर अग्रसारित होने की दशा में– व्यक्तिपरक मूल्य समाजोन्मुख मूल्यों पर आधारित होने चाहिए। एक ऐसा स्वस्थ वातावरण तैयार हो जो वस्तुओं के स्थान पर सेवाओं तथा व्यक्तिगत उपभोग के स्थान पर सामूहिक कल्याण पर बल दे। स्वयं की आवश्यकता से अधिक सामाजिक आवश्यकता, नयी सामाजिक चेतना, आम व व्यवस्थित जीवन शैली पर विश्वास रखे जो न्याय, समानता पर आधारित व पूर्वाग्रहों से मुक्त हो।

र–सतत् विकास– एक विकसित समाज के लिए तात्कालिक लक्ष्यों की अपेक्षा दीर्घकालीन लक्ष्यों का ध्यान, समयबद्ध कार्यक्रमों की नियोजित रूपरेखा तैयार करना तथा मानव समुदाय को सशक्त बनाने के कदमों पर ध्यान देना आवश्यक है। पर्यावरण सुरक्षा, प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग केवल आवश्यकता के लिए तथा समाज को भविष्य की आवश्यकताओं के संदर्भ में आम सहमति के निर्माण तथा समस्या समाधान के उपाय पर सोचना होगा।

ल–अर्थ व कला का समन्वय– दुबे लिखते हैं कि हम मानवीय आवश्यकताओं को आधारभूत प्राणीशास्त्रीय मांगों की संतुष्टि तक ही सीमित नहीं रख सकते हैं। सृजन व सीखने दोनों प्रक्रियाएँ हमारे जैव

मनोवैज्ञानिक स्वभाव में निहित होती हैं। हमें आर्थिक विकास की होड़ में परम्परा जैसे अवयवों को नजर अंदाज नहीं करना चाहिए। यह भी ध्यान देना होगा कि परम्परा के अधिक समर्थन देने के कारण हम कहीं सृजनात्मक व नवाचार से जुड़े मूल्यों की उपेक्षा तो नहीं कर रहे हैं। जिस किसी देश ने दोनों अवयवों में से मात्र एक के विकास पर बल दिया, उस देश के विकास में विकृति सामने आयी है।

प्रो0 दुबे के अनुसार समाज क स्वस्थ विकास के लिए पर्यावरण संरक्षण, समानता, न्याय, आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ही प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, सतत् विकास, अर्थ व कला का समन्वय तथा व्यक्ति उन्मुख मूल्यों से समाजोन्मुख मूल्यों को बढ़ावा देना आवश्यक है। इसी आधार पर दुबे जी ने मानवीय तथा जीवन की गुणवत्ताओं की अपेक्षाओं की चर्चा निम्नवत् की है–

1–जीवन–यापन की आवश्यकताएँ– जिसमें पोषाहार, आवास, वस्त्र, परिवेश उपयुक्त जीविका, बीमारी की रोकथाम, उपचार की औषधी, जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा सम्मिलित है।

2–समाज स्तरीय आवश्यकताएँ– इसमें सामुदायिक भावना, द्वन्द के प्रभावशाली समाधान और सहमति के निर्माण के उपाय तथा सामाजिक शासन के मानकों का विकास संलग्न है।

3–सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ–इसके अन्तर्गत निजी स्वतंत्रता, वैयक्तिकता की व्यवस्था, अवकाश और रचनात्मक ढंग से उसके उपयोग का अवसर और उन्नति तथा सर्वोन्मुखी विकास का समान अवसर संलग्न है।

4–कल्याण की आवश्यकताएँ–इसमें दुर्बल वर्ग, विकलांग और असहाय लोगों की सहायता के लिए उपायों को सम्मिलित किया गया है।

5–अनुकलन की आवश्यकताएँ–इसमें सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और भौतिक वातावरण के साथ सामन्जस्य के उपाय सम्मिलित हैं।

6–प्रगति की आवश्यकताएँ–इनमें समस्याओं के पूर्वानुमान और उनके समाधान की क्षमताओं को बढ़ाना, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शोध में वृद्धि और मानव यांत्रीकी के कौशलों का विकास सम्मिलित है।

प्रो0 दुबे का मानना था कि मानवीय तथा जीवन की गुणवत्ता की अपेक्षाएँ उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर ही परिपूर्ण हो सकती हैं। अब दुबे जी की परम्परा का विकास व आधुनिकता से अन्तर्संबंध निम्नवत् स्पष्ट किया जायेगा–

5.20 परम्परा का विकास व आधुनिकता से अन्तर्संबंध

आधुनिकीकरण व विकास, क्रान्तिकारी प्रक्रियाएँ है। इनके तकनीकी और सांस्कृतिक परिणाम उतने ही महत्वपूर्ण हैं,जितनी नव लौह क्रान्ति के थे। दोनों की प्रक्रियाएँ बहुआयामी, जटिल, व्यापक, दीर्घकालीन तथा प्रगतिशील प्रक्रियाएँ हैं। प्रारम्भ से ही यह विवाद का विषय रहा है कि वास्तव में परम्पराएँ विशेषकर पारम्परिक सामाजिक संरचना और उससे जुड़ी मूल व्यवस्था विकास व आधुनिकता के लिए अवरोधक है। सामान्यतया विकास के पर्याय आर्थिकी वृद्धि की स्वीकृति के साथ परम्परा को जड़ और विकास को गतिमान मानने की चेतना नीति नियंताओं के मन मस्तिष्क में दृढ़ होती गयी। अपने लेख 'विकास एंव सांस्कृतिक आयाम' में दुबे ने लिखा है– प्रारम्भ में विकासीय सोच में सांस्कृतिक लक्ष्य या साधन के रूप में

महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। लेकिन 19वीं शताब्दी में उत्पन्न शक्तिशाली सोच ने परम्परा को आधुनिकीकरण में अवरोधक माना, क्योंकि परम्परागत मूल्य तथा संस्थाएँ व परम्परागत समाज का स्वयमेव रेखीय गति से विकास होता रहा है। लेकिन थोड़े से परिवर्तन के साथ पहली विचारधारा मान्य रही।

इस प्रकार आर्थिक प्रगति और विकास को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया और यह भी स्वीकृत किया गया कि यदि संस्कृति और परम्पराएँ उपर्युक्त लक्ष्यों की प्राप्ति में बाधा डालती है। तो परम्पराओं और सामाजिक संस्थाओं को बदलना होगा विकसित देशों से विकासशील देशों को आधुनिक प्रौद्योगिकी के हस्तांतरण की आवश्यकता के साथ सामाजिक ढाँचे और सांस्कृतिक मूल्यों को बदललने पर भी बल दिया गया।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री डेनियल लर्नन के विचारों का अपने लेख 'परम्परा और विकास' में उल्लेख करते हुए दुबे ने लिखा है–लर्नर जैसे विद्वान समाजशास्त्री ने तो प्रौद्योगिकी के साथ परिचय की संस्थानिक संरचना के स्थानान्तरण का अविवेकी और असंभव प्रस्ताव भी कर डाला। यहाँ तक की नुन्नार मिर्डल के विशाल ग्रंथ 'एशियन ड्रामा' का एक निष्कर्ष भी परम्पराओं से जुड़े समाजों का आधुनिकीकरण तब तक नहीं होना बतलाया गया था, जब तक की वे आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के अनुरूप अपनी सामाजिक संस्थाओं, विश्वासों और मूल्यों को नहीं बदलते, पर यह कैसे संभव है। इस पर कोई चर्चा नहीं है। अतः परम्पराएं विकास व आधुनिकता की प्रतिस्पर्द्धा भूमिका के रूप में सामने आयी।

उपरोक्त से स्पष्ट होता है कि –

1– विकास की केन्द्रित अवधारणा राष्ट्रीय उत्पान वृद्धि पर बल तो देती है जो उपयोगितावादी दर्शन पर आधारित है।

2–विकास समृद्धि को बढ़ाकर पीड़ा को कम करने का कार्य करती है, पर यह समृद्धि व पीड़ा व्यक्ति की है या छोटे वर्ग की स्पष्ट नहीं है।

3– दुबे का मानना है कि आर्थिक वृद्धि ही सब कुछ होती तो, क्यों पश्चिम यूरोप और अमेरिका की नवीन पीढी में प्रति–संस्कृति का उदय होता। नये आध्यात्मिक व रहस्यवादी और आध्यात्मवादी दर्शनों की ओर झुकाव क्यों होता?

4–यदि आर्थिक वृद्धि ही विकास के लिए सर्वोपरि है तो धार्मिक कट्टरवादिता और जातीय भावना क्यों विस्फोट के रूप में नये राज्यों के निर्माण के लिए लालायित होती। अतः विकास एवं परम्परा के अन्तःसंबंधों पर एक नयी बहस फिर से शुरू हो गयी है।

प्रो0 दुबे का मानना है कि –

1. विकास के लिए परम्पराओं को अति महामण्डित करना गलत है।
2. परम्पराओं के नाम पर समाज में व्याप्त संकीर्ण कुप्रथाओं को उचित नहीं ठहराया जा सकता, चाहे वे सती प्रथा हो, बाल विवाह, अस्पृश्यता, कन्याभ्रूण हत्या, स्त्री उत्पीड़न या अन्य समाज से संबंधित समस्याएँ।

3. विकास के प्रभावशाली आर्थिक व्यूह रचना, सांस्कृतिक संवेदना, सामाजिक न्याय और पर्यावरण बोध चार प्रमुख तत्व हैं।
4. इनमें सामाजिक समाकलन, निर्णय तथा कार्यान्वयन जेसे दो तत्वों को जोड़कर इसे गति दी जा सकती है। जिसमें प्रत्येक को परम्परा में अन्तर्निहित ऊर्जा की आवश्यकता होती है
5. परम्परा हमें साधन भी देती है और लक्ष्य भी।

उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट होता है कि परम्परा व विकास के अन्तः संबंध समयाग्रस्त हैं इनमें से किसी को भी छोड़ पाना असंभव व जटिल कार्य है। परम्परा में भी अदम्य जीवन शक्ति है जो अपने आपक को विकास की राह में प्रमाणित करती रहती है।

5.21 सांस्कृतिक संक्रमण की समस्याएँ

अपनी पुस्तक 'संक्रमण की पीड़ा' में प्रो0 दुबे ने परिवर्तन की तीव्रगति से सांस्कृतिक संक्रमण की पीड़ा का दर्शाया है। यह कैसे और क्यों होता है, या हो रहा है। इस पर उनके विचारों को बिन्दुवार चर्चा की जा रही है। दुबे के अनुसार–

1. परिवर्तन की गति अत्यधिक तीव्रता ज्ञान–विज्ञान का भण्डार दोगुना होता जा रहा है।
2. जीवन के बदलते आयामों से सुख सुविधाओं के नए मार्ग प्रशस्त होकर अमीर–गरीब, सम्पन्नता, विपन्नता की दरार को चौड़ा करने का कार्य करते हैं।
3. जनसंचार के बढ़ते उपयोग व वृद्धि से नवीन जीवन शैली विकसित हो रही है। बढ़ती आकांक्षाएँ हताशारूपी महाक्रांति को जन्म देती है।
4. मानव के उपभोक्तावादी दृष्टिकोण में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।
5. पारिवारिक विघटन, पीढ़ियों की संवदेनहीनता तथा स्त्री शक्ति की अभिव्यक्ति ने सामाजिक संरचना के संतुलन को गड़बड़ा दिया है। मर्यादाएँ टूट रही हैं, सामाजिक सरोकार क्षीण हो रहे हैं
6. भ्रष्टाचार व व्याभिचार सर्वत्र व्याप्त है।
7. मनोरंजन के क्षेत्र में अपसंस्कृति का सैलाब आ गया है। मादक द्रव्यों के उपयोग में चिन्ताजनक वृद्धि हुई है।
8. कुत्सित साहित्य, युवाओं में भटकाव, कृषक असन्तोष सर्वत्र व्याप्त है।
9. पर्यावरण असन्तुलन से जल, जंगल, जमीन के अस्तित्व को खतरा होता जा रहा है।

   विकासशील देशों के लिए इस प्रकार की पीड़ा को सहन करना असहनीय होता है–

   1. इन समाजों में लोक तत्वों की प्रधानता होती है।
   2. लोकसंस्कृति आधुनिकीकरण के तीव्र झटकों के लिए तैयार नहीं है।
   3. सामुदायिकता का ह्रास उन्छें मानसिक आघात पहुँचाता है।
   4. परिवर्तन की प्रक्रिया उनके विश्वासों को आाधारहीन बनाती है तथा आस्थाओं का क्षरण करती हैं।
   5. धुरीहीन और दिशाहीन विचार लक्ष्य व साधनों में भटकाव उत्पन्न करते हैं। व्यक्ति केन्द्रिकता स्वार्थ और लिप्सावाद को जन्म देती है।
   6. लोकतांत्रिक सामाजिक नियंत्रण धर्मनिरपेक्षता, धर्म विमुखता बन जाती हैं।

7. समाज में सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक व राजनीतिक अराजकता उत्पन्न हो जाती है।

अपने उपरोक्त संक्रमण की पीड़ा लेख के माध्यम से दुबे विचारशील पाठकों से इस संक्रमण की समस्या को दूर करने की अपेक्षा रखते हैं।

5.22 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान चुके हैं–प्रो0 एस0 सी0 दुबे के व्यक्तित्व का परिचय उनके द्वारा समाजशास्त्र में दिए गये अमूल्य योगदान का विस्तृत वर्णन। सर्वप्रथम उनकी भारतीय ग्राम संबंधी अवधारणा के माध्यम से यह बतलाने का प्रयास किया गया कि किसी भी गाँव की सामाजिक संरचना का अध्ययन वैज्ञानिक आधार पर किस प्रकार किया जा सकता है। यह शोधार्थियों के लिए अत्यधिक उपयेागी है। तत्पश्चात् परम्परा के विषय में उनके विचारों को इसकी विशेषता, विभिन्न धाराओं के आधार पर स्पष्ट किया गया। आधुनिकीकरण में उनके विचार, लक्षण, बाधाओं संबंधी व्याख्या की गयी है। विकास, विकास के सिद्धान्त, लक्ष्य की अपेक्षाएँ, स्वस्थ विकास के साधन तथा मानवीय तथा जीवन की गुणवत्ता की प्रमुखता पर चर्चा की गयी है। परम्परा, विकास व आधुनिकता से अन्तर्संबंध तथा सांस्कृतिक संक्रमण संबंधी उनके विचारों का उल्लेख कर इकाई की समाप्ति की गयी है।

5.23 शब्दावली

द्विभाजक– दो भागों में बांटने वाला
अनवरतता– जो लगातार चलता रहे, क्रमशः निरन्तरता।
संस्थानिक ढ़ांचे– संस्था संबंधी संरचना
एकीकरण– सम्मिलित होना, एकत्रीभूत
समाकलन– मूल्यांकन
संश्लिष्ट– जुड़ा हुआ, चिपका हुआ।
आच्छादित– ढ़का हुआ।
स्थानीयकरण– स्थानीय रूप में
सर्वव्यापीकरण– सर्वत्र व्याप्त होने का भाव
देशजीकरण– स्थान विषय से संबंधित
जीवनीकरण– जीवन से संबंधित भाव
पुर्नव्याख्या– दुबारा व्खख्या करना
सार्वदेशिक– सभी देशों में व्याप्त
सार्वकालिक– सभी कालों में व्याप्त
विभेदीकृत– भेद करना
विशेषीकरण– विशिष्टता बताना
बहुआयामी– अनेक विध
विकर्ण– तिरछी रेखा में
अविर्भावी– पैदा होने वाला
परानुभूति– दूसरे की अनुभूति

अभ्यास प्रश्न

1–श्यामाचारण दुबे का जन्म–
अ–25 जुलाई, 1922 में हुआ।

ब–26 जुलाई, 1922 में हुआ।
स–28 जुलाई, 1922 में हुआ।
द–24 जुलाई, 1922 में हुआ।

2–इनमें से दुबे की कृति कौन सी है–

अ–द कमार
ब–मानव और संस्कृति
स–विकास का समाजशास्त्र
द–उपरोक्त सभी।

3–भारतीय ग्राम किस गांव की सामाजिक संरचना से संबंधित हैं–
अ–मोहाना गाँव
ब–श्रीपुरम गाँव
स–रामपुरा गाँव
द–शमीरपेट गाँव

3–जो परम्पराएँ छोटे क्षेत्र में प्रचलित होती हैं, उन्हें कहते हैं–
अ–वृहद परम्परा
ब–बड़ी परम्परा
स–लघु परम्परा
द–छोटी परम्परा।

4–वे परम्परा जो प्राचीन धर्म ग्रंथों में बताये गये व्यवहारों के अनुरूप होती हैं को कहते हैं–
अ–वृहद परम्परा।
ब–विस्तृत परम्परा
स–बड़ी परम्परा
द–स्थानीय परम्परा

5–इनमें से कौन सी विशेषता सामाजिक विकास की नहीं है–
अ–सार्वभौमिकता
ब–निरंतरता
स–व्यापकता
द–निजी लाभ
6–सामाजिक विकास के प्रमुख कारक हैं–
अ–सामंजस्य
ब–आविष्कार
स–प्रसार
द–उपरोक्त सभी

7–कौन सी विशेषता सामाजिक विकास से संबंधित नहीं है–
अ–सामाजिक विकास प्रगति के प्रतिकूल है
ब–समाज में असमानता लाना
स–विशेषीकरण का अभाव
द–उपरोक्त सभी

8 बड़े सर्विस क्लास वाला समाज है–

अ–अर्द्धविकसित समाज
ब–विकसित समाज
स–विकासशील समाज
द–तीसरी दुनिया का समाज

9–कौन सा कथन सत्य है–
अ–स्थानीयकरण व सर्वव्यापीकरण समान प्रक्रियाएँ हैं–
ब–आज के संसार में परिवर्तन की गति बहुत मंद है–
स–लोक संस्कृतियां आधुनिकीकरण के तीव्र झटकों के लिए तैयार नहीं है–
द–परिवर्तन के वर्तमान दौर में ज्ञान, विज्ञान व आविष्कार में कमी आ रही है–

प्रत्येक के आगे सत्य/असत्य लिखिए–
10–परम्परा न मिथक होती हैं न इतिहास– सत्य/असत्य
11–परम्परा और संस्कृति पर्यायवाची शब्द नहीं हैं– सत्य/असत्य
12–प्रौद्योगिकी को आधुनिकीकरण के आयामों में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है–सत्य/असत्य
13–दुबे ने आधुनिकीकरण को मूल्यों से मुक्त माना है– सत्य/असत्य
14–आधुनिक भारत में सामाजिक परितर्वन पुस्तक दुबे द्वारा लिखी गयी है–सत्य/असत्य
15– आधुनिकीकरण अनेक पहलुओं का एक ताना–बाना है– सत्य/असत्य
16–सामाजिक विकास की अवधारणा में आर्थिक विकास को भी सम्मिलित किया जाता है– सत्य/असत्य
17–जनसंख्या विस्फोट विकास के लिए एक अवरोध है– सत्य/असत्य
18– दुबे के अनुसार परम्पराओं के नाम पर कुप्रथाओं को उचित नहीं ठहराया जा सकता–सत्य/असत्य
19– आधुनिकीकरण व विकास एक क्रान्तिकारी प्रक्रियाएं हैं– सत्य/असत्य

बोध प्रश्नों के उत्तर–
1–अ 2–द 3–द 4–स 5–द 6–द 7–द 8–ब 9–स 10–सत्य 11–सत्य
12–असत्य 13–सत्य 14–असत्य 15–सत्य 16–सत्य 17–सत्य
18–सत्य 19–सत्य

5.24 संदर्भ ग्रंथ सूची

यादव राम गणेश, भारतीय समाजशास्त्र के अग्रणी चिंतक, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड मुंबई, पृ0सं0 107 से 132।
दुबे, श्यामाचरण, विकास का समाजशास्त्र, वाणी प्रकाशन, 2000, पृ0सं0 25–31 व 42–45।
पचौरी, जे0पी0 एवं लवानिया एम0एम0, विकास एवं नियोजन का समाजशास्त्र रिसर्च पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पृ0सं0 44–46
सिंह, जे0पी0, आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, प्रेंटिस, हाल ऑफ इण्डिया प्राइवेट लिमिटेड, 2005, पृ0सं0 306–321
दुबे, श्यामाचरण, मानव और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 1995, पृ0सं0 75–83
मदन, जी0 आर0, विकास का समाजशास्त्र, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 2003, पृ0सं0 229–236
अग्रवाल एवं पाण्डे, ग्रामीण समाजशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा, 1999, पृ0सं0 93–106
दुबे, श्यामाचरण–संक्रमण की पीड़ा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1994, पृ0सं0 1 02
यादव, राम गणेश, भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं विकास, ओरियंट ब्लैकस्वान, दिल्ली, 2014, पृ0सं0 21
पाण्डेय, चित्रा पाण्डे, विकास का समाजशासत्र, प्रकाश बुक डिपो, 2003, पृ0सं0 148–160

5.25 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

Singh Yogendra, Eassyas on Modernization in India, Manohar book Service, New Delhi, 1978

Lerner Daniel, The Passing away of Traditioonal society, free press, new York, 1958

आहूजा, राम, भारतीय समाज, रावत पब्लिकेशनन्स दिल्ली, 2000

दुबे, श्यामाचरण, भारतीय समाज (अनुवादक वंदना मिश्र) नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, 2001

मदन जी0आर0, परिवर्तन और विकास का समाजशास्त्र, विवेक प्रकाशन, लखनऊ, 2006

निबंधात्मक प्रश्न

1. श्यामाचरण दुबे के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालिए?
2. दुबे द्वारा प्रतिपादित भारतीय ग्राम में शमीरपेट की सामाजिक संरचना को विस्तार से समझाइये?
3. परम्परा को परिभाषित कर दुबे द्वारा वर्णित परम्परा की विशेषता एवं विभिन्न आधारों का वर्णन कीजिए?
4. आधुनिकीकरण से आप क्या समझते हैं, आधुनिकीकृत व्यक्तित्व की विशेषताएँ क्या हैं?
5. आधुनिकीकरण को परिभाषित कर इसके लक्षण व इसमें उत्पन्न बाधाओं पर प्रकाश डालिए?
6. समाज के स्वस्थ विकास पर दुबे जी के विचारों की चर्चा कीजिए?
7. परम्परा का विकास व आधुनिकता से अंतर्संबंध पर दुबे के विचारों को स्पष्ट कीजिए?
8. दुबे जी की सांस्कृतिक संक्रमण की पीड़ा का क्या अभिप्राय है–स्पष्ट कीजिए?

इकाई–6

मैकिम मैरियट

इकाई की रूपरेखा–

6 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.1.1 जीवन परिचय
6.2 पद्धतिशास्त्र
6.2.1 समुदाय और परम्परा
6.3 ग्रामीण भारत
6.4 लघु परम्परा एवं महान परम्परा
6.4.1 लघु परम्परा
6.4.2 महान परम्परा
6.4.3 लघु परम्परा एवं महान परम्परा के बीच अन्तर
6.4.4 लघु एवं महान परम्परा के बीच अन्तःक्रिया
6.5 सार्वभौमिकरण एवं स्थानीयकरण
6.5.1 भारत में सार्वभौमीकरण की प्रक्रिया का आधार
6.5.2 स्थानीयकरण
6.5.3 भारत में स्थानीयकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने वाले कारक
6.5.4 धर्म एवं धार्मिक कृतव्यों का स्थानीकरण
6.6 सामाजिक स्तरीकरण
6.7 निष्कर्ष
6.8 भावी अध्ययन
6.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
6.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–

1. मैकिम मैरियट के कार्य प्रणाली को समझना।
2. मानव विज्ञान एवं समाजशास्त्र पर मैकिम मैरियट के शोधकार्यों के प्रभाव को समझना।

3. मैकिम मैरियट के विचार तरीकों एवं दृष्टिकोण का अध्ययन।
4. ग्राम भारत के सम्बन्ध में मैकिम मैरियट के विचार को जानना।
5. छोटी एवं महान परम्पराओं में होने वाले परिर्वतन जानना।
6. संकुचितीकरण एवं सार्वभौमिकरण के सम्बन्ध में मैकिम मैरियट के विचार को जानना।
7. भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अर्तगत सामाजिक स्तुतीकरण के सम्बन्ध में मैकिम मैरियट के विचार को जानना।
8. मैकिम मैरियट द्वारा भारत एवं पाकिस्तान में जाति रैंकिंग/श्रेणीबद्धता का अध्ययन का जानना।

6.1 प्रस्तावना

भारतीय समाज की विशेषता रही है ग्रामीण जीवन पद्धति। आज भी भारत में लगभग 2011 के जनगणा के अनुसार 69 प्रतिशत लोग भारत के गाँवों में निवास करते हैं। मैकिम मैरियट को भारतीय ग्रामीण जीवन एवं संस्कृति ने बहुत प्रभावित किया तथा इन्हें भारतीय ग्रामीण जीवन का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। मैकिम मैरियट भारत के उत्तर प्रदेश एवं महाराष्ट्र के गाँवों का अध्ययन कि प्रेरणा मिल्टन सिंगर तथा रॉबर्ट रेडफिल्ड से प्राप्त करते हैं और रॉबर्ट रेडफिल्ड से प्रभावित होकर भारत में लघु एवं दीर्घ परम्परा का अध्ययन करते हैं और बताते हैं कि कैसे ये परम्पराएँ भारत में परिर्वतन लाती है। मैकिम मैरियट ने अपने संकुचितीकरण एवं सार्वभौमिकीकरण की अवधारणा में भारत में चक्रीय परिर्वतन के बारे में बताते हैं कि संकुचितीकरण एवं सार्वभौमिकीकरण को लघु एवं दीर्घ परम्परा से जोड़ कर भारतीय गाँव में अतःक्रियाओं के स्वरूप की चर्चा करते हैं। मैकिम मैरियट का मानना है कि लघु परम्परा के बीच निरन्तर अंतःक्रिया होती रहती है।

6.1.1 जीवन परिचय

मैकिम मैरियट ने शिकांगो विश्वविद्यालय से पी–एच0डी0 (मानवशास्त्र) किया एवं शिकांगो विश्वविद्यालय में कॉलेनियर डिवीजन के सोशल साइंस माग में मानवशास्त्र के प्रोफेसर बने। आपकी रूची ग्रामीण जीवन के अध्ययन एवं उसमें होने वाले परिवर्तन में रही। यही कारण था कि आप ने अपने अध्ययन के लिए भारत के उत्तर प्रदेश तथा महाराष्ट्र को चुना एवं इन दोनों राज्यों में आपने क्षेत्रीय कार्य किया। आप ने उत्तर प्रदेश के किशनगढ़ी नामक गाँव का अध्ययययन कर लघु एवं वृहद परम्पराओं के बीच होने वाी परस्पर अंतःक्रियाओं के आधार पर सार्वभौमिकरण एवं संकुचितीकरण नाम दो जुडवा अवधारणा का विकास किया। आपके द्वारा विपेज इंडिया का सम्पादन किया गया और इस पुस्तक के माध्यम से ग्रामीण सामाजिक

परिवर्तन पर प्रकाश डाला गया। आपने न सिर्फ भारत में समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र को विकसित करने का प्रयास किया बल्कि जापान तथा अन्य देशों में भी आपके कार्य सराहनीय रहे।

आपके द्वारा लिखी गई पुस्तकें निम्न हैं–

1–Village India : Studies in the Little Community (1955)
2–Caste Ranking and Community Structure in the Five Regions of India and Pakistan (1960)
3–India Through Hindu Categories (1960)

6.2 पद्धतिशास्त्र

मैकिम मैरियट ने भारत के गाँव का अध्ययन करने के लिए संरचनात्मक प्रकार्यातमक उपागम का प्रयोग किया। संरचनात्मक उपागम भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन का एक ऐसा तरीका है जो सम्पूर्ण भारत समाज का अध्ययन उसके प्रमुख संरचनात्मक इकाई जाति व्यवस्था के माध्यम से करता है। इस उपागम के प्रमुख समर्थक एम0एन0 श्रीनिवास माने जाते हैं। यद्यपि आधुनिक समाजशास्त्री योगेन्द्र सिंह, दीपांकर गुप्ता इत्यादि जैसे विद्वानों ने इसका समर्थन किया है।

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम का प्रयोग भारतीय समाज का अध्ययन करने के लिए एम0 एन0 श्रीनिवास तथा एस0 सी0 दूबे ने किया है। मैकिम मैरियट एवं रॉबर्ट रेडफील्ड की अवधारणा लघु–समुदाय तथा मिल्टन सिंगर की लघु परम्परा एवं दीर्घ परम्परा से प्रभावित थे। मैरियट इन दोनों विचारकों के विचार से प्रभावित होकर अपनी अवधारणा संकुचितीकरण एवं सार्वभौमिकीकरण की अवधारणा देते हैं एवं इसके माध्यम से ग्रामीण समाज में होने वाले परिवर्तन का अध्ययन करते हैं।

6.2.1 समुदाय और परम्परा

इस इकाई के अन्तर्गत हम समुदाय एवं परम्परा के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे। सामान्य अर्थ में लोग समुदाय को धर्म के साथ जोड़ते है जैसे हिन्दू समुदाय, मुस्लिम समुदाय, सिक्ख समुदाय आदि। लेकिन समाजशास्त्र के भाषा में ये समुदाय नही है बल्कि समुदाय कि एक कि निश्चित परिभाषा एवं विशेषता बताई गई। समाजशास्त्रीय साहित्य में, समुदाय शब्द का प्रयोग बहुधा व्यक्तियों के एक समूह, सामाजिक साहचार्य के ऐसे रूप के लिए किया जाता है जिसके सदस्य एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में रहते है, और जिनमें पारस्परिक हम की भावना, अन्तर्पारस्परिकता साझा संस्कृति तथा संगठित क्रिया कलापों की भापना सर्वोपरि होती है। समुदाय कि परिभाषा देते हुए कहते हैं कि–

पारसंस ने समुदाय को एकजुटता के व्यापक सम्बन्धों द्वारा निर्मित एक ऐसी सत्ता माना है जिसका सरोकार जीवन के कई क्षेत्रों हितों से होता है। रॉबर्ट रेडफील्ड समुदाय के सम्बन्ध में लोक संस्कृति की अवधारणा

देते हैं। लोक संस्कृति की अवधारणा को सर्वप्रथम प्रयोग रॉबर्ट रेडफील्ड, मैक्सिको के युकाटन लोगों के अपने अध्ययन में करते है। इस अध्ययन ने इन्होंने लोक संस्कृति को नगरीय औद्योगिक संस्कृति में रूप में प्रदर्शित किया जाता है तथा जिनमें श्रमविभाजन केवन लिंग और आय के आधार पर होता है। ऐसे समाजों में सामाजिक सम्बन्धों का आधार मुख्यतः नातेदारी और बन्धुत्व होता है तथा जिनमें मानवताओं की अभिव्यक्ति और सामाजिक स्वीकृति का मुख्य माध्यम धर्म होता है। जैसे टॉनीज तथा इमाइल दुर्खीम जैसे समाजशास्त्रियों ने जिस प्रकार से समुदायों के बीच अंतर बताए है जैसे टॉनीज का गेमिनशैफ्ट एवं गैसिलशॉफ्ट या दुर्खीम का यांत्रिक सुदृढ़ता एवं सावयवी सुदृढ़ता। ठीक उसी प्रकार से समुदायों के बीच का एक अंतर लघु समुदाय है। लघु समुदाय की अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग रॉबर्ट रेडफील्ड ने कृषक समुदायों के अपने अध्ययन में किया। रेडफील्ड ने लघुसमुदाय के चार विशेषताएँ बतायी है–

(1) लघुता

(2) विशिष्टता

(3) समानरूपता और (आत्म निर्भरता)

मैकिम मैरियट ने ग्रामीण तथा नगरीय समुदायों के बीच परस्पर अंतसम्बन्धों को देखा। एक स्वदेशी सभ्यता में लघु समुदाय। मैकिम मैरियट का निबन्ध लिटिल कम्युनिटी इन एन इंडीजिनस सिविलाइजेशन में इन्होंने स्थानीय जाति व्यवस्था और राज्य और सभ्यता के विस्तृत आधार के बीच सम्बन्धों की चर्चा कीं परम्परा की धारणा ''जैसा है'' को अपनाने की प्रवृति पर जोर देती है। यह पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है जिसके कारण समाज में यह विश्वास पैदा होता है कि यह समाज की एकता एवं अखण्डता के लिए जरूरी है। रॉबर्ट रेडफील्ड द्वारा दो जुड़वा अवधारणा महान परम्परा और लघु परम्परा का प्रतिपादन किया गया। इस अवधारणा का प्रयोग रेडफील्ड ने कृषक समुदायों के सांस्कृतिक जीवन के विश्लेषण के संदर्भ में किया गया। इनके अनुसार महान परम्परा से तात्पर्य ऐसे उच्च एवं बौद्धिक विचारों से है जिनका जन्म और विकास विद्यालयों तथा देवालयों में होता है दार्शनिकों, चिन्तकों तथा साहित्यकारों की परम्पराएँ आदि महान परम्परा का ही भाग होती हैं, का सृजन एवं हस्तान्तरण सचेतन प्रयासो द्वारा होता है। महान परम्परा को नगरीय परम्परा या अभिजन परम्परा भी कहते हैं। महान परम्परा सदैव परिवर्तनशील होती है जबकि लघु परम्परा को लोक परम्परा के नाम से जाना जाता है। लघु परम्परा का विकास का सम्बन्ध स्थानीय संस्कृति से है। इस प्रकार की परम्परा का विकास ग्रामीण समुदायों में रहने वाले अप्रबुद्ध एवं सामान्य जनों के बीच स्वतः होता हैं लघु एवं महान परम्परा दोनों परस्पर निर्भर है। ये दोनो अलग होते हुए भी कभी एक–दूसरे के साथ मिलकर तो कभी अलग अलग हो निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। मैकिम मैरियट अपने लेख में लघु एवं महान समुदायों में ऐतिहासिक सम्बन्धों को ढूढने का प्रयास करते हैं।

6.3 ग्रामीण भारत

मैकिम मैरियट द्वारा सम्पादित 'विलेज इंडियाः स्टडीज इन लिटिल कम्युनिटी' (1955) ग्रामीण अध्ययन की सबसे प्रसिद्ध संग्रह में से एक है और आज भी इसे विशिष्ट रूप से प्रासंगिक माना जाता है। इस पुस्तक में विदेशी एवं भारतीय दोनों प्रकार के मानवशास्त्रियों के लेख को शामिल किया गया है। इस प्रकार से इस पुस्तक में देशी एवं विदेशी मानवशास्त्रियों का योगदान है। इस पुस्तक का उद्देश्य भारतीय सभ्यता की जटिलताओं में भारतीय गाँवों को समझना है। हालाँकि मैकिम मैरियट का एवं अन्य मानवशास्त्रियों का पद्धति संरचनात्मक प्रकार्यात्मिक है। इस पुस्तक में जाति की अवधारणा का पुनर्परीक्षण किया गया है और जाति को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

हमारा मुख्य उद्देश्य यहाँ मैकिम मैरियट के लेख लिटिल कम्युनिटी इन इंडीजिनस सिविलाइजेशन पर चर्चा करना है, जिसका योगदान ग्रामीण भारत में है। मैकिम मैरियट ने दिसम्बर 1950से अप्रैल 1952 तक उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ जिले के अर्तगत किशनगढ़ी गाँव का अध्ययन किया। मैरियट के अनुसार किशनगढ़ी पूरी तरह से अलग गाँव नही है, लेकिन यह अपने आप में एक विश्व है अर्थात इसकी अपनी एक अलग दुनिया है। आर्थिक हितों के आधार पर यह गाँव समूहों में विभाजित है। इस गाँव में ऐसी फसल का उत्पादन की जाती है जेा गाँव के बाहर बेची जाती है। इसके कारण कई आर्थिक सम्बन्ध गाँव के बाहर से जुड़ गए है। इस गाँव मे विवाह एवं नातेदारी के आधार पर भी विभाजन है। गुटों के मामले में गाँव को राजनीति रूप से भी विभाजित किया गया है। मैकिम मैरियट ने कहा ''इन संरचनात्मक तथ्यों को किशनगढ़ी मूल भाव से पृथक पुरे से बहुत कम लगते है।'' हालाँकि किशनगढ़ी को अलग–अलग किया जा सकता है। मैकिम मैरियट आगे लिखते है। ''लेकिन फिर भी मुझे यह कहने पर मजबुर होना पड़ रहा है कि किशनगढ़ी गाँव एक जीवित चीज की तरह है, इसकी एक निश्चित संरचना है, अवधारणात्मक रूप से इसकी विशिष्ट पहचान है इसकी एक प्रणाली है भले ही यह कई उपप्रणालियों में से एक है बड़े सामाजिक, राजनीति, धार्मिक, आर्थिक प्रणाली के भीतर जहाँ यह मौजूद है। मैकिम मैरियट के अनुसार किशनगढ़ी गाँव के लोगों का संरचनात्मक पहलू कुछ सांस्कृतिक प्रथाओं, मानदण्डों और शिष्टाचार आदि पर निर्भर है। यह तथ्य सिद्ध करने के लिए है कि किशनगढ़ी अलग है। प्रश्न यह है कि उपरोक्त विचार और प्रथा गाँव के जीवन के लिए कितना महत्व है? क्या वे सामाजिक संरचना उपरी भाग नहीं है? हमारे लिए मैरियट के आश्चर्यजनक नृविज्ञान/प्रघटनाशास्त्र एक पद्धतिशास्त्रीय दृष्टिकोण के रूप में कुछ सतही दिखाई देता है।

अपने लेख में मैकिम मैरियट सीधे एक बडे गाँव के साथ–साथा एक गाँव के सम्बन्धों का प्रश्न उठाते हैं मैरियट का प्रयास इसे सभ्यता के साथ जोड़ने का भी है। जिसमें यह गाँव एक स्थानीय तथा छोटा सा हिस्सा है अलीगढ़ जिले के इस गाँव की अपनी दुनिया और आस–पास के अन्य समुदायों के साथ उसके

सम्बन्धों की व्याख्या इस लेख में मैरियट के अन्य लेखों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। लेकिन विषय यहाँ केवल परिचयात्मक है। लेविस का विचार है कि किशनगढ़ी की स्थिति तथा उसके बाह्य परिवेश को बहुत विस्तार से जोड़ा है। भारतीय सभ्यता के विकास के साथ इसको जोड़ा गया है। सरकार और संस्कृति किशनगढ़ी से प्रारम्भ होकर हजारों अन्य गाँवों तक जा पहुँची है। सरकार और विकास के प्रतिबिम्बों ने किशनगढ़ी पर प्रभाव डाला है। ग्राम से ऊपर राज्य और सभ्यता की संस्थाएँ तथा विचार और फिर स्थानीय स्तर पर राज्य और सभ्यता के विचारों का प्रभावी आधार उस संस्तरणात्मक प्रक्रिया को जानने का प्रयास है जो ग्रामीण जीवन के आधार पर सभ्यता को समझने का प्रयास करता है।

6.4 लघु परम्परा एवं महान परम्परा

रॉबर्ट रेडफील्ड ने पहली बार अपने अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध किया कि प्रत्येक सभ्यता परम्पराओं द्वारा निर्मित होती है। रेडफील्ड के अनुसार एक ओर अभिजात लोगों की या थोडे से चिन्तनशील लोगों की परम्परायें आती है तो दूसरी ओर लोक या निरन्तर कृषकों की परम्पराएँ। अभिजात लोगों के परम्परा को महान परम्परा तथा निरन्तर कृषकों के परम्परा को लघु परम्परा के नाम से जाना जाता है। रेडफील्ड के अनुसार प्रत्येक परम्परा का स्वयं का सामाजिक संगठन होता हैं। दोनों परम्पराएँ एक ऐसी विश्व दृष्टि के प्रतीक के रूप में समझी जाती हैं जो सभ्यता की एकता का प्रतिनिधित्व करती हैं।भारतीय ग्रामीण समाज में हो रहे परिवर्तनों को समझने के लिए में दोनों ही अवधारणा कारगार सिद्ध हुई हैं। भारत तथा महान परम्पराओं की अवधारणा गाँव में जाति व्यवस्था के परिपर्तनों पर भी लागू होती है इन अवधारणाओं का प्रयोग मिल्टन सिंगा तथा मैकिम मैरियट दोनों ने की है। लघु परम्परा एवं दीर्घ/महान परम्परा का प्रतिपादन रॉबर्ट रेडफील्ड द्वारा सर्वप्रथम मैक्सिकों के युकाटन गाँव के अध्ययन के दौरान किया गया।इस इकाई में हम लघु एवं महान परम्परा के अर्थ को समझाते हुए दोनों के बीच सम्बन्धों की चर्चा करेंगे।

6.4.1 लघु परम्परा

लघु परम्परा से तात्पर्य ऐसे विचारों से है जिनका उद्‌गम गाँवों में होता है। इस प्रकार की परम्परा का विकास ग्रामीण समुदायों में रहने वाले अशिक्षित एवं सामान्य जनों के बीच स्वतः होता हैं इसे लोक परम्परा के नाम से भी जानते हैं। रेडफील्ड के अनुसार छोटे गाँव में पाई जाने वाली जीवन उपार्जन की क्रियाओं एवं शिल्प गाँव व उसके सम्बन्धित संगठन तथा प्राकृतिक पर आधारित धर्म को लघु परम्परा होती है जो स्वयं सिद्ध मानी जाती है जिनका विशेष परिमार्जन और सुधार नहीं किया जाता रेडफील्ड के अनुसार वे देवी–देवता, धार्मिक अनुष्ठान, रीति–रिवाज, मेले, लोक–गीत तथा विविध सांस्कृतिक तत्व जिनका वर्णन अखिल भारतीय धर्मग्रन्थों एवं अन्य पुस्तकों में लिखित रूप में मिलता है और जो मुख्यतः मौखिक रूप से

पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होते रहते हैं, लघु परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। रेडफील्ड निरक्षर किसानों की परम्परा को लघु परम्परा कहते है जिनका विकास अशिक्षित कृषक समुदायों में होता है और वहीं उन्हें स्थायित्व प्राप्त होता है।

6.4.2 महान परम्परा

रॉबर्ट रेडफील्ड ने मैक्सिकों की यात्रा संस्कृति के मंदिरों एवं प्रसादों के विशाल प्रस्तत निर्मित वस्तु–शिल्प, परिष्कृत कला, खगोल विज्ञान, पंचांग, चित्रलिपि में लिखित साहित्य, देवताओं एवं प्राकृतिक शक्तियों तथा धर्म पर आधारित राज्य व्यवस्थाओं को महान परम्परा कहा है। रॉबर्ट रेडफील्ड के अनुसार वृहत परम्परा स्कूलों एवं मंदिरों में पोषित होती है। यह दार्शिनिक, विद्वान तथा साहित्यक लोगों की परम्परा है जो विचार पूर्वक बनाया एवं हस्तान्तरित होता है।मैकिम मैरियट के अनुसार यदि कोई परम्परा प्राचीन धर्म ग्रंथों में बताये गए व्यवहारों के अनुरूप होती है तथा उसका प्रसार सम्पूर्ण समाज में होता है तो उसे हम महान परम्परा कहेंगे।भारत के संदर्भ में वृहत परम्परा के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि देवी–देवता, धार्मिक क्रियाकलाप, व्यवहार तथा विभिन्न सांस्कृतिक तत्व जिनका वर्णन रामायण, महाभारत, पुराण, आदि धार्मिक ग्रन्थों में लिखित रूप में मिलता है, महान परम्परा के अर्तगत आते है। जैसे राम, हनुमान, कृष्ण, शिव, विष्णु, सीता, राधा, लक्ष्मी, दुर्गा आदि देवी–देवताओं तथा होली दीपावली, दशहरा, रामनवमी, कृष्ण जन्माष्टमी आदि त्यौहारों एवं उत्सवों का वर्णन प्राचीन धर्म ग्रन्थों में मानते एवं मनाया जाता है। इस लिए इन देवी–देवताओं को तथा त्यौहारों एवं उत्सवों को महान परम्परा का अंग मानते हैं।

6.4.3 लघु परम्परा एवं महान परम्परा के बीच अन्तर

भारत में लघु एवं महान दोनों परम्परायें अति प्राचीन दिख पड़ती हैं तथा इन दोनों की अपनी–अपनी विशिष्ट विशेषतायें हैं। ये दोनों परम्परायें एक दूसरे के काफी निकट रही हैं। इनसे सम्बन्धित लोग एक दूसरे के निकट सम्पर्क में रहे हैं अतः इन दोनों परम्पराओं में निरन्तर अन्तःक्रिया का होना स्वाभाविक है। फिर भी इसमें स्पष्ट अन्तर पाया जाता है। रेडफील्ड लिखते है कि लघु और महान परम्पराओं पर मौलिक मूल्यों तथा विश्व–दृष्टि के रूप में विचार करने पर ज्ञात होता है कि ये समान ही हैं, फिर भी भिन्नता पायी जाती है। भारत की लघु परम्पराओं की विश्व दृष्टि बहुदेववादी, जादूवादी तथा अदार्शनिक जबकि महान वैदिक परम्पराओं की विभिन्न धाराओं का बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टिकोण इनसे भिन्न प्रकार का है। डॉ0 बी0 आर0 चौहान ने महान एवं लघु परम्पराओं को भिन्न प्रकार से सारणीबद्ध किया है–

महान परम्पराएँ	लघु परम्पराएँ
1–राष्ट्रीय	1–स्थानीय

2–लिखित	2–अलिखित
3–विषय–वस्तु में शास्त्रीय तथा सांस्कृतिक	3–अशास्त्रीय
4–अधिक व्यवस्थित	4–कम व्यवस्थित
5–अधिक चिन्तनशील	5–कम चिन्तनशील

6.4.4 लघु एवं महान परम्परा के बीच अन्तःक्रिया

लघु परम्परा एवं महान परम्परा एक दूसरे को प्रभावित करती है। मिल्टन सिंगर तथा मैकिम मैरियट ने लघु तथा महान परम्परा दोनों ही अवधारणाओं का प्रयोग भारतीय गाँवों के अध्ययन में किया तथा इन दोनों ही परम्पराओं की पारस्परिक अंतःक्रियाओं का भी उल्लेख किया। इनके अनुसार ये दोनों ही परम्पराएँ आंतरिक एवं बाह्य दो सम्पर्कों द्वारा अंतःक्रिया करती है। प्रथम स्थर पर जनसाधारण एवं निरक्षर कृषकों के द्वारा अंतःक्रिया एवं द्वितीय स्तर पर अभिजात एवं चिन्तनशील व्यक्तियों द्वारा इन दोनों का सम्पर्क होता है। प्रथम स्तर के अर्तगत आने वाली सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ लघु परम्परा को तथा दूसरे स्तर के अतर्गत आने वाली सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ महान परम्परा को निर्मित करती है। योगेन्द्र सिंह के अनुसार परम्पराओं के इन दोनों स्तरों पर निरन्तर अंतःक्रिया होती रहती है। लघु एवं महान परम्पराए जहाँ एक तरफ स्वयं देशज उद्विकास और दूसरी ओर अन्य सभ्यताओं के साथ बाहरी सम्पर्क के द्वारा विकसित एवं परिर्वतित होती हैं। इसके साथ ही इन दोनों ही परम्पराओं में परस्पर आदान–प्रदान भी होता रहता हैं योगेन्द्र सिंह के अनुसार सभी संस्थाएँ अपने स्वयं के स्थानीय सांस्कृतिक संगठन के स्तर से प्रारम्भ होती है और धीरे–धीरे विकास प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप विकसित होती है। अन्य सभ्यताओं के साथ बाहरी सम्पर्क के कारण इनमें विभिन्नता उत्पन्न हो जाते है। परिर्वतन की यह दिशा ग्रामीण से नगरीय संस्कृति संरचना और संगठन की ओर होती है। और अंत में यह संस्कृति सार्वभौमिक प्रतिमान के रूप में विकसित हो जाती है, विशेषतः सभ्यताओं के बढ़ते हुए अन्तर–सम्पर्कों के द्वारा मैकिम मैरियट ने परम्परा के इन दोनों प्रकारों को मान्यता प्रदान की है। मैकिम मैरियट के अनुसार प्रथम कृषक समाज के स्तर पर लघु परम्पराएँ और द्वितीय नगरीय समाज के स्तर पर महान परम्पराएँ पाई जाती हैं। इन दोनों परम्पराओं में निरन्तर अंतःक्रिया चलती रहती है साथ ही ये दोनों परम्पराएँ एक दूसरे को काफी लम्बे समय से प्रभावित करती रही है और आज भी कर रही है।

महान परम्परा कैसे लघु परम्परा से सम्बन्धित लोगों तक पहुचती है, इस सम्बन्ध में वी0 राघवन ने लिखा है कि हिन्दू राजा अपने द्वारा बनाये गए मंदिरों में हिन्दू महाकाव्यों का गाने के लिए बड़ी–बड़ी निधियाँ स्थापित करते थे। साथ ही हिन्दू महाकाव्यों विशेषतः रामायण के पाठ के लिए दान देते थे। इन कथाओं का न सिर्फ पाठ होता था बल्कि इसका प्रचार–प्रसार भी कराया जाता था। राघवन कहते हैं कि ''ऐसा

कोई दिन शायद ही होता होगा जबकि कोई मधुर स्वर वाला उत्कृष्ट गायक मन्दिर, मठ अथवा सार्वजनिक सभा भवन में अथवा किसी घर के सामने बैठकर सैकड़ों–हजारों लोगों को राम की धर्म रक्षा द्वारा रावण के अधर्म नाश की कथा नही सुनाता हो।'' अतः इससे स्पष्ट होता है दार्शनिकों, धार्मिक विचारकों, साधु–संतों एवं कथा वाचकों के द्वारा परम्परा को गाँवों में पहुँचाया जाता है।

भारत में महान परम्परा से सम्बन्धित प्राचीन एवं प्रसिद्ध ग्रंथ रामायण है जिसका भारतीय ग्राम में व्यापक प्रभाव है। रॉबर्ट रेडफील्ड बताते है कि महान परम्परा का विकास कैसे होता है और फिर उस परम्परा के सांस्कृतिक तत्व लघुपरम्परा के रूप में गांवो तक कैसे पहुँचते हैं। रेडफील्ड रामायण का उदाहरण देते हैं और कहते हैं कि बाल्मीकि ने दन्त कथाओं के आधार पर महाकाव्य की रचना की और यह कथा भारत की उच्च परम्परा का अंग बन गई। नवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक इसका अनुवाद भारत की अनेक स्थानीय भाषाओं में हुआ और इन अनुदित रूपों में इसका सांस्कृतिक संरचना के व्यावसायिक गायकों ने गायन एवं प्रचार किया। सोलहवीं शताब्दी में तुलसीदास ने इसे हिन्दी भाषा में लिखा जो अनेक ग्रामों और त्यौहारों के अवसर पर पढ़ी जाने लगी। धीरे–धीरे यह भारतीय ग्रामों में बहुत अधिक लोकप्रिय हो गया। किन्तु समय बीतने के साथ ग्रामीणों के लिए तुलसीदास ही हिन्दी कठिन हो गई क्योंकि ग्रामीणों ने अपने स्थानीय प्रचलित शब्दों को इसमें मिला लिया। अब इस मूल ग्रंथ की समझने के लिए व्याख्याकार की आवश्यकता होती है। महान परम्परा की ओर से एक व्यक्ति मंच पर आता है और उस रामायण को पढ़ता है और इसकी व्याख्या करता है। यह ग्रंथ एक पवित्र ग्रंथ माना जाता है इसलिए इसे पढना आवश्यक है। भारत में महान एवं लघु परम्परा के बीच निरन्तर अंतःक्रिया हेाती है। महान परम्परा को प्रभाव हमें लघु परम्परा से सम्बन्धित ग्रामीण समाजों के त्यौहारों एवं अनुष्ठानों पर स्पष्ट दिखाई देता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि सिर्फ लघु परम्परा ही महान परम्परा से ग्रहण करती है और यह अपने में समाहित कर लेती है बल्कि महान परम्परा भी लघु परम्परा से अनेक तत्वों को ग्रहण करती है। इतना अवश्य है कि वर्तमान में लघु परम्परा महान परम्परा से तुलनात्मक दृष्टि से अधिक ग्रहण कर रही है। लघु परम्परा से सम्बन्धित ग्रामीण समाज के लोगों ने महान परम्परा से सम्बन्धित अभिजात वर्ग के लोगों से अनेक भौतिक सुख–सुविधाओं की वस्तुओं को ग्रहण किया है ऊपर अभिजात संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। धार्मिक क्षेत्र में कुछ तत्व जैसे पाप–पुण्य, स्वर्ग–नर्क, आत्मा, पुर्नजन्म आदि महान परम्परा के तत्व हैं जिन्हें लघु परम्परा ने अपने में आत्मसात किया है। रामायण और भारत से सम्बन्धित अनेक कथाओं से लेकर ग्रामीण क्षेत्र में प्रदर्शित होने वाले नाटक महान परम्परा के तत्व से लघु परम्परा की ओर सांस्कृति प्रवाह को व्यक्त करता है।

सांस्कृतिक प्रवाह केवल महान परम्परा से लघु परम्परा की ओर ही नही होता बल्कि महान परम्परा भी लघु परम्परा के तत्वों को ग्रहण करती है। अभिजात लोगों की पोशाक, वेश–भूषा, उनके खेल–कूद, गायन, नृत्य, विश्वास, अंधविश्वास तथा जीवन से सम्बन्धित अनेक क्षेत्रों के अवलोकन से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि कृषक समाजों से सम्बन्धित लघु परम्परा से महान परम्परा कुछ ग्रहण किया है। वर्तमान समय में ग्रामीणों का पहनावा, लोकगीत एवं नृत्य अभिजात लोगों में बहुत लोकप्रिय होते जा रहे है। लघु परम्परा में प्रचलित विश्वास एवं अन्धविश्वासों का स्पष्ट प्रभाव है। जैसे अभिजात लोग नवीन प्रकार से अपने बंगले बनाते हैं एवं उसे नजर से बचाने के लिए उनके ऊपर कोई काला मुखौटा लगा देते हैं। अभिजात लोग भी ग्रामीणों की भाँति शकुन–अपशकुन में विश्वास करते हैं और अपने भविष्य को जानने के लिए और उसे बेहतर बनाने के लिए पंड़ितों से पूजा करवाते हैं। अतः इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृति का प्रवाह महान परम्परा से लघु परम्परा की ओर होता रहता है। इतना अवश्य है कि लघु परम्परा महान परम्परा से जितना ग्रहण नहीं करती।

रॉबर्ट रेडफील्ड के अनुसार सभ्यताएँ और उनकी सामाजिक संरचना भी इन बाह्य सम्पर्कों के माध्यम से परिवर्तित होती हैं। इनके अनुसार सभी सभ्यताएँ अपनी स्वयं की रचनात्मक शक्ति के आधार पर उत्पन्न होती हैं और बाह्य सम्पर्क से इनमें परिवर्तन होता है। रॉबर्ट रेडफील्ड द्वारा प्रस्तावित इस विश्लेषण का प्रयोग मिल्टन सिंगर, मैकिम मैरियट तथा उनके सहयोगियों ने भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने हेतु किया है। मैकिम मैरियट के अनुसार ग्रामीण संस्कृति की संरचना और उसके संगठन में जो लघु परम्परा एवं महान परम्परा के तत्वों से मिलकर बनी है, सांस्कृतिक स्वरूपों के बीच निरन्तर अंतःक्रिया होती रहती है, मैरियट ने अपने किशनगढ़ी के अध्ययन के आधार पर महान परम्परा और लघु परम्पराओं के बीच होने वाली अंतःक्रिया को सार्वभौमिकरण एवं स्थानीयकरण की अवधारणा द्वारा समझाने का प्रयास किया है।

6.5 सार्वभौमिकरण एवं स्थानीयकरण

मैकिम मैरियट ने लघु एवं महान परम्पराओं के मघ्य सम्प्रेषण की प्रक्रियाओं को स्पष्ट करने हेतु सार्वभौमीकरण एवं स्थानीयकरण की दो अवधारणाओं को प्रस्तुत किया है कि मै इस पद का प्रयोग न केवल सांस्कृतिक चेतना अपितु सांस्कृतिक विषय वस्तुओं को आगे तथा ऊपर ले जाने की प्रक्रिया के लिए करता हूँ। जब लघु परम्परा के तत्व जैसे देवी–देवता, प्रथाए, धार्मिक अनुष्ठान आदि ऊपर की ओर बढ़ते हैं उनके फैलाव का क्षेत्र बढ़ता है तब वे महान परम्परा के स्तर तक पहुँच जाते हैं औार उनका मूल स्वरूप परिवर्तन हो जाता है तब इस प्रक्रिया को सार्वभौमिकरण कहते हैं। अर्थात किसी गाँव की लघु परम्परा का वृहत् परम्परा में परिवर्तित होने की प्रक्रिया सार्वभौमिकरण कहलाती है।

6.5.1 भारत में सार्वभौमीकरण की प्रक्रिया का आधार

सार्वभौमीकरण की प्रक्रिया एक समाज में पाई जाने वाली अनेक आधारों के फलस्वरूप क्रियाशील होती है। भारतीय समाज के संदर्भ में सार्वभौमीकरण की प्रक्रिया के निम्न आधार हैं–

1. अनेक समूहों के बीच पारस्परिक आदान–प्रदान सार्वभौमीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करता है।
2. किसी समुदाय में किसी प्रभुत्वशाली जाति का होना भी सार्वभौमीकरण की प्रक्रिया का आधार है जैसे जिस गाँव में ठाकुर, यादव या जाट का प्रमुख है उनका प्रयास होता है कि उनकी परम्परा को गाँव के अन्य जाति के लोग अपना ले ताकि औरों पर उनकी धाक जीम रहे।
3. सार्वभौमीकरण की प्रक्रिया तभी क्रियाशील होती है जब कोई परम्परा सम्पूर्ण समुदाय के लिए अर्थपूर्ण और लाभकारी हो।
4. सार्वभौमीकरण की प्रक्रिया में मूल परम्परा में कुछ–न–कुछ परिवर्तन आवश्यक होता है।
5. सार्वभौमीकरण की प्रक्रिया में समग्रता की ओर होती है।

सार्वभौमीकरण के उदाहरण

सार्वभौमीकरण की प्रक्रिया को समझने के लिए त्यौहारों के उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। ऐसा माना जाता है कि मूल रूप में रक्षाबंधन का त्यौहार ब्राह्मणों का, विजयादशमी का त्यौहार क्षत्रियों का, दीपावली का त्यौहार वैश्यों का, तथा होली शुद्रों का त्यौहार है। लेकिन वर्तमान में जिस में इन त्याहारों को मनाया जाता है उससे यह स्पष्ट होता है कि इन त्यौहारों का सार्वभौमीकरण हो गया है। जैसे होली का त्यौहार अब इस त्यौहार को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी वर्णों के लोग समान रूप से मनाते हैं। अर्थात अब यह त्यौहार सभी जातीय भेद–भाव की सीमाओं को पार कर यह त्यौहार पूरे समाज का त्यौहार बन गया है जिसमें सभी लोग शत्रुता को भुलाकर एक–दूसरे से गले मिलते हैं। इस होली के त्यौहार पर न केवल हिन्दू बल्कि सिक्ख, ईसाई यहाँ तक कि मुस्लमान भी एक दूसरे को बधाई देते हैं। इसी प्रकार दीपावली के संदर्भ में भी समझा जा सकता है कि दीपावली में सभी जाति के लोग अपने मकान में दीप–मालाओं से सजाते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि यह त्यौहार सभी जातीय संकीर्णता के अंधकार को दूर करके सबके लिए समान रूप से प्रकाश का संदेश देता है।

6.5.2 स्थानीयकरण

स्थानीयकरण साहित्य एवं धार्मिक महान स्वरूपों आदि को स्थानीय बनाने की एक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया भारत की देशी सभ्यता के अंतर्गत लघु समुदायों की एक विशिष्ट रचनात्मक क्रियाओं को प्रदर्शित करती है। मैकिम मैरियट के अनुसार बोधगम्यता के क्षेत्र को सीमित करने, व्यवस्थित एवं चिंतनशील आयामों में कमी लाने, स्थानीयकरण करने तथा साहित्यिक रूपों को क्षेत्र विशेष तक परिमित करने की प्रक्रिया स्थानीयकरण है। स्थानीयकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत भारत की स्वदेशी सभ्यता के अन्तर्गत छोटे समुदायों के विशिष्ट सृजनात्मक कार्य आते हैं। अर्थात जब कोई स्थानीय समुदाय देश में प्रचलित किसी भी सांस्कृतिक तत्व के मूल रूप या साहित्यिक स्वरूप व चमक–दमक की परवाह किए बिना ही अपनी खुद की समझ–बूझ तथा सामाजिक सांस्कृतिक विलक्षणता के अनुसार उस सांस्कृतिक तत्व को एक स्थानीय रूप दे देता है तो उस प्रक्रिया को स्थानीयकरण कहते हैं।

इस अर्थ में स्थानीयकरण वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत वृहत समाज से सम्बन्धित किसी सांस्कृतिक तत्व जैसे धार्मिक कृत्य, त्यौहार, व्रत आदि का एक स्थानीय रूप विकसित हो जाता है और स्थानीय रूप उसके मूल रूप से बिलकुल भिन्न या बहुत कुछ भिन्न हो सकता है। इस प्रकार स्थानीकरण एक स्थान विशेष के सांस्कृतिक प्रतिमानों के अनुरूप मूल सांस्कृतिक तत्वों के रूपांतरण की प्रक्रिया को दर्शाता है। जैसे दुर्गा पूजा पश्चिम बंगाल में होती है और उत्तर प्रदेश में भी। लेकिन पश्चिम बंगाल में जिस प्रकार से, जिस साजो–समान प्रसाद आदि के साथ दूर्गा जी का पूजन करते हैं, उत्तर प्रदेश के हिन्दू ठीक वैसा नहीं करते। अर्थात स्थान विशेष में कुछ विलक्षणता पनप ही जाती हैं

6.5.3 भारत में स्थानीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने वाले कारक

भारत में स्थानीयकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने वाले निम्न कारक हैं–

1–ऐतिहासिक कारक–

भारत एक विशाल देश है। यदि प्राचीन काल से लेकर आज तक के इतिहास में देखा जाए तो ऐसे कम ही राजा हुए जिन्होंने इस विशाल देश को एक सूत्र में बाधने का प्रयास किया। यदि राजा कमजोर हो जाता था तो सामंत लोग अपने–अपने क्षेत्र का स्वतंत्र घोषित कर देते थे और अपनी स्थानीय विशेषताओं को बनाए रखने का प्रयास करते थे। जिसका परिणाम यह होता था कि उस स्थान विशेष की एक परम्परा बन जाती थी उस परम्परा को बनाए रखने के लिए क्षेत्रीय लोग विशेष ध्यान देते थे ताकि उनकी अपनी एक अलग पहचान बन सके।

2–भौगोलिक कारक–

यदि हम भारत को देखे तो भारत भौगोलिक दृष्टिकोण से अनेक भागों में विभाजित है। यदि इन भागों की भौगोलिक दशाओं को देखें तो ये अलग–अलग ही नही बल्कि एक दूसरे से भिन्न एवं विपरीत भी है। भौगोलिक दृष्टिकोण से भारत में कहीं पहाड़ हैं तो मैदान, कहीं पठार हैं तो कहीं रेगिस्तान कहीं कम वर्षा होती है तो कहीं विश्व में औसत से सर्वाधिक वर्षा होती है। भारत के मृदा एवं वनस्पतियों में भी भौगोलिक भिन्नता के कारण ही विभिन्न सांस्कृतिक तत्वों का स्थानीयकरण हुआ है।

3–राजनीतिक कारक–

भारत में हमें अनेक विविधता देखने को मिलता है इसमें राजनीतिक विभिन्नता भी उनमें से एक है। भारत में कई क्षेत्रीय राजनीतिक पार्टियाँ है। जैसे उत्तराखण्ड में उत्तराखण्ड क्रान्ति दल, उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी, वहुजन समाजवादी पार्टी, बिहार में राष्ट्रीय जनता दल, पंजाब में अकाली दल, महाराष्ट्र में शिव सेना, तमिलनाडु में डी0 एम0 के0 आदि। ये सभी राजनीतिक पार्टियाँ अपने–अपने क्षेत्र में क्षेत्रियता को बढ़ावा देते हैं जिससे स्थानीय संस्कृति को बढ़ावा मिलता है।

4–भाषाई विभिन्नता–

भारत विविधता में एकता वाला देश है यहाँ भौगोलिक विभिन्नता, सांस्कृतिक विभिन्नता, भाषाई विभिन्नता आदि पाई जाती है। भारतीय संविधान के आठवीं अनुसूची के अनुसार वर्तमान में भारत में बाइस भाषा को मान्यता प्राप्त है। जबकि इसके अलावा कई बोलियाँ हैं। इन भाषाई आधार पर कई लोक कथाएँ, लोक संस्कृतियों का विकास हुआ है। इस भाषाई आधार पर ही लोग अपने को अन्य समूहों से अलग मानते हैं। इसका परिणाम यह होता है सबकी अपनी स्थानीय संस्कृति का विकास होता है और स्थानीयकरण की प्रक्रिया की बढ़ावा मिलता है।

6.5.4 धर्म एवं धार्मिक कृतव्यों का स्थानीकरण

मैकिम मैरियट ने स्थानीयकरण की प्रक्रिया को धर्म तथा धार्मिक कृतव्यों जैसे पर्व, त्यौहार व्रत आदि के संदर्भ में समझाने का प्रयास किया है। मैकिम मैरियट उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ जिले के एक गाँव किशनगढ़ी का अध्ययन करते हैं और अपने अध्ययन में स्थानीयकरण के उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं। इनका पहला उदाहरण गोबर्धन पर्व का है। मैरियट बताते हैं कि भागवत पुराण के अनुसार भगवान श्रीकृष्ण का मानना है कि गऊओं में ही ब्रह्म का निवास है। इसलिए श्रीकृष्ण का गऊओं से विशेष प्रेम था और श्रीकृष्ण ने ब्रज के ग्वालों को यह निर्देश दिया कि वे इन्द्र देवता की पूजा न करके गऊ तथा गऊओं के चराने के स्थान गोबर्धन पर्वत की पूजा करें। ब्रज के ग्वालों ने यहीं किया। इससे इन्द्र देवता क्रोधित हो गए और इन्द्र ने

आँधी, पानी तथा तूफान द्वारा ग्वालों एवं गऊ को नष्ट करने का प्रयास किया। लेकिन श्रीकृष्ण ने उसी पहाड़ (गोबर्धन) को उठाकर उसी की आड़ में गऊ तथा ग्वालों की रक्षा की। तभी से इस गोबर्धन पर्वत पर मेला लगता है, उत्सव मनाया जाता है तथा गोबर्धन की पूजा की जाती है। इस मूल पर्व का किशनगढ़ी में किस प्रकार स्थानीकरण हुआ इसका चित्रण मैकिम मैरियट अपने अध्ययन में करते हैं। इनके अनुसार स्वयं गोबर्धन शब्द का स्थानीकरण हो गया है। गोबर्धन (गो+बर्धन) का अर्थ है गऊओं का बर्धन, जबकि किशनगढ़ी में इसके मूल अर्थ में परिवर्तन हो गया। किशनगढ़ी के लोग गोबर्धन का अर्थ गोबरों का धन लगाते हैं और इसीलिए पुराण में वाणित वह गोबर्धन पर्वत किशनगढ़ी के प्रत्येक घर के बाहर गोबरों के एक ठेर के रूप में देखने को मिलता है। गोबरों के इस पहाड़ पर गोबर से ही गाय दूध दुहने के पात्र आदि सब बनाये जाते हैं। यहाँ परिवार के सभी लोग पहाड़ की पूजा करते हैं उस पर दीप जलाते हैं तथा व्रत रखते हैं। दूसरे दिन सुबह गोबर से संबधित लोकगीत गाए जाते हैं जबकि उस पहाड़ को बिगाड़ दिया जाता है। उस पहाड़ के कुछ गोबर को अलग निकाल कर उसके उपले बनाये जाते हैं जिन्हें होली के अवसर पर होलिका दहन में डालने के लिए रख दिया जाता है।

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण मैकिम मैरियट नवरात्र पर्व का देते है। नवरात्र पर्व का मूल रूप यह है कि यह पर्व आदि शक्ति माहेश्वरी दुर्गा का पर्व है जिसमें नौ दिनों तक दुर्गा के नौ रूपों की पूजा अर्चना की जाती है। इस नवरात्र का भी किशनगढ़ी में स्थानीयकरण हो गया है। लोग यहाँ दुर्गा देवी के स्थान पर मिट्टी की मुर्ति बनाते हैं और उसे नौरथा देवी कहते हैं। नवरात्र नवों दिन सुबह–शाम घर–घर में नौरथा देवी की पूजा करते हैं एवं लोकगीत गाते हैं। किशनगढ़ी के लोगों का विश्वास है कि नौरथा देवी नव दुर्गा में से एक है।

6.6 सामाजिक स्तरीकरण

सामाजिक स्तरीकरण के सम्बन्ध में मैकिम मैरियट बताते हैं कि नगर तथा गाँवों में संस्तरण के आधार एवं प्रकार में हमें भिन्नता देखने को मिलती है। गाँवों में बंद स्तरीकरण पाया जाता है। यहाँ व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण जाति व्यवस्था के आधार एवं समाज द्वारा स्थापित मानक मूल्यों के आधार पर होती है। गाँवों में विजातीय समूहों के बीच सम्बन्धों के कड़े नियम हैं और संदर्भ समूह की बात करें तो उनके आचरण की नकल दुष्कार्यात्मक है। जबकि गाँवों के विपरित नगरीय क्षेत्रों में स्तरीकरण खुला पाया जाता है। नगरों में कोई समूह या व्यक्ति अपनी योग्यता एवं क्षमता के आधार पर जैसे शिक्षा, व्यवस्था आदि को प्राप्त कर अपनी प्रस्थिति को उच्च बना लेता है। नगरीय क्षेत्रों में स्तरीकरण का चरित्र प्रतिक्रियात्मक और अंतःक्रियात्मक है। नगरों की तुलना में गाँवों में जाति व्यवस्था में प्रस्थिति परिवर्तन में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

मैरियट ने भारत में जाति स्तरीकरण व्यवस्था के संदर्भ में, समूह उपागम के सम्बन्ध में विचार करते हैं और कहते हैं कि भारत में जाति स्तरीकरण व्यवस्था को समझाने के लिए कई स्तरों पर देखना चाहिए। यह स्तर हैं ग्रामीण, नगरीय और महानगरीय स्तर इसके अलावा मानव समूह व्यक्ति और इसी प्रकार के अन्य निर्मित समूह। मैरियट ने कहा कि किसी भी स्थानीय व्यवस्था में कई क्षेत्रो में उन इकाईयों को देखना जरूरी है जो विभिन्न लक्षणिक अंतरों के आधार पर विभिन्न मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

मैरियट के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में स्तरीकरण संरचनात्मक आधारों के प्रतिबिंब का प्रतिनिधित्व करते है। ऐसे तीन क्षेत्र संभावित है–

1. ग्रामीण समुदाय या उससे जुडे अन्य ग्रामीण क्षेत्र ।
2. चन्हित सांस्कृति या भाषाई क्षेत्र।
3. सम्पूर्ण सभ्यता का क्षेत्र।

मैकिम मैरियट कहते हैं कि जिस प्रकार अन्य महानगरीय व्यवस्था में जो श्रेणीबद्धता विकसित होती है, वैसी व्यवस्था ग्रामीण समाज में संभव नहीं है। सामूहिक श्रेणीबद्धता में समूह के यदि कुछ भदृजनों द्वारा स्थिति परिवर्तन के लिए कुछ गुणों को स्वीाकार भी कर लें तो भी उस समूह की प्रस्थिति नहीं बदलती। भारत में प्रस्थिति सांस्कृतिक आधार पर परिभाषित की जाती है। भारतीय ग्रामीण जाति व्यवस्था में शुद्धता तथा प्रदूषण, पीढी दर पीढी एक ही व्यवस्था और नातेदारी सम्बन्ध के अनुसार चलती है सामाजिका स्तरीकरण का आधार इसी श्रेणीबद्धता का निर्माण है। भारत में संस्कृतिकरण की प्रक्रिया से प्रस्थिति गतिशीलता ग्रामीण श्रेणीबद्धता व्यवस्था में यह सहयोगी सामूहिक व्यवस्था का प्रतीक है। यही कारण है कि ग्रामीण क्षेत्रों में जातियाँ, जनजातियाँ एक साथ ही गतिशील होती हैं। इसके विपरित ऐसी सामूहिकता के अभाव में किसी को भी अपनी प्रस्थिति बदलना संभव है।

मैकिम मैरियट भारत में स्तरीकरणात्मक जटिलताओं का उल्लेख करते हैं और बताते हैं कि इस व्यवस्था में गतिशीलता के क्या प्रयास हैं। सर्वप्रथम ग्रामीण समाज में वाद व्यवस्था, जीवन में संस्कार और प्रदूषण के माध्यम से जाति व्यवस्था में परिवर्तन के अभाव तथा नगरीय क्षेत्रों में योग्यता एवं क्षमता के आधार पर प्रस्थिति में परिवर्तन संभव है। मैकिम मैरियट प्रत्येक जाति के स्थान तथा उसके सामाजिक स्तरीकरण के तीन क्षेत्रों जैसे ग्रामीण क्षेत्र, चिन्हित संस्कृति या भाषाई क्षेत्र एवं सम्पूर्ण सभ्यता के क्षेत्र की चर्चा करते हैं। इनके अनुसार ग्रामीण क्षेत्र में वर्गों के मापन के लिए जाति श्रेणीबद्धता सबसे महत्वपूर्ण है। वर्ग को मापने का तरीका है मालिक एवं नौकर, गुजरात में गोरा एवं काला आदमी, तो बंगाल में कहार एवं गैर कहार

आदि। सभ्यता के क्षेत्र में वर्ण, नृजातीय समूह या शहर जैसे प्रतिमान काम करते हैं। इन तीनों ही आधारों पर बहुत से संदर्भ मॉडल के रूप में काम करते रहते हैं मैकिम मैरियट ने भारत में स्तरीकरणात्मक जटिलताओं का उल्लेख कहीं भी नहीं किया परन्तु उनका विश्लेषण गहराई से स्तरीकरण की उन प्रक्रियाओं और तरीकों को अवश्य बताया है, जिससे एक स्तर ग्रामीण तथा नगरीय की दूसरे विभिन्न स्तरों जैसे ग्राम, क्षेत्र और सभ्यता के साथ कैसे अंतःक्रिया की जा सकती है।

6.7 निष्कर्ष

मैकिम मैरियट ने भारतीय गाँवों के अध्ययन में रूची ली। इन्होंने ग्रामीण भारत का व्यापक रूप से अध्ययन किया एवं भारत में पाये जाने वाली परम्पराओं का अपने अध्ययन में विस्ततिर रूप से व्याख्या की। इन्होंने भारतीय समाज का अध्ययन करने के लिए रॉबर्ट रेडफील्ड के अवधारणाओं का प्रयोग किया। इनके अवधारणाओं के आधार पर ही मैकिम मैरियट ने लघु परम्परा एवं महान परम्परा की व्याख्या की। मैकिम मैरियट ने अपने अध्ययन के लिए उत्तर प्रदेश के किशनगढ़ी गाँव को चुना एवं वहाँ महान एवं लघु परम्परा के बीच होने वाले परिवर्तन को देखा। उस परिवर्तन को उन्होंने सार्वभौकीकरण एवं स्थानीयकरण के माध्यम से समझाया। अपने अध्ययन में मैरियट ने यह बताने का प्रयास किया कि कैसे लघु परम्परा और महान परम्परा बनती है एवं महान परम्परा, लघु परम्परा के अंग बन जाती है।

6.8 भावी अध्ययन

1–Village India : Studies in the Little Community (1955)
2–Caste Ranking and Community Structure in the Five Regions of India and Pakistan (1960)
3–India Through Hindu Categories (1960)

6.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सार्वभौमिकरण से आप क्या समझते है ? भारत में सार्वभौमिकरण की प्रक्रिया के प्रमुख आधारों की विवेचना कीजिए ?
2. स्थानीयकरण से आप क्या समझते है ? भारत में स्थानीयकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने वाले कारकों का उल्लेख कीजिए।
3. लघुपरम्परा एवं दीर्घ परम्परा को परिभाषित करते हुए दोनों के मध्य सम्बन्ध स्थापित कीजिए ?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. लघु परम्परा क्या है ?
2. महान परम्परा से आप क्या समझते है ?
3. लघु एवं महान परम्परा के बीच अन्तर स्थापित करें ?
4. स्थानीयकरण क्या है ?
5. सार्वभौमिकरण की अवधारणा को स्पष्ट करें ?
6. स्थानीयकरण एवं सार्वभौमिकरण में अन्तर स्पष्ट करें ?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सार्वभौमिकरण तथा स्थानीयकरण की अवधारणा किसने दी ?
   (अ) मैकिम मैरियट (ब) रॉबर्ट रेडफील्ड
   (स) मिल्टन सिंगर (द) योगेन्द्र सिंह
2. लघु परम्परा एवं महान परम्परा की अवधारणा किसने दी ?
   (अ) मिल्टन सिंगर (ब) मैकिम मैरियट
   (स) रॉबर्ट रेडफील्ड (द) इनमें से कोई नही
3. किशनगढ़ी किस राज्य में अवस्थित है ?
   (अ) बिहार (ब) उत्तर प्रदेश (स) मध्य प्रदेश (द) राजस्थान
4. महान परम्परा का जन्म होता है ?
   (अ) विद्यालय तथा देवालय (ब) ग्रामीण समुदाय
   (स) जनजातिय समुदाय (द) कृषक समुदाय

उत्तर– 1–अ, 2–स, 3–ब, 4– अ,

6.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

Desai, A. R. (1969), Rural Sociology in india, Bombay : Popular Parkashan.

Doshi, S.L. and P.C. Jain (1999), Rural Sociology, Jaipur/new Delhi : Rawat Publications.

Marriot, Mckim (1959), 'Interactional and attributional Theories in caste ranking', Man in India, vol.39,pp, 127-147.

-(ed.) (1961), village India, Bombay : Asia Publishing House.

-(1965) Casre Ranking and community Structure in the Five Regions of India and Pakistan, Poona : G.S. Press.

Marriot, Mckim (Ed.) (1990), India Through Hindu Categories, New delhi: Sage Puclications.

Sharma, Surendra (1985), Sociology in India : A Prespective From Sociology of Knowledge, Jaipur : Rawat Publications.

Singer, Milton (1964), The Social Organizations of Indian Civilization. Diogenes, Vol.45. Winter.

इकाई–07
डीपी मुखर्जी (DP Mukerji)

7.1: उद्देश्य

7.2: परिचय

7.2.1: जीवन परिचय

7.2.2: योगदान एवं उल्लेखनीय कार्य

7.3: दृष्टिकोण एवं कार्यशैली

7.3.1: मार्क्सवादी दृष्टिकोण

7.3.2: प्रत्यक्षवाद एवं निष्पक्षतावाद की समालोचना

7.3.3: द्वैतवाद का विरोध

7.3.4: समाज विज्ञान की एकता/संयोग

7.4: व्यक्तिवाद से विकासः पुरुषवाद

7.5 भारतीय मनीषी

7.6: साम्यवाद क्या है

7.7: भारतीय मध्यम वर्ग

7.8: निष्कर्ष

7.9: सन्दर्भ

7.1: उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के मुख्य उद्देश्य निम्नवत हैं:

1. डीपी मुखर्जी और उनके कार्यों का संक्षिप्त विवरण
2. डीपी मुखर्जी के मार्क्सवादी दृष्टिकोण को समझना
3. पुरुषवाद के विषय में डीपी के विचारों को जानना
4. भारतीय मनीषीयों, बुद्धिजीवियों को लेकर मुखर्जी के विचार
5. भारतीय मध्यम वर्ग के अध्ययन में मुखर्जी के योगदान को समझना

7.2: परिचय (Introduction)

धुर्जति प्रसाद मुखर्जी (1894–1961) को सामान्यतः डीपी नाम से जाना जाता है। वह लखनऊ स्कूल ऑफ समाजशास्त्र से जुड़े थे और भारतीय समाजविज्ञान के संस्थापक जनकों में इनकी गिनती होती है। डीपी को विलक्षण लेखक, शोधकर्ता और आलोचक के तौर पर जाना जाता है, जिन्होंने अपने व्याख्यानों से छात्रों को प्रभावित किया। उत्साही, आकर्षक व्यक्तित्व और ऊर्जावान विचारों वाले डीपी अपने दौर के प्रमुख बुद्धिजीवियों में से एक थे (Narain 1967, pp-xix)। डीपी संगीत, कला, साहित्य, दर्शन, अर्थशास्त्र, समाज विज्ञान, इतिहास और राजनीति समेत ज्ञान के विभिन्न आयामों में रुचि रखते थे। डीपी मानते थे कि ये सभी सिद्धांत परस्पर विभक्त नहीं, बल्कि संयुक्त थे। इसीलिए वह पाश्चात्य ज्ञान की संकीर्ण सैद्धांतिक सीमाओं और कृत्रिम स्वरूप के आलोचक थे। डीपी मुखर्जी को श्रद्धांजलि के तौर पर वीबी सिंह ने लिखा है, 'डीपी ने भारतीय विचारों की पूरी ताकत और मर्यादा के साथ रक्षा की। वह अपने विचारों और कार्यों के जरिये स्वतंत्रता के लिए दृढ़तापूर्वक खड़े रहे।' (1967, pp. xiii) राधाकमल मुखर्जी और डीपी मुखर्जी भारतीय समाजविज्ञान के प्रणेता माने जाते हैं, जिन्होंने लखनऊ स्कूल ऑफ सोशियोलॉजी की स्थापना की। स्वतंत्रता के बाद भारत में इन्हीं विद्वानों ने समाजशास्त्र की नींव रखी। मदन (1994) एवं जोशी (1986) भारत में समाजशास्त्र के संस्थापक जनकों के महत्व को इसलिए जरूरी बताते हैं, क्योंकि इन्होंने ही भावी पीढ़ियों के लिए अध्ययन के पथ का विकास किया। स्व. डीपी मुखर्जी की याद में वे बताते हैं कि समाज विज्ञान के अध्ययन के लिए इतिहास, बौद्धिक परंपराओं को जानना–समझना आवश्यक है, ताकि विरासत के जुड़ाव के साथ अवनति से बचा जा सके। इस सलाह को ध्यान में रखते हुए हम विद्वान मुखर्जी के जीवन को जानने का प्रयास करेंगे।

7.2.1: जीवन परिचय (Biographical Sketch)

पांच अक्टूबर 1894 को डीपी मुखर्जी का जन्म कुलीन, उच्चशिक्षित बंगाली ब्राह्मण परिवार में हुआ। स्कूली पढ़ाई के दौरान ही डीपी की विलक्षण अध्ययन प्रतिभा उभरकर सामने आई। हालांकि, बीमार रहने के कारण मुखर्जी की पढ़ाई में निरंतर बाधा बनी रही। वस्तुतः इसी कारण उन्हें लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स से अपना दाखिला निरस्त करवाना पड़ा, जहां वह उच्च शिक्षा के लिए जाने वाले थे। 1916 में मुखर्जी ने कलकत्ता के बंगभाषी कॉलेज से बीए किया। (Munshi 2009). इसके बाद कलकत्ता विश्वविद्यालय से उन्होंने इतिहास और अर्थशास्त्र में स्नातकोत्तर किया। एनके मुखर्जी की ही तरह डीपी भी विज्ञान पढ़ना चाहते थे, लेकिन उन्होंने अर्थशास्त्र, इतिहास और राजनीति विज्ञान जैसे सामाजिक विषयों का चयन किया। इसके बाद बंगभाषी कॉलेज में ही उनके अध्यापन कार्य की शुरुआत हुई। (Madan 1994)

1922 में मुखर्जी अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र प्रवक्ता के रूप में लखनऊ विवि से जुड़े। राधाकमल मुखर्जी ने डीपी को लखनऊ विवि बुलाया था, जिसके बाद इन दोनों ने छह वर्ष बाद विवि से जुड़े डीएन मजूमदार संग मिलकर उस स्कूल की स्थापना की, जिसे लखनऊ स्कूल ऑफ सोशियोलॉजी के नाम से जाना जाता है। 20 वर्ष तक प्रवक्ता के रूप में कार्य के बाद वर्ष 1945 में डीपी रीडर बने और 1949 में वह प्रोफेसर बनाए गए। आचार्य नरेन्द्रदेव ने मुखर्जी के योगदान को देखते हुए उन्हें व्यक्तिगत रूप से यह पद दिया, क्योंकि तब विवि में एक विभाग में एक ही प्रोफेसर की नियुक्ति का नियम था। वर्ष 1954 में सेवानिवृत्ति के बाद अलीगढ़ विवि के डॉ. जाकिर हुसैन ने उन्हें अर्थशास्त्र विभाग के प्रमुख का पद लेने का अनुरोध किया। (Avasthi 1997)

लखनऊ विवि में कार्यकाल के दौरान डीपी ने 1938 में उत्तर प्रदेश सरकार के सूचना निदेशक और 1947 में उप्र श्रम निरीक्षण कमेटी के सदस्य के तौर पर भी काम किया। अध्यापन कार्य के दौरान डीपी ने विदेशों में भी कई व्याख्यान दिए और कई सेमिनारों में प्रतिभाग किया। वर्ष 1952 में वह तीन माह तक सोवियत यूनियन में रहे, जबकि 1953 में वह अतिथि प्रवक्ता के तौर पर हेग गए। इसके अलावा ऑक्सफोर्ड और पेरिस में भी डीपी मुखर्जी को व्याख्यान के लिए बुलाया गया। वर्ष 1955 में डीपी मुखर्जी के गले में कैंसर की पुष्टि हुई। इसके बाद लंबे समय तक उनका उपचार भी चला, लेकिन वर्ष 1961 उनका निधन हो गया। (Munshi 2009).

7.2.2: योगदान एवं उल्लेखनीय कार्य (Contributions and Major Works)

डीपी के कार्यों और योगदान के बारे में जानने से पहले हम उस दौर की सामाजिक स्थितियों के बारे में समझेंगे, जब डीपी ने लेखन कार्य प्रारंभ किया। बीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध रूस में सामाजिक क्रांति और इसके बाद दूसरे विश्व युद्ध को देख चुका था। रूस के साम्यवाद ने भारत पर भी प्रभाव डाला। इसके चलते भारत में भी कुछ भागों में कामगारों, मजदूरों के संघर्ष विकसित हुए। यद्यपि डीपी रूस में साम्यवाद की सफलता के आलोचक थे, तथापि वह मार्क्सवाद और इसकी क्षमताओं पर विश्वास करते थे। डीपी उस दौर के उन विद्वानों में एक थे, जिन्होंने औपनिवेशिक दासता के दौर से मुक्ति पाने के लिए राष्ट्रवादी आंदोलन, स्वतंत्रता और इसी के साथ देश के विभाजन को नजदीक से देखा–महसूस किया। उस दौर में भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष में राष्ट्रवाद मुख्य भाव था। यह वह समय था जब भारत पर ब्रिटिश सत्ता कायम थी और इस शासन को सभ्यता के नाम पर न्यायोचित करार देने की कोशिशें की जाती थीं, इसे Whiteman's burden के नाम से भी जाना जाता है। इसके चलते भारत की छवि एक विकासशील समाज के तौर पर बनाई गई, जिसे सभ्यतागत विकास की आवश्यकता थी। डीपी ने यूरोप केंद्रित इस पक्षपाती ज्ञानोत्पादन को चुनौती देते हुए वास्तविक भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन का अपना दृष्टिकोण विकसित किया। वस्तुतः डीपी ऐसा व्यक्तित्व थे, जिनके मन में भारतीय परंपराओं को लेकर गहरा विश्वास, आत्मसम्मान और इसकी प्रतिष्ठा का भाव था। उन्होंने एक नये दृष्टिकोण से भारतीय संस्कृति, सभ्यता के गौरव को स्थापित करने का काम किया, जिसे उन्होंने मार्क्सोलॉजी (Marxology) नाम दिया।

जैसा कि हम पहले ही जान चुके हैं कि डीपी ने संगीत, कला, साहित्य, दर्शन, अर्थशास्त्र, समाजविज्ञान, इतिहास, राजनीति जैसे विभिन्न आयामों में काम किया। उन्होंने *Personality and the Social Sciences* (1924), *Basic Concepts in Sociology* (1932), *On Indian History: A Study in Method* (1945), I*ntroduction to Indian Music* (1945), *Views and Counterviews* (1946), *Problems of Youth* (1946), *Modern Indian Culture* (1948), *Diversities* (1958) and *Tagore: A Study* (1972) पुस्तकों का लेखन भी किया। इनके अलावा डीपी सबुज पात्रा, परिचय, स्वराज्य, नेशनल हेराल्ड समेत विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं के लिए भी नियमित रूप से लेख लिखा करते थे। अपने दौर के अन्य विद्वानों की तरह डीपी ने नव स्वतंत्र भारत में समाज विज्ञान की जड़ों तक पहुंचने का प्रयास किया। इसका एक कारण यह था कि समाज विज्ञान के सिद्धांत भारत के लिए नये थे, क्योंकि ब्रिटिश ने इन्हें सर्वप्रथम भारत में लागू किया था। इसके चलते ये सिद्धांत भारतीय समाज के मूल, बुनियादी अवधारणाओं के अध्ययन के लिए आवश्यक बना दिए गए थे। अपनी पुस्तक *Basic Concepts in Sociology* (1932) में डीपी समाज विज्ञान

की अवधारणा और तरीकों को लेकर कई प्रश्न उठाए। इस पुस्तक में उन्होंने वैज्ञानिक तरीकों की सीमाओं और प्रकृति का भी परीक्षण किया। डीपी वैज्ञानिक पद्धति के औपचारिक तरीकों से प्रारंभ करते हुए जानकारी के वैज्ञानिक तरीकों की आलोचना करते हैं। वह तर्क देते हैं कि कुछ तथ्यों की उपलब्धता जानकारी के लिए पर्याप्त नहीं है। वह व्यक्तित्व के विकास के कारणों, महत्व पर जोर देते हैं। डीपी विकास, समानता, सामाजिक ताकतों, सामाजिक नियंत्रण का भी जिक्र अपनी पुस्तक में करते हैं, लेकिन इन सबका वर्णन व्यक्तित्व के प्रसंग में ही किया गया है।

डीपी समाज विज्ञान, विशेषतः इतिहास के अध्ययन की अवधारणाओं की खोज को आगे अपनी पुस्तक *On Indian History: A Study in Method* (1945) में भी जारी रखते हैं। इसमें अध्ययन के लिए विशुद्ध वैज्ञानिक और संस्थागत तरीकों को अनुपयुक्त पाते हुए डीपी मार्क्सवादी दृष्टिकोण को समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक विश्लेषण के लिए उपयोगी बताते हैं। इन दो महत्वपूर्ण कार्यों के अलावा स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान लिखे गए डीपी के विभिन्न लेखों, सेमिनार में दिए गए व्याख्यानों का संकलन *Diversities* (1958) पुस्तक के रूप में भी उनके योगदान को सामने लाता है। इस पुस्तक में डीपी के लेख चार भागों में हैं। पहला भाग आर्थिक योजनाओं और इनके मानव, मानवीय पहलुओं से संबंध पर आधारित है। दूसरे भाग में भारतीय इतिहास–दर्शन का जिक्र किया गया है। तीसरा भाग समाज विज्ञान से जुड़ा हुआ है। इसमें समाजवाद की अवधारणा में व्यक्तित्व के अध्ययन का जिक्र किया गया है। चौथे और अंतिम भाग में साहित्य की सामाजिक दिक्कतों, कल्पनाओं (Fiction), सामाजिक अवधारणाओं और सामाजिक परिवर्तन का जिक्र डीपी ने किया है।

अंग्रेजी के अलावा डीपी ने बांग्ला भाषा में भी काफी लेखन किया। वास्तव में उनके कई महत्वपूर्ण लेख बंगाली में ही थे, जो बांग्ला भाषा नहीं जानने वाले अध्ययनकर्ताओं के लिए शुरुआत में उपलब्ध नहीं थे। ऐसे में कुछ बंगाली शोधकर्ताओं ने डीपी के महत्वपूर्ण लेखों को अंग्रेजी में अनुवाद किया। *Redefining Humanism* (2009) ऐसे ही आठ निबंधों का संग्रह है, जो डीपी के बंगाली लेख संग्रह 'बक्तब्य' का अंग्रेजी अनुवाद है। इन निबंधों से मार्क्सवाद, मानवतावाद और व्यक्तिवाद (पुरुषवाद) के संबंध में डीपी के विचारों की जानकारी मिलती है। ये सभी निबंध भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान लिखे गए थे। इस संग्रह में डीपी भारतीय और यूरोपीय दृष्टिकोण के संदर्भ में मानवतावाद का परीक्षण करते हैं और तर्क देते हैं कि भगवान पर विश्वास कम होने के इस दौर में व्यक्ति पर विश्वास की अवधारणा को विकसित करने की जरूरत है। वह मानवतावाद का अपना दृष्टिकोण सामने रखते हैं जो पुनर्जागरण मानवतावाद से अलग है। डीपी पुरुषवाद के विचार को बढ़ाते हैं।

डीपी के महत्वपूर्ण योगदानों में से एक मुख्य कार्य यह था कि उन्होंने मध्यमवर्ग, इसकी शक्ति, कमजोरियों, विकास आदि पहलुओं पर विस्तृत अध्ययन किया। उन्होंने स्वतंत्रता के पश्चात इस वर्ग के प्रसार और योगदान के अध्ययन को लेकर सिद्धांतों का भी प्रतिपादन किया। उस दौर में जबकि भारत में मध्यमवर्ग को लेकर साहित्य–शोध का नितांत अभाव था, डीपी के ऐतिहासिक मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने इस वर्ग के अध्ययन को लेकर बुनियादी जानकारियां उपलब्ध कराने में मदद की।

7.3: दृष्टिकोण एवं कार्यशैली (Approach and Method)

7.3.1: मार्क्सवादी दृष्टिकोण (Marxological Approach)

डीपी के लिए माध्यम, कार्यशैली या तरीका जानकारी हासिल करने का उपक्रम है। वह मानते हैं कि यह जीवन में ही उपलब्ध है और इसके चलते कार्यशैली का भी जीवन चक्र है, जिसमें कई विभिन्नताएं–विविधताएं भी सामने आती हैं। डीपी मानते हैं कि हर कार्यशैली का पुनरोदय होता है, लिहाजा प्रत्येक माध्यम में स्वयं को बेहतर बनाने की क्षमता रहती है। इसकी प्रकृति द्वंद्वात्मक होती है, जिसके चलते कार्यशैली में बेहतरी के लिए निरंतर विकास और परिवर्तन सामने आते हैं। तर्क (Logic) कार्यशैली में आने वाले इस अंतर के महत्वपूर्ण कारक हैं। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि मार्क्सवादी विचार के अनुसार ज्ञान का महत्व सिर्फ जानकारी हासिल करने के लिए नहीं है, बल्कि इसका मकसद रूपांतरण या पूर्ण परिवर्तन से है। यही वजह है कि डीपी मानते हैं कि व्यक्तित्व का विकास ही ज्ञान का मूल आधार बिन्दु है। वह कहते हैं कि ज्ञान को व्यक्ति के जीवन में परिवर्तन और बेहतर जीवनशैली उपलब्ध कराने का जरिया होना चाहिए। डीपी मानते हैं कि हर दृष्टिकोण का अंतिम बिन्दु बेहतर जीवनशैली ही है। इस प्रकार दृष्टिकोण या कार्यशैली बेहतर जीवन की ओर बढ़ने वाला कदम है। (Mukerji 2004)

इससे स्पष्ट होता है कि हर कार्यशैली समय के साथ अनुपयुक्त होती जाती है और उसकी जगह नये तरीके ले लेते हैं। डीपी के अनुसार समाजशास्त्र का वैज्ञानिक स्वरूप नया है, लिहाजा इसकी पूर्ववर्ती स्थिति में प्रचलित तरीके, माध्यम, अवधारणाएं और कार्यशैली क्षीण हो जाते हैं। इसलिए मौजूदा दौर के सफल अध्ययन के लिए नयी अवधारणाओं और तरीकों का विकास आवश्यक होता है। वह बताते हैं कि यदि समाजशास्त्र में मूल्यों और न्याय का अध्ययन करना हो तो कार्यशैली में बदलाव और अवधारणाओं में परिवर्तन नितांत जरूरी हो जाता है। डीपी मानते हैं कि इस तरह की अवधारणा और माध्यम मार्क्सवाद में उपलब्ध है। अपनी पुस्तक *On Indian History: A Study in Method* (1945) में डीपी द्वंद्व को सामाजिक विश्लेषण के अध्ययन का जरिया मानते हैं। हालांकि, वह हर सामाजिक शोधकर्ता के लिए यह जरूरत भी जताते हैं कि वह इस अवधारणा को ध्यान में रखते हुए सांस्कृतिक और पारंपरिक लिहाज से अध्ययन का अपना तरीका भी विकसित करे। यानी मार्क्सवाद को अध्ययन की जाने वाली सामाजिक व्यवस्था की सांस्कृतिक स्थितियों के अनुरूप अनुकूल बनाकर देखना चाहिए, विचार और सैद्धांतिक रूप से ठोस रूप में नहीं। इस तरह डीपी मार्क्सवाद के भारतीय संस्करण (Indianized) को बढ़ावा देते हैं, जिसमें सामाजिक अध्ययन के दौरान भारतीय परंपराएं और इतिहास महत्वपूर्ण भूमिकाओं में रहती हैं। इस प्रकार डीपी की मार्क्सोलॉजिकल अवधारणा ऐसे सिद्धांत को विकसित करती हैं, जिसमें सामाजिक विश्लेषण में ऐतिहासिक द्वंद्वात्मकता अहम हो जाती है। विशेष बात यह है कि यहां द्वंद्व और इतिहास दोनों में ही परंपराओं और विरासती सभ्यताओं का भी समावेश रहता है। डीपी स्वयं को मार्क्सवादी (Marxist) के बजाय मार्क्सोलॉजिस्ट (Marxologist) कहलाना पसंद करते थे, क्योंकि उनका मानना था कि उनके लिए मार्क्सवाद (Marxism) राजनैतिक विचारधारा नहीं, बल्कि सामाजिक अध्ययन का एक माध्यम है। हालांकि, डीपी ने इस ढांचे (Framework) का किसी आनुभविक (Empirical) शोध में उपयोग नहीं किया। डीपी ने भारतीय पारंपरिक समाज के अध्ययन, शोध के लिए सर्वे, मात्रात्मक गणितीय पद्धतियों की उपयोगिता को

लेकर सदैव प्रश्न खड़े किए। वह मानते थे कि शोध के ये माध्यम व्यक्तिवादिता (Individualism) के बजाय संघीय, सामूहिक ढांचे पर आधारित भारतीय समाज के लिए अनुपयोगी थे (Singh 2004, pp. 102; 116). दूसरी ओर, रामकृष्ण मुखर्जी (1983) सामाजिक घटनाक्रमों, स्थितियों के अध्ययन के लिए सांख्यिकीय (Statistical) विश्लेषण का उपयोग करते हैं और इसे जरूरी मानते हैं।

7.3.2: प्रत्यक्षवाद–निष्पक्षतावाद की समालोचना (Critique of Positivism & Objectivity)

अपनी पुस्तक *Basic Concepts in Sociology* (2004) में डीपी बताते हैं कि सामाजिक अध्ययन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण महत्वपूर्ण है, लेकिन वे प्रत्यक्षवाद को इसके लिए उपयुक्त नहीं मानते। प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण निष्पक्षतावाद और मूल्यों की तटस्थता के आदर्श पर आधारित है। इसलिए इस आधार पर अध्ययन के दौरान शोधकर्ता के लिए अध्ययनवस्तु से जुड़ाव नहीं करने की अपेक्षा की जाती है, ताकि वह अध्ययन की प्रक्रिया मूल्यांकन और पक्ष बनने से बचा रहे और अध्ययन के परिणाम सार्वभौमिक रूप से उपयुक्त हों। डीपी ने सामाजिक अध्ययन में मूल्यांकन की तटस्थता को चुनौती दी। उन्होंने कहा कि प्रकृति विज्ञान से इतर सामाजिक विज्ञान में प्रत्यक्ष अस्तित्वमान मॉडल (Objectively Existing Model) का अभाव होता है (Mukerji 1945, pp. 22). वैज्ञानिक दृष्टिकोण की तरह मार्क्सवादी दृष्टिकोण घटनाओं को 'Royal box in a theatre' (यानी परिस्थितियों, संदर्भों के बाहर से) की तरह नहीं देखता है। डीपी मानते हैं कि अध्ययन का यह तरीका इसलिए अधूरा है, क्योंकि शोधकर्ता स्वयं परिस्थितियों और अध्ययनवस्तु से जुड़ नहीं पाता है। वह कहते हैं कि शोध मूल्यांकन की प्रक्रिया तभी पूर्ण हो सकती है, जबकि शोधकर्ता स्वयं भी ज्ञानोत्पादन की प्रक्रिया में निहित हो। इस प्रकार वह मानते हैं कि अनुसंधानकर्ता स्वयं भी शोधकार्य का अहम हिस्सा है। डीपी लिखते हैं, 'अध्ययन की प्रक्रिया में अध्ययनकर्ता स्वयं भी उन उपकरणों, उपक्रमों का भाग होता है, जिनका उपयोग वह शोध में करने वाला है। वह स्वयं भी पूरी शोध प्रक्रिया का अंग होता है। हालांकि, वह उसी स्वरूप में शोध का हिस्सा होता है, जबकि वह अध्ययन के लिए शोधवस्तु में प्रवेश करता है यानी उससे जुड़ जाता है।' (ibid. pp. 32). डीपी कहते हैं कि यहां शोधकर्ता को शोधवस्तु में प्रवेश का तात्पर्य सतही संपर्क से नहीं है, बल्कि ऐसी प्रक्रिया से है, जिसमें प्रशिक्षित शोधकर्ता त्रुटियों को नगण्य करने के लिए सभी जरूरी कदम उठाता है और अध्ययन के लिए उपलब्ध विभिन्न अवधारणाओं में से सबसे उपयोगी दृष्टिकोण का चयन कर पाता है। वह आमूल परिवर्तन का भी काम कर पाता है, जिससे शोध और शोधकर्ता दोनों रूपांतरित होते हैं।

7.3.3: द्वैतवाद का विरोध (Against Dualism)

डीपी के विचारों में मुख्यतः कृत्रिमता की झलक मिलती है। उनके पास एक समग्र दृष्टिकोण था, जो उन्हें अद्वैतवादी तरीके से संकल्पना करने में सहायता करता था। अपने दौर के अधिकतर विचारकों के विपरीत डीपी मानते थे कि सिद्धांत और अभ्यास में विरोधाभास था। ठीक यही सोच वह दर्शन और विज्ञान, परंपरा एवं आधुनिकता, सार्वभौमिकता एवं व्यक्तिवादिता को लेकर भी रखते थे। हालांकि, वह यह भी मानते थे कि अधिकतर द्वैत संयुक्त यानी परस्पर जुड़े हुए थे। उनके ऐसा मानने के पीछे मार्क्सवाद और भारतीय सामाजिक विचारों पर उनका विश्वास था। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से डीपी ने इन दोनों परस्पर विरोधी विचारों के बीच द्वंद्व का सिद्धांत रखा। पुस्तक Basic Concepts in Sociology (2004) में डीपी सुझाव देते हैं कि विज्ञान और दर्शन दोनों को एक–दूसरे के विकास में सूचनाओं के आदान–प्रदान के जरिये योगदान

देना चाहिए। वह कहते हैं कि विज्ञान को दर्शनवादी होना होगा, जबकि दर्शन को वैज्ञानिक। दोनों को तार्किक बनकर बेहतर जीवनशैली के लक्ष्य की ओर बढ़ना होगा। इसी तरह, डीपी मानते थे कि परंपरा और आधुनिकता को भारतीय समाज के आधुनिकीकरण के लिए साथ–साथ आगे बढ़ना होगा। डीपी के लिए आधुनिकता वह ऐतिहासिक प्रक्रिया है, जिसमें पारंपरिक मूल्यों, सभ्यतागत–सांस्कृतिक व्यवस्थाओं का विस्तार, उन्नति, मूलाधार की दृढ़ता और पुनरुद्धार होता है। वह मानते हैं कि आधुनिकता इन सब बिंदुओं से खुद को अलग नहीं करती, क्योंकि वह परंपराओं के साथ गहरी जुड़ी होती है। (Madan 1977, pp. 169) बांग्ला भाषा में लिखे लेख *Marxvada O Manushyadharma* (Marxism and Humanism) में डीपी तर्क देते हैं कि आम और खास के बीच चलने वाला तनाव मार्क्सवाद के जरिये समाप्त किया जा सकता है। वह बताते हैं कि सामान्य (सार्वभौमिक) अवधारणा प्राकृतिक नियमों के निर्धारण पर बल देती है जो मानव समाज को अनुशासित, नियमित करते हैं। जबकि विशेष अवधारणाएं व्यक्ति के संदर्भ में सामान्य अवधारणाओं के सिद्धांतों को नकार देती हैं। वह मानते हैं कि कोई भी सार्वभौमिक नियम सभी मानव समाजों, सभ्यताओं पर समान रूप से लागू नहीं किया जा सकता। हालांकि, डीपी ने यह भी बताया कि मार्क्सवाद इस अंतर्विरोध का समाधान करता है। वह कहते हैं कि मार्क्सवाद की अवधारणा में व्यक्ति को अलग, लेकिन सामाजिक ढांचे में स्थित माना जाता है। यानी व्यक्ति को समाज से ही समझा जा सकता है, सीधे नहीं। वह लिखते हैं–

'मार्क्सवाद के अनुसार मनुष्य प्रकृति का हिस्सा है, फिर भी वह स्वतंत्र है। वह जानकारी लेकर, आलोचना, निर्णय, बुद्धि और क्रिया के माध्यम से मानव प्रकृति को अपनी सुविधानुसार मोड़–बदल सकता है। मार्क्सवादी अवधारणा प्राथमिक रूप से संयोजन की है, कुछ विशेष मामलों में यह वियोजन को बढ़ाती है। इसका मूल सिद्धांत जीवन प्रक्रिया का निरीक्षण, परीक्षण, सामान्यीकरण, वर्गीकरण और वृहद अध्ययन है और इन सब परिभाषाओं, विश्वास आदि के माध्यम से मानव गतिविधियों को स्पष्ट करना है' (2009 pp.54).

7.3.4: समाज विज्ञान की एकता/संयोग (Unity/ Synthesis of Social Sciences)

डीपी अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र दोनों के प्राध्यापक थे। स्नातकोत्तर की शिक्षा के दौरान उन्होंने इतिहास का भी प्रशिक्षण लिया। अलग–अलग विषयों के शिक्षण–प्रशिक्षण ने डीपी को समाजविज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों से परिचित कराया। पुस्तक Diversities के आमुख में वह लिखते हैं–

'मेरे पाठक मानते हैं कि मेरी रुचि एक से अधिक क्षेत्रों में है और वे कई सतहों में खो जाती हैं। वे मानते हैं कि इनका एक या दो क्षेत्रों तक ही सीमित रहना बेहतर होता। लेकिन मैं विस्तृत पैमाने पर सोचने के लिए प्रशिक्षित हुआ था। इसने मुझे चीजों को गहराई से समझने की क्षमता देने के साथ छिपी हुई खूबियों को भी पहचान पाने में दक्ष बनाया। इसके कारण मैं सिर्फ सामान्य सतही अवलोकन पर ही नहीं रुक सकता। मैंने प्रारंभ से ही अपने कार्य में समाज विज्ञान के संयोजन को माना है।' (1958, pp. viii).

इसी पुस्तक में डीपी अर्थशास्त्र, दर्शन, इतिहास, साहित्य, समाजशास्त्र जैसे अलग–अलग क्षेत्रों के विभिन्न मसलों पर चर्चा करते हैं। पुस्तक में डीपी ने इन सभी क्षेत्रों के परस्पर संयोजन और संबंध को उभारा है। इसी प्रकार अपनी पुस्तक *On Indian History* (1945) में न सिर्फ इतिहास के अध्ययन की पद्धति विकसित

करते हैं, बल्कि यह तर्क भी देते हैं कि इतिहास और समाजशास्त्र एकसमान हैं और दोनों को एक–दूसरे का सहयोग लेते रहना चाहिए। डीपी मानते हैं कि अर्थशास्त्र की जड़ें समाजशास्त्र में होनी चाहिए, जबकि समाजशास्त्र का स्वरूप ऐतिहासिक होना चाहिए, दूसरी ओर इतिहास को दर्शन से संयुक्त होना चाहिए। वह कहते हैं कि इस प्रकार शोधकर्ता के पास व्यापक दृष्टिकोण का होना आवश्यक है। उसका संकीर्ण सैद्धांतिक सीमाओं में ही बंधे रहना शोध की सफलता के लिए अनुपयुक्त होगा।

7.4: व्यक्तिवाद से विकासः पुरुषवाद (Progress Through Personalism: Purushavada)

अपनी किताब Basic Concepts in Sociology (2004) में डीपी विकास के विचारों के इतिहास को इंगित करते हैं और समाजशास्त्रियों के लिए इसका महत्व बताते हैं। वह तर्क देते हैं कि समाजशास्त्र में विकास को दो दृष्टिकोण से देखा जाता है, पहला क्रमागत उन्नति (Evolutionary Progress) और दूसरा सांख्यिकीय विकास (Statistical Progress)। वह बताते हैं कि क्रमागत उन्नति के समाजशास्त्र में क्रमानुसार विकास के चक्रों के सिद्धांत को ध्यान में रखा जाता है, उदाहरण के लिए सामाजिक डार्विनवाद। दूसरी ओर, सांख्यिकीय दृष्टिकोण में विकास को अंकों और आंकड़ों की नजर से देखा जाता है, उदाहरण के लिए मृत्युदर, श्रममूल्य, शिक्षा आदि। डीपी मानते हैं कि ये दोनों ही दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण हैं। वह कहते हैं कि क्रमागत विकास को ध्यान में रखने वाले मूल्यों (Values) के महत्व को नकार देते हैं और विकास बनाम परिवर्तन और विकास बनाम उन्नति का अंतर स्पष्ट नहीं कर पाते। दूसरी ओर, सांख्यिकीय तरीके में परीक्षणों की ऐसी सार्वभौमिक श्रृंखला तैयार की जाती है जो सभी लोगों पर समान रूप से मान्य हो, लेकिन ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि अलग–अलग काल और स्थान पर मूल्यों में अंतर स्पष्ट परिलक्षित होता है।

डीपी मानते हैं कि विकास की समस्या मानवीय प्रयासों के पूरे क्षेत्र को आच्छादित करती है। यह समय की दिशा में विभिन्न माध्यमों और विकास के तरीकों के जरिये बढ़ती है। बुनियादी स्तर पर यह मूल्यों के संतुलन की समस्या है। हालांकि, मूल्यों की प्रवृत्ति अनुक्रमानुगत (Hierarchical) होती है, इसलिए मौलिक (Ultimate) और बुनियादी मूल्य की खोज करना आवश्यक हो जाता है। डीपी ने उपनिषदों के माध्यम से इन मूल्यों को शांतम्, शिवम् एवं अद्वैतम् (Peace, Welfare and Unity) बताया है।

डीपी लिखते हैं–

'सबसे पहला सिद्धांत सामंजस्य (Harmony) का है जो संपूर्ण जगत को निरंतर परिवर्तनों, गतिशीलता और अंतर्विराधों के बीच भी अस्तित्वमान रखता है। दूसरा सिद्धांत है सामाजिक पारिस्थितिकी में सहयोग (Co-ordination)। तीसरा सिद्धांत व्यहार, अंतर्विरोधों की विविधताओं के अतिक्रमण से एकता को परिलक्षित कर विचारों व क्रियाओं के माध्यम से अवर्णनीय प्रसन्नता की ओर समाज को बढ़ाता है। इस विचार से उन्नति मौलिक रूप से व्यक्ति के विकास में अंतर्निहित होती है, जिसमें सामंजस्य, कल्याण और एकता के सिद्धांतों को लगातार मान्यता दी जाती है।' (*op.cit.* Madan 1977, pp 159-160).

इस तरह डीपी विकास की पाश्चात्य धारणा को अपनिषदीय भारतीय पारंपरिक विचार के साथ जोड़ते हैं। डीपी विकास के विचार को सिर्फ व्यक्ति और व्यक्तित्व तक देखते हैं। यदि हम उनके विचार से व्यक्ति को निकाल दें तो यह अत्यधिक संक्षिप्त और मूल्यरहित हो जाएगा। व्यक्ति विकास की सर्वाधिक गतिशील इकाई है। डीपी मानते हैं कि विकास का संदर्भ बिंदु किसी विशेष क्षेत्र में विशेष समय में व्यक्ति के जीवन में आ रहे बदलाव और दूसरे व्यक्तियों से उसके सहयोग, समन्वय, परंपराओं–मूल्यों और सामान्य व्यवहार

होता है। इस लिहाज से व्यक्ति के व्यक्तित्व को पनपने देने के लिए अनुकूल परिस्थितियों की उपलब्धता होना महत्वपूर्ण है। डीपी बताते हैं कि सामाजिक विकास में इन परिस्थितियों को उन अपरिहार्य सामाजिक स्थितियों से समझा जा सकता है जो व्यक्तित्व विकास में सहायक हैं। यद्यपि सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्तित्व में बदलाव आ सकता है, लेकिन सामाजिक परिस्थितियां स्वयं परिवर्तनशील नहीं हो सकतीं। सामाजिक स्थितियों में बदलाव तभी आता है, जब व्यक्ति स्वयं अपनी जरूरतों, इच्छाओं और मूल्यों के आधार पर अस्तित्व के लिए किए जाने वाले प्रयासों से इसके प्रयास करता है। इस प्रकार व्यक्ति का विकास तभी संभव है, जब सामाजिक परिस्थितियों को व्यक्ति की जरूरतों, इच्छाओं के आधार पर व्यवस्थित किया जा सके। (ibid. pp.21)

यहां यह प्रश्न भी उठता है कि व्यक्ति को लेकर डीपी का विचार क्या है? डीपी का विचार दरअसल व्यक्तिवादिता (Individualism) से संबद्ध नहीं है, बल्कि यह व्यक्तिवादिता का विरोध करता है। डीपी तर्क देते हैं कि व्यक्ति की अवधारणा वस्तुतः पश्चिमी पुनर्जागरण काल का परिणाम है, जिसमें व्यक्ति पूंजीवादी व्यवस्था के दबाव में समाज से अलग कर दिया गया और लाभ कमाने वाली व्यवस्था का एक हिस्सा मान लिया गया। डीपी बताते हैं कि इंग्लैंड में पूंजीवादी व्यवस्था के उद्भव के साथ सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा और भगवान पर विश्वास का भाव समाप्त हो गया। दूसरे शब्दों में पूंजीवादी व्यवस्था ने व्यक्तिवादी स्वतंत्रता का सिद्धांत दिया तो व्यापारिक व्यवहार ने विश्वास को कम किया। (Munshi 2009 pp.25). सामुदायिक भावना के ह्रास से बने निर्वात को भरने के लिए राष्ट्रवादी विचारधारा विकसित हुई। इस विचार ने राष्ट्र–राज्यों की स्थापना की बुनियाद रखी। राष्ट्रीय हितों ने ऐसे माध्यमों ने व्यक्ति पर नियंत्रण के माध्यमों को विकसित किया, जबकि दूसरी ओर व्यक्ति में भी राज्य को नियंत्रित करने का भाव विकसित हुआ।

डीपी बताते हैं कि व्यक्तिवाद और पुरुषवाद में बड़े अंतर हैं। व्यक्ति समाज से अलग होता है और इस वहज से वह सामाजिक तौर पर हतोत्साहित नजर आता है। उनके अनुसार इस तरह का भाव निम्न तीन तरीकों से स्पष्ट परिलक्षित होता है–

1. एकाकीपन जो आत्महत्या अथवा फासीवाद (Fascism) की ओर बढ़ाता है
2. असामाजिक, समाजविरोधी व्यवहार और गैरजिम्मेदाराना आलोचनावाद
3. स्वलाभ के लिए विरोध की भावना, उदाहरण के लिए नियमों, कानूनों और नियमितीकरण की व्यवस्थाओं का विरोध या अवमानना (2009 pp.44)

समाज से अलग व्यक्ति के उपरोक्त गुणों से इतर डीपी का पुरुष प्रकृति और प्रवृत्ति से सहयोगी (Co-operative) है और सामाजिक व्यवस्था में एकीकृत (Integrated) है। व्यक्ति को लेकर डीपी का विचार विरोध पर आधारित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक व्यवस्था में मनुष्य के सहयोग पर आधारित है। वर्णाश्रम का सिद्धांत डीपी के पुरुषवादी दर्शन का मूल है। डीपी बताते हैं कि मनुष्य एक ऐसे सामाजिक ढांचे (प्राथमिक समूह) में जन्म लेता है जो जैविक बंधनों और सामाजिक चक्र से जुड़ा होता है, लेकिन विकसित होने पर वह नये सामाजिक ढांचों (द्वितीयक समूह) से जुड़ने के लिए प्राथमिक समूह के बंधनों से मुक्त हो जाता है। हालांकि, नये ढांचे में भी मनुष्य को कुछ नियमों का पालन करना होता है और मानवीय विकास के लिहाज से उपयुक्त व्यवहार करना होता है। डीपी का पुरुषवाद का विचार सामाजिक नियंत्रण/प्रतिबंध

और व्यक्ति की स्वतंत्रता के बीच अच्छे संतुलन को परिलक्षित करता है जो समाज के सदस्यों के बीच परस्पर सहयोग की भावना से बढ़ता है। इस प्रकार अधिकार और उत्तरदायित्व व्यक्ति, समाज और राज्य के बीच बिना किसी विरोध के एक से दूसरे को हस्तांतरित होते जाते हैं। उनका यह विचार परंपराओं और प्रयोगों के बीच खंडन का भी समाधान करता है। डीपी का पुरुष न सिर्फ अपनी सभ्यता–संस्कृति की परंपराओं को आगे बढ़ाता है, बल्कि नये अनुभवों के माध्यम से इन्हें अनुपूरित भी करता है। वह लिखते हैं कि 'व्यक्ति परंपराओं के गर्भ में पलता–बढ़ता है और अपनी कार्यक्षमता से वह जीवन के परीक्षणों से जूझने के लिए बाहर आता है' (2009 pp.49). हालांकि, डीपी पुरुषवाद दर्शन के वास्तविकीकरण के लिए खुली जाति व्यवस्था की जरूरत भी जताते हैं।

इस प्रकार व्यक्ति (Individual) समाज के साथ अंतर्विरोधों में जीवन जीता है, जबकि पुरुष समूह में रहकर विकास की विभिन्न स्थितियों का साक्ष्य बनता है, वह मानता है कि सामाजिक संस्थाओं की मौजूदगी और सामूहिकता के भाव से ही उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का मार्ग भी प्रशस्त होता है। व्यक्ति (Individual) समाज में अंतर्निहीत नहीं है, जबकि पुरुष व्यक्तिवाद (Individualisation) और सामाजिकता (Socialisation) दोनों से इतर व्यक्तिगत जीवन के बावजूद बंधा होता है। डीपी लिखते हैं, 'समाजवाद का अंतिम और मौलिक लक्ष्य व्यक्तियों का सहयोग है। इसका तात्पर्य सामूहिक तौर पर समाज के रूप में जुटे व्यक्तियों से है, जिसमें व्यक्ति की अपनी महत्ता बनी रहती है' (DP Mukerji, Diversities, pp. vii)

7.5: भारतीय मनीषी/बुद्धिजीवी (Indian Intellectuals)

डीपी के अनुसार भारतीय समाजशास्त्रियों का प्रथम उत्तरदायित्व भारतीय परंपराओं का अध्ययन करना है। वह लिखते हैं, 'भारतीय समाजशास्त्री के लिए समाजशास्त्री होना ही पर्याप्त नहीं है। उसे पहले एक भारतीय होना आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह है कि उसे लोक के तरीकों, परंपराओं और व्यवस्थाओं का ज्ञान होना चाहिए, ताकि वह भारतीय सामाजिक व्यवस्था की निचली परतों तक पहुंच सके और इन्हें विस्तार देते हुए अपने लक्ष्य को हासिल कर पाए। उसे भारतीय ज्ञान को हासिल करने के लिए निम्नतम से उच्चतम तक का सफर करना चाहिए।' (*op.cit.* Joshi 1986) डीपी मानते हैं कि भारतीय परंपराओं के प्रति यह समझ संस्कृत भाषा और अन्य स्थानीय बोलियों के ज्ञान से ही हासिल हो सकती है, जो सदियों से सभ्यताओं की संवाहक रही हैं।

डीपी कहते हैं कि पश्चिम से लिया गया शोध का वैज्ञानिक तरीका भारतीय सामाजिक व्यवस्था की वास्तविक गतिशीलता को समझा पाने में अल्पोपयोगी होता है। इस प्रकार वह मानते हैं कि भारतीय सामाजिक परंपराएं समाजशास्त्र की मूल विषयवस्तु हैं और इन्हें विदेशी वैज्ञानिक कार्यशैली से समझना मुश्किल है। वह मानते हैं भारतीय सभ्यताओं के शोध के लिए जरूरत के हिसाब से अपना पारंपरिक तरीका चयन करना आवश्यक है। वह कहते हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धांत पाश्चात्य सामाजिक–ऐतिहासिक प्रक्षेपपथ का परिणाम है, जो यूरोपीयन पुनर्जागरण काल में विकसित हुआ। वह बताते हैं कि इसी वजह से यूरोपीय केन्द्रित सिद्धांत भारतीय सभ्यता को विकृत और विकास के लिए जूझ रही सभ्यता, समाज के रूप में देखते रहे हैं।

डीपी के समान ही राधाकमल मुखर्जी ने भी भारतीय सामाजिक व्यवस्था को यूरोपीयन दृष्टिकोण से देखने के तरीकों की आलोचना की है। डीपी मानते थे कि यूरोपीयन सिद्धांत विकास की एकरेखीय विचारधारा पर आधारित हैं, जिनमें समाज एक ही दिशा में विकास करते हुए आधुनिक होते हैं और यूरोपीयन समाज को सबसे विकसित बताते हैं। डीपी मानते हैं कि पश्चिमी सिद्धांतों के आधार पर बनाए गए इन परिदृश्यों ने भारतीय समाज को विकास के लिहाज से पिछड़ा हुआ स्थापित कर दिया, जिसने भारतीय गौरव और अस्मिता को सर्वाधिक नुकसान पहुंचाया।

डीपी मानते हैं कि भारतीय बुद्धिजीवियों ने भी विचार किए बिना भारतीय समाज के अध्ययन के लिए पश्चिमी तरीकों का अनुसरण किया। वह इसका कड़ा विरोध करते थे। डीपी बताते हैं कि तत्कालीन भारतीय बुद्धिजीवी विकास का अपना रास्ता तय करने और भारतीय समाज के अतीत, इतिहास के आधार पर इसके भविष्य को बता पाने में नाकाम रहे। वह मानते हैं कि इसकी बड़ी वजह भारतीय समाज की ऐतिहासिक विरासत और वास्तविकता को नजरअंदाज करना रही (Madan 1994). इसका एक आंशिक कारण यह भी था कि भारतीय बुद्धिजीवियों ने संस्कृत भाषा सीखने का प्रयास नहीं किया, जबकि भारतीय ग्रंथों के अध्ययन के लिए यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। डीपी बताते हैं कि भारतीय बुद्धिजीवियों ने अंग्रेजी भाषा सीखी और इसके ही आदी होते गए जो वस्तुतः भारतीय आभिजात्य वर्ग के आधुनिकीकरण का जरिया मात्र थी। अंग्रेजी भाषा ही वह कारण थी, जिसके चलते भारतीय बुद्धिजीवियों ने सिर्फ आधुनिकता और आधुनिक पश्चिम जगत के बारे में जाना। वस्तुतः उन्हें अंग्रेजी की जानकारी के अलावा आधुनिक विचारों और पाश्चात्य समाज की कोई ठोस जानकारी नहीं थी। यही वजह है कि डीपी लिखते हैं, 'भारतीय बुद्धिजीवी पाश्चात्यीकृत नहीं, सिर्फ आंग्लकृत थे।' 1997, pp.151)

चक्रवर्ती बताते हैं कि पारंपरिक मार्क्सवादी विचारकों से इतर डीपी ने बुद्धिजीवियों को सर्वहारा क्रांति के अग्रदूत के तौर पर नहीं माना। डीपी के विचारों में बुद्धिजीवी क्रान्ति के लिए समाज के नेतृत्व में पारंपरिक उन भूमिकाओं का निर्वहन नहीं करते, जिनमें समाज और बुद्धिजीवियों के बीच परस्पर संवाद की स्थितियां बनती हों और वे एक–दूसरे को आकार देने में मदद करें। हालांकि, विद्या (Knowlwdge) क्रान्ति में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है, क्योंकि क्रान्ति आंतरिक मनोविज्ञान का परिणाम नहीं, बल्कि इसे सीखना और इस पर काम करना आवश्यक होता है। (Chakrabarti and Talukdar 2014, pp.67). डीपी के शब्दों में–

'बुद्धिजीवी वस्तुतः उस वर्ग में जन्म लिए हुए होते हैं, जिनके पास पहले से अधिकार हैं। वे असंतुष्टि के भाव के प्राथमिक साक्ष्य नहीं होते। ऐसे में असंतुष्टि को लेकर उनके विचार वस्तुतः वाचिक अभिव्यक्ति मात्र होती है। अन्य समूहों के लिए असंतोष का भाव उनकी वास्तविकता है, हालांकि वे इसे कई बार ठीक से भाषाई तौर पर व्यक्त नहीं कर पाते। क्रान्ति की शुरुआत दो धाराओं– भाषा और कर्म के प्रभाव से होती है। इस प्रकार यह एक नयी कल्पना को जन्म देती है, जिसे आम व्यक्ति अवधारित करते हैं। यह उन लोगों के लिए आसान नहीं होता, जो मात्र शब्दों के आधार पर क्रान्ति के अग्रदूत बने रहते हैं। उनके लिए नये प्रतीकों को गढ़ने, इनके प्रसार, इनके अनुसरण और आम जन तक इन्हें प्रदान करने के लिए आगे बढ़कर कर्म के रूप में प्रयास करने की आवश्यकता होती है।' (*op.cit. ibid.*) डीपी मानते हैं कि

बुद्धिजीवियों में यह क्षमता होती है कि वे जनसामान्य के दर्द को समझ सकें और शासक वर्ग की ओर से गढ़े गए प्रतिमानों, कल्पनाओं को वर्ग जागरूकता के माध्यम से पुनर्गठित कर सकें। लेकिन, वे क्रान्ति के लिए आवश्यक उपक्रमों को उपलब्ध कराने के बजाय पारंपरिक तरीकों से बंधकर जनता का नेतृत्व नहीं करते।

7.6: साम्यवाद क्या है (What Is Communism)

डीपी के अनुसार साम्यवाद ऐसी कार्ययोजना का सिद्धांत है जो आदर्शवाद का प्रतीक है। सैद्धांतिक रूप में इसका तात्पर्य उत्पादन, वितरण और समान उपयोग के लिए विनिमय के सामूहिक स्वामित्व से है। डीपी बताते हैं कि साम्यवाद में उत्पादन क्षमता के समानुपाती होता है, जबकि वितरण और उपभोग समान आवश्यकता के अनुरूप होता है (मार्क्स के प्रसिद्ध वाक्य के अनुसार– हर किसी की ओर से उसकी क्षमता के अनुसार और हर किसी के लिए उसकी जरूरतों के अनुरूप)। यानी, शक्तियों का पूंजीवादी व्यवस्था से श्रमिकों की ओर हस्तांतरण। फौरी तौर पर साम्यवाद को जाति के आधार पर जागरूक सर्वहारा वर्ग के संगठन की आवश्यकता होती है जो अंतिम तौर पर जाति व्यवस्था के ढांचे को ढहा दे। साम्यवाद व्यक्तिवाद के बजाय सामूहिकता को महत्व और तर्कवाद व वैज्ञानिक तरीकों पर बल देता है। डीपी लिखते हैं, 'साम्यवाद निश्चित रूप से तर्कवाद की जमीन पर जागरूकता का प्रयास है। साम्यवाद के आने से पहले अधिक सकारात्मक और क्रान्तिकारी आदर्शों की व्यवस्था जागरूकता के स्तर पर सामने आनी चाहिए।' (*ibid*. pp.180). इस प्रकार तर्कवाद साम्यवाद का आवश्यक तत्व है, लेकिन जब तक धार्मिक विचार लोगों के मन में बने रहते हैं, साम्यवाद का भविष्य अस्तित्वमान नहीं होता। यही वजह है कि धार्मिक–आध्यात्मिक रूप से गहरी जड़ों वाले भारत जैसे देश में साम्यवाद को पनपने के लिए अवसर उपलब्ध नहीं होते। डीपी यह भी विश्वास करते हैं कि चूंकि भारत में पूंजीवादियों ने ही राष्ट्रवादी आंदोलन का नेतृत्व किया, यहां निकट भविष्य में साम्यवाद के विकास को लेकर कोई पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता।

7.7: भारतीय मध्य वर्ग (Indian Middle Class)

डीपी ने भारतीय मध्य वर्ग के विषय में भी विस्तृत लेखन किया है। उन्होंने महसूस किया कि यह वर्ग भारतीय समाज और सभ्यता के विचार में अहम भूमिका का निर्वहन करता है। भारतीय मध्य वर्ग के अध्ययन में डीपी के योगदान को एआर देसाई और पीसी जोशी ने भी उल्लेखनीय माना है। पूर्वब्रिटिशकाल के अध्ययन के दौरान डीपी ने भारत में मध्य वर्ग के विकास पर फोकस किया। डीपी के अनुसार भारत में मध्यवर्ग ब्रिटिश शासक वर्ग की आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक नीतियों के फलस्वरूप विकसित हुआ। (Desai 1997). ब्रिटिश सत्ता ने भारत की स्वावलंबी ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था को नष्ट करने के साथ सामुदायिक भूमियों को निजी संपत्ति में बदल दिया। पारंपरिक कुटीर उद्यमों, व्यापार एवं वाणिज्यिक व्यवस्थाओं को समाप्त करने के साथ ब्रिटिश दौर में नयी भू–राजस्व व्यवस्था ने भारत में भूमि संपत्ति की अवधारणा को विकसित किया। इस व्यवस्था में यह सुनिश्चित किया जाता था कि जमींदार आमजनों से दूरी बनाए रखें। इसके चलते जमींदारों का एक नया ही वर्ग भारत में पनपने लगा। दूसरी ओर, ब्रिटिश शासकीय व्यवस्था ने भारतीय उपनिवेश में प्रशासनिक कार्यों में भारतीय लोगों से सहायता लेने के मकसद से अंग्रेजी शिक्षा को भी लागू किया। अंग्रेजी में शिक्षा हासिल करने वाला यह वर्ग भी अंग्रेजी नहीं जानने

वाली बड़ी आबादी से एक दूरी बनाकर रखा करता था। जमींदारों और अंग्रेजी शिक्षित इन लोगों के उद्भव से ही भारत में एक नया वर्ग जन्मा, जिसे मध्य वर्ग कहा जाता है। ये लोग आमजन की भाषा और संस्कृति से विरत थे। (Chakrabarti 2010).

हालांकि, मध्यवर्ग से संबंध रखने वाले लोग प्रारंभ में ब्रिटिश सत्ता की ओर झुकाव रखते थे, लेकिन समय के साथ उन्हें इस वास्तविकता का ज्ञान हुआ कि ब्रिटिश ने भारतीय उद्योगों, व्यापार और वाणिज्य पर अधिकार कर लिया है। इससे उपजी हताशा ने भारत में राष्ट्रवादी विचारधारा को विकसित किया। डीपी बताते हैं कि राष्ट्रवाद की इस अवधारणा को मध्य वर्ग ने पोषण दिया, ताकि ब्रिटिश सत्ता से स्वतंत्रता प्राप्त की जा सके। ब्रिटिश सत्ता समाप्त हुई तो वे इसी मध्य वर्ग के हाथों में व्यवस्था सौंप गए, जिन्होंने पश्चिमी तर्कवाद, वस्तुवाद और उपयोगवाद के रास्ते पर बढ़ते हुए स्वतंत्र भारत की नीतियों के निर्धारण में अहम भूमिका निभाई। इस वर्ग ने भारतीय इतिहास में निम्नवत् महत्वपूर्ण योगदान दिया–

1. ब्रिटिश सत्ता के एकीकरण में योगदान
2. ब्रिटिश सत्ता के विरोध में सफल राष्ट्रीय आंदोलन
3. सामाजिक संघर्ष का प्रतिपादन
4. देश के विभाजन को लेकर विचार
5. स्वतंत्रता के बाद सामाजिक परिवर्तन को लेकर मुख्य भूमिका (*ibid.* pp.236)

डीपी मानते हैं कि मध्यवर्ग आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा के जरिये व्यक्तिवादी अवधारणा को तो आत्मसात कर सकता है, लेकिन भारतीय सामाजिक परंपराओं से संबद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यह वर्ग पारंपरिक तौर–तरीकों से रहने वाले जन से दूर होता है। डीपी मानते हैं कि मध्य वर्ग को भारतीय समाज में कृत्रिम रूप से थोपा गया था यानी ब्रिटिश शासन ने भारत में जो सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन किए, उनके परिणामस्वरूप भारत में मध्यवर्ग का विकास हुआ। वे भारतीय समाज के आधुनिकीकरण के मुख्य कारक बने।

7.8: निष्कर्ष (Conclusion)

डीपी भारतीय समाजशास्त्र के उन प्रारंभिक विद्वानों में थे, जिन्होंने सामाजिक वास्तविकता के अध्ययन के लिए द्वंद्व की अवधारणा का प्रयोग किया। हालांकि, उन्होंने मार्क्सवादी अवधारणा की वकालत की फिर भी भारतीय परंपराओं और संस्कृति को लेकर उनके मन में सदैव मान बना रहा। उन्होंने भारतीय परंपराओं, इतिहास के अध्ययन की जरूरत जताने के साथ भारत के गौरवशाली अतीत के जरिये नये सुदृढ़ भविष्य को गढ़ने पर जोर दिया। हालांकि, वह पश्चिमी सभ्यता के भारतीय समाज पर असर के प्रशंसक भी रहे, लेकिन वह भारत के अध्ययन के लिए पाश्चात्य दर्शन के तौर–तरीकों और अवधारणाओं के इस्तेमाल को भारतीय अध्येताओं की ओर से बिना विचारे दिए जाने वाले समर्थन के आलोचक रहे। वह मानते थे कि यूरोप केन्द्रित अवधारणाएं व्यक्तिवादिता को बढ़ावा देती हैं, जबकि भारतीय सामाजिक व्यवस्था में सामूहिकता का प्रभाव सदैव रहा।

डीपी ने व्यक्तिवादिता के विरोध में पुरुषवाद के नये दर्शन को प्रतिपादित किया। यह ऐसे व्यक्ति पर आधारित है जो समाज से अभिन्न रूप से संयुक्त है। मार्क्सवाद को लेकर डीपी का विचार था कि यह

मानवता को पुनर्जीवित करता है, क्योंकि यह समाज की कीमत पर व्यक्तिवादी स्वतंत्रता की अवधारणा पर आधारित नहीं है। इसके अलावा यह विचार सीधे व्यक्ति से जुड़ने के बजाय मानव समुदाय पर असर डालता है। डीपी ने बताया कि आधुनिक दौर में मानव समुदाय के विकास के लिए विश्वास की भावना बेहद आवश्यक है। वह बताते हैं कि विश्वास का यह भाव व्यक्ति (पुरुष) पर होना चाहिए, जो समाज का अभिन्न अंग है। अंत में डीपी मार्क्सवाद की कट्टरता के विरोधी थे। वह मानते थे कि मार्क्सवाद राजनीतिक विचारधारा के बजाय एक माध्यम है। वह मानते थे कि मार्क्सवाद में सामाजिक वास्तविकताओं को समझने में उपयोगी विचारों, अवधारणाओं की उपलब्धता थी। लेकिन वह यह भी मानते थे कि किसी भी सामाजिक या सांस्कृतिक परिस्थिति का अध्ययन करते हुए उसके ऐतिहासिक दृष्टिकोण को ही सदैव सामने रखना चाहिए। अध्ययन के लिए इस ऐतिहासिक दृष्टिकोण और सामाजिक विज्ञान के संयोजन ने ही डीपी को किसी घटना को समझने, जानने के लिए व्यापक समग्र बनाते हैं।

7.9: सन्दर्भ (References)

Avasthi, A. (ed.) (1997), *Social and Cultural Diversities: In DP's Memorium*, Rawat Publication.

Chakrabarti, D. (2010), "D.P. Mukerji and the Middle Class in India", *Sociological Bulletin*, Vol. 59, No. 2, pp. 235-255

Chakrabarti, A. And Talukdar, D. (2014), "The Sociological Imagination of Dhurjati Prasad MukerjiBeyondHermeneutics and Positivism", *Economic and Political Weekly*, Vol.49, No. 9, pp 63-74.

Desai, A.R. (1997), "Empowering the Sovereign Citizens of India: Some Constitutionl Obstacles" in Avasthi, A (ed.) *Social and Cultural Diversities: In DP's Memorium*, Rawat Publication.

Joshi, P.C. (1986), "Founders of the Lucknow School and Their Legacy. Radhakamal Mukerjee and D P Mukerji: Some Reflections", *Economic and Political Weekly*, Vol.21, No. 33, pp. 1455-1469.

Madan, T, N. (1994), "D.P. Mukerji 1894-1961: A Centenary Tribute", *Sociological Bulletin*, Vol 43, No. 2, pp 133-142.

Madan, T.N. (1977), "Dialectic of Tradition and Modernity in the Sociology of D.P. Mukerji", *Sociological Bulletin*, Vol. 26, No. 2, pp 155-178.

Mukerji D.P. (1945), *On Indian History: A Study in Method*, Hind Kitabs, Bombay.

Mukerji, D.P. (1958), *Diversities: Essays in Economics, Sociology and Other Social Problems,* Peoples Publishing House, New Delhi.

Mukerji, D.P. (2004) [1932], *Basic Concepts in Sociology*, Rupa Publishers, New Delhi.

Mukherjee, R. (1983), *Classification in Social Research,* State University of New York Press, Albany.

Munshi, S. (ed.) (2009), *Redefining Humanism: Selected Essays of D. P. Mukerji,* Tulika Books.

Nagendra, S.P. (1997), " D.P. Mukerji as a Sociologist (Centenary Shradhanjali)" in Avasthi, A (ed.) *Social and Cultural Diversities: In DP's Memorium*, Rawat Publication.

Narain. S.K. (1967), 'Obituary' in Singh, V.B and Singh B. (eds.) *Social and Economic Change: Essays in Honour of Prof. D.P. Mukerji*, Allied publishers, Bombay, pp- xvii-xxi.

Singh. V. B. (1967), 'A tribute' in Singh, V.B and Singh B. (eds.) *Social and Economic Change: Essays in Honour of Prof. D.P. Mukerji*, Allied publishers, Bombay, pp-xii-xvi.

Singh, Y. (2004), "Ideology, Theory and Methods in Indian Sociology" in *Ideology and Theory in Indian Sociology.* Rawat Publications, pp.95-134.

इकाई–08
एआर देसाई (AR Desai)

8.1: उद्देश्य
8.2: परिचय
  8.2.1: जीवन परिचय
  8.2.2: प्रभाव एवं योगदान
8.3: देसाई का मार्क्सवादी दृष्टिकोण
  8.3.1: भारत में समाजशास्त्र का कार्य
  8.3.2: मार्क्सवादी दृष्टिकोण के महत्वपूर्ण पहलू
8.4: ब्रिटिश शासन और भारतीय राष्ट्रवाद
  8.4.1: पूर्व ब्रिटिशकाल में भारत की सामाजिक–आर्थिक स्थिति
  8.4.2: भारत पर ब्रिटिश विजय
  8.4.3: ब्रिटिशकाल में सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन
  8.4.4: आधुनिक शिक्षा का विकास, परिवहन–संचार के नये साधन
  8.4.5: नये सामाजिक वर्गों का उद्भव
  8.4.6: भारतीय राष्ट्रवाद का विकास
8.5: कृषक संघर्ष एवं ग्राम्य परिवर्तन
8.6: विकासशील समाजों का आधुनिकीकरण एवं विकास
8.7: निष्कर्ष
8.8: शब्दावली
8.9: सन्दर्भ

8.1: उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं:

1. भारतीय समाजशास्त्र के विषय में मार्क्सवादी विचारों का अवलोकन
2. देसाई के कार्यों के महत्व, सन्दर्भ और योगदान का अध्ययन
3. एआर देसाई की कार्यशैली और योगदान का अध्ययन
4. भारतीय समाज के अध्ययन को लेकर देसाई के दृष्टिकोण का विस्तृत अध्ययन

8.2: परिचय (Introduction)

अक्षय रमनलाल देसाई (1915-1994) भारत के प्रख्यात मार्क्सवादी विद्वान, लेखक और सामाजिक कार्यकर्ता थे। देसाई ने राष्ट्रवाद, आर्थिक विकास, राज्य, श्रमिक–ग्रामीण समाज, जातिगत ढांचा और आधुनिकता जैसे विषयों पर गहन लेखन किया है। समाज विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के छात्र, शोधकर्ताओं समेत सामाजिक कार्यकर्ता भी देसाई के लेखन से मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं। जैसाकि पिछली इकाई में हम जान चुके हैं कि डीपी मुखर्जी भारतीय समाजशास्त्र में मार्क्सवादी चिंतन को स्थान देने वाले प्रारंभिक विद्वान थे

जो स्वयं को मार्क्सवादी के बजाय मार्क्सोलॉजिस्ट कहलाना पसंद करते थे। डीपी के बाद एआर देसाई ने भी अपने अकादमिक कार्यकाल के दौरान समाजशास्त्रीय विश्लेषण के लिए मार्क्सवादी कार्यशैली, सिद्धांतों को शोध कार्यों के लिए उपयोग किया। वह इस विचार पर विश्वास करते थे और जीवनभर वह मार्क्सवादी ही रहे।

8.2.1: जीवन परिचय (Biographical Sketch)

एआर देसाई का जन्म 16 अप्रैल 1915 को गुजरात में नादियाड के बुद्धिजीवी परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री रमनलाल वसंतलाल देसाई प्रशासनिक कर्मचारी के साथ प्रख्यात उपन्यासकार भी थे, जिनके लेखन ने 1930 के दौर में गुजराती युवाओं को खासा प्रभावित किया। देसाई भी अपने पिता से गहराई तक प्रभावित थे और उनसे प्रेरणा लेते थे। कॉलेज में पढ़ाई के दौरान देसाई सामाजिक कार्यों से जुड़ गए और बड़ौदा, सूरत व बंबई में कई छात्र आंदोलनों में उन्होंने शिरकत की। बांबे विश्वविद्यालय से उन्होंने कानून में स्नातक किया और फिर उस दौर में भारत के प्रसिद्ध विद्वान जीएस घुर्ये के मार्गदर्शन में समाजशास्त्र में पीएचडी प्रारंभ की। 1947 में उन्होंने सामाजिक कार्यकर्ता और महिला विषयों की शोधकर्ता नीरा देसाई से विवाह किया। (Munshi and Denzil 1994; Savur and Munshi 1995).

एआर देसाई का अकादमिक कार्य व राजनीतिक सक्रियता साथ–साथ चलती रहीं। उन्होंने 1924 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता ली, लेकिन वैचारिक मतभेदों के चलते उन्होंने 1939 में पार्टी से इस्तीफा दे दिया। 1953 में वह 'रिवॉल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी' से जुड़े। लेकिन, पार्टी जर्नल में अपने विचारों के प्रकाशन पर पार्टी की ओर से सीमाएं बांधने के चलते 1981 में उन्होंने इसे भी छोड़ दिया। हालांकि, इसके बाद भी बुद्धिजीवियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं संग उनकी बातचीत–मुलाकातों का दौर बना रहा, लेकिन इसके बाद वह किसी राजनीतिक पार्टी से नहीं जुड़े। (*ibid.)* देसाई ने बंबई में समाजशास्त्र प्रवक्ता के तौर पर अपना अकादमिक कॅरियर प्रारंभ किया। 1951 में उन्होंने बांबे विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग में उस दौर में तैनाती ली, जब बांबे स्कूल ऑफ सोशियोलॉजी लोकप्रियता और प्रभाव के लिहाज से चुनौतीपूर्ण दौर से गुजर रहा था। कुछ समय बाद ही वह प्राध्यापक बने और फिर 1969 में विभागाध्यक्ष भी बने। यह वह दौर था, जब नक्सलबाड़ी, ट्रेड यूनियन और छात्र आंदोलनों के चलते बंबई सामाजिक और राजनीतिक रूप से लगातार बेचैनी के दौर से गुजर रहा था। (Raman 2013). यह वह दौर था जब अकादमिक शक्तियों का बंबई से दिल्ली की ओर स्थानांतरण हुआ, जबकि अनुभववाद, ढांचागत कार्यशैली, वियोजन जैसे वैज्ञानिक सामाजि अध्ययन के तरीके तथ्यों और मूल्यों संग संयोजित हो गए। उस समय देसाई ने अपने दृष्टिकोण और सिद्धांतों के जरिये तथ्यों और मूल्यों के अलग महत्व को स्थापित किया। (Patel 2007: 419). इसे हम आगे विस्तार से समझेंगे।

8.2.2: प्रभाव एवं योगदान (Influences and Contribution)

देसाई मार्क्सवादी होने के साथ सामाजिक कार्यकर्ता, आंदोलनकारी भी थे। इन दोनों की छाप उनके बौद्धिक कार्यों पर भी साफ नजर आती है। श्रम आंदोलनों में सक्रिय सहभागिता और वामपंथी पार्टियों से जुड़ाव ने उनके कार्यों को विशेष रंग दिया। जिस तरह एनके बोस को गांधीवादी स्वतंत्रता आंदोलन से शोध और आंदोलनात्मक प्रेरणा मिली, ठीक उसी तरह देसाई के भी शोधकार्य व आंदोलन साथ–साथ चलते रहे। उनकी आंदोलनात्मक सक्रियता ने उन्हें उन मूल मुद्दों से जोड़ा, जो वामपंथी विद्वानों के बीच चर्चा का विषय थे और इनके जरिये भारतीय राजनीतिक स्थितियों को अवधारणात्मक रूप देने में मदद की।

पटेल (2007) पाते हैं कि देसाई और उनके दृष्टिकोण पर दो तरह के प्रभाव थे। पहला था, जैसाकि वर्णित किया जा चुका है, देसाई का भारत में श्रम, छात्र और राष्ट्रीय आंदोलन करने वाले परिवर्तनवादी, वामपंथी, मार्क्सवादी समूहों से जुड़ाव। इन सबसे देसाई को देश के मुद्दों व वर्गों को समझने, समाज में इनके परिवर्तनकारी योगदान को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सैद्धांतिक स्वरूप देने में मदद मिली। देसाई पर दूसरा प्रभाव उनके पिता का था जो उपन्यासकार, राष्ट्रवादी और समाजवादी (अवसरवादी– Fabian) होने के साथ महात्मा गांधी के बड़े प्रशंसक भी थे। पिता के विचारों ने देसाई को भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद के बीच अंतरसंबंधों की स्थापना में मदद की, जिसमें राष्ट्रवाद विचार के रूप में था, जबकि ब्रिटिश उपनिवेशवाद को उखाड़ने के लिए वर्ग संघर्ष उभरे।

देसाई विविध आयामों में लेखन करते थे। उन्होंने राष्ट्रवाद, कृषक संघर्ष, ग्रामीण परिवर्तन, कृषक आंदोलन, सत्ता और समाज, श्रम और मानवाधिकार, सामाजिक परिवर्तनों समेत विभिन्न विषयों पर लेखन किया। देसाई ने पूर्व ब्रिटिशकालीन भारत, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और स्वतंत्रता पश्चात भारत में व्यवस्थाओं पर लेखन किया है, इससे देसाई के लेखन को बेहद विस्तृत आयाम मिला है। देसाई ने हर काल में भूमिसुधार, कृषकों की स्थिति, संघर्ष और भारतीय समाज के विकास व आधुनिकीकरण का तुलनात्मक अध्ययन किया है। देसाई का जन्म भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौर में हुआ था। ऐसे में उन्होंने न सिर्फ औपनिवेशिक दौर और आजादी के आंदोलन को खुद देखा–महसूस किया, बल्कि स्वतंत्रता के बाद आने वाले बदलावों, राष्ट्रनिर्माण व देश के शुरुआती विकास की प्रक्रियाओं के भी वह साक्ष्य रहे। इस तरह उनके लेखन को चार दशक से अधिक का आयाम मिला, जो भारतीय समाज में समय–समय पर आने वाले परिवर्तनों को उभारता है।

देसाई के लोकप्रिय शुरुआती लेखन कार्यों में ***The Social Background of Indian Nationalism*** **(1948)** शामिल है, जिसमें उन्होंने पूर्व ब्रिटिशकालीन भारतीय समाज के गुणों, प्रकृति का वर्णन किया है। इसी पुस्तक में उन्होंने ब्रिटिशकाल में हुए सामाजिक परिवर्तनों और भारतीय सामंतवादी ढांचे पर इसके असर की भी जानकारी दी है। आगे आने वाले परिवर्तनों को देसाई ने ***Recent Trends in Indian Nationalism*** (1960) में स्थान दिया। स्वतंत्रता के बाद देसाई ने भारत की आर्थिक नीतियों और विकासपथ के विश्लेषण पर फोकस किया। ***Rural Transition in India*** **(1961)** नामक श्रृंखला में उन्होंने ग्रामीण समाज में विकास कार्यक्रमों और नीतियों को लागू करने व शहरी क्षेत्रों में असमानता के नये उभरते पहलुओं का विश्लेषण किया। इसमें देसाई ने सामुदायिक विकास कार्यक्रमों, भूमिसुधार, पंचायतीराज जैसी उन नीतियों का विस्तार से जिक्र किया है, जिनके परिणामस्वरूप भारतीय सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन आए। इन नीतियों और कार्यक्रमों के मूल्यांकन ने उन्हें भारत में वर्ग संघर्ष और आंदोलनों की पड़ताल करने का भी अवसर प्रदान किया। 1970 के दशक से भारतीय समाज ने सामाजिक और राजनीतिक लिहाज से अनिश्चितता के दौर का सामना किया। ग्रामीण भारत में नक्सलबाड़ी आंदोलनों ने नये संघर्षों को जन्म दिया तो शहरी भारत में ट्रेड यूनियनों के आंदोलन, रेलवे हड़ताल, महिला आंदोलनों ने गति पकड़ी। इस दौर में राजनीति और राजनीतिक लामबंदी ने प्रारंभिक राजनीतिक पहचान की दिशा को बदला (यानी लोगों को धर्म, जाति आधारित राजनीति से अलग सोचने की क्षमता दी) (Patel 2011; Raman 2013).

इस दशक में देसाई ने भारतीय समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्ति पर वृहद लेखन किया। उनकी ***Peasant Struggles in India*** **(1979) और** ***Agrarian Struggles in India after Independence*** **(1986)** उस दौर

के सामाजिक आंदोलनों और कृषक समाज की स्थिति को समझने के लिए महत्वपूर्ण दस्तावेज हैं। इन किताबों में देसाई ने औपनिवेशिक दौर और स्वतंत्रता के बाद किसान संघर्षों का पूरा ब्योरा संग्रहीत किया है। देसाई बताते हैं कि किस तरह पारंपरिक किसान संघर्षों को नये संपत्ति स्वामी वर्ग और कृषक सर्वहारा वर्ग ने आगे बढ़ाया। वह बताते हैं कि नवसमृद्ध वर्ग विकास को लेकर अपनी रुचियों के चलते संघर्ष करता है, जबकि निर्धन वर्ग (जनजातियां और निम्न जातियां शामिल) अस्तित्व और जीवनानुकूल बेहतर परिस्थितियों के लिए संघर्ष करता है।

8.3: देसाई का मार्क्सवादी दृष्टिकोण (Desai's Marxist Approach)

1960–70 में भारत में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवविज्ञान अध्ययन की मुख्यधारा समाज के वैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित और ढांचागत कार्यक्षमता के दृष्टिकोण पर आधारित थी। उस दौर में मुख्यतः घुर्ये और एमएन श्रीनिवास की अवधारणा को ही मूल सिद्धांत माना जाता था। लेकिन यह अनुभववाद पर आधारित था और तथ्यों–मूल्यों से इसका स्पष्ट भेद दिखता था। उदाहरण के लिए एमएन श्रीनिवास ने ग्रामीण अध्ययन के लिए फील्डवर्क किया और भारतीय सामाजिक ढांचे को लेकर डाटा जुटाया। उस दौर में शोधकर्ता फील्डवर्क के जरिये भारतीय सामाजिक अध्ययन के लिए आवश्यक तथ्य जुटाने पर जोर देते थे। (Patel 2007:419). हालांकि, देसाई (1981) ढांचागत कार्यशैली, विषयपरक दृष्टिकोण आधारित घुर्ये और श्रीनिवास के सिद्धांतों के आलोचक रहे। उन्होंने तर्क दिया कि उपरोक्त दोनों विद्वानों ने जिस सांख्यिकीय दृष्टिकोण का प्रयोग किया, वह संतुलन और स्थायित्व की जरूरत जताता है, जिसके चलते गरीबी, असमानता और पिछड़ेपन जैसे महत्वपूर्ण पहलू नजरअंदाज कर दिए जाते हैं।

1980 में 15वीं ऑल इंडिया सोशियोलॉजिकल कांफ्रेंस में अध्यक्षीय संबोधन देते हुए देसाई ने भारतीय समाजशास्त्र के मूल्यांकन के लिए 27 आधार बिंदु सामने रखे। स्वतंत्रता के बाद भारत उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भारी विकास का साक्ष्य बना, जिसका एक हिस्सा समाज विज्ञान भी था। इसके बावजूद समाजशास्त्र एवं मानवविज्ञान के शोध, प्रशिक्षण एवं शिक्षण के तीन दशक बाद भी शोधकर्ता और विद्वान इसकी प्रभावोत्पादकता को लेकर शंकाएं जाहिर करते रहे। इनमें मुख्य था स्वतंत्रता के बाद भी शिक्षण और प्रशिक्षण के उपनिवेशकालीन सिद्धांतों का उपयोग था, जो दरअसल औपनिवेशिक कार्यशैली, अवधारणा और सैद्धांतिक निर्माण प्रक्रिया का तरीका थे। इस प्रकार भारत में समाजशास्त्र की अवधारणा और कार्यशैली दरअसल पाश्चात्य जगह से ही लिए गए थे। इसका एक कारण यह भी था कि भारतीय समाजशास्त्रीय परंपराओं को लेकर तब जागरूकता का भी अभाव था। ऐसे में यह सिद्धांत समाज के वैज्ञानिक, प्रत्यक्षवादी, मूल्यनिरपेक्ष और अनुभववादी अध्ययन में फंसकर रह गया। (*ibid.*). देसाई बताते हैं कि तत्कालीन प्रभावशाली समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अनैतिहासिक, सांख्यिकीय, समकालिक, ढांचागत कार्यशैली का सिद्धांत मूलतः संतुलन और स्थायित्व पर आधारित था। यह दृष्टिकोण परिस्थिति को संतुलित बनाए रखने पर ही जोर देते हैं, जिसके चलते इन सिद्धांतों को ध्यान में रखकर परिवर्तन और आमूल अंतरों का अध्ययन इन सिद्धांतों की सांख्यिकीय, गणितीय पद्धतियों के प्रति दृढ़ता की वजह से असंभव था।

8.3.1: भारत में समाजशास्त्र का कार्य (Task of Sociology in India)

भारत में समाजशास्त्र के सैद्धांतिक उपयोग के मूल्यांकन के बाद देसाई भारत में समाजशास्त्र के कुछ बुनियादी लक्ष्यों को स्पष्ट करते हैं:

1. ऐसे दृष्टिकोण की तलाश करना जो समाजशास्त्र को उन्नति देते हुए मौजूदा अकादमिक संकट को दूर करने में मददगार बने
2. ऐसे दृष्टिकोण की खोज और विकास करना जो पारंपरिक दौर में प्रासंगिक प्रश्न उठा सके और परिवर्तन व रूपांतरण का अध्ययन कर सके
3. ऐसे सिद्धांत का विकास जो भारतीय समाज के विशिष्ट ढांचागत गुणों की खोज कर सके और परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए इन गुणों के प्रयोग से गरीबी, असमानता को समाप्त कर सके
4. नये दृष्टिकोण को योजनाओं और विकास के लिए अपनाए जाने वाले पैमानों व नीतियों के मूल्यांकन के लिए उपयुक्त होना चाहिए
5. ऐसे सिद्धांत को अपनाया जाना चाहिए जो भारतीय समाज के विभिन्न आयामों में रूपांतरण का परीक्षण कर सके, इस काम में यह सिद्धांत भारतीय सामाजिक व्यवस्था को संपूर्णता में अध्ययन करे, एकल या विभाजित स्वरूप में नहीं (Desai 1981, pp.9)

इस तरह देसाई मौजूदा अकादमिक तरीकों की आलोचना के साथ भारतीय समाज में परिवर्तनशीलता के अध्ययन के वैकल्पिक उदाहरण, सिद्धांत को सामने रखते हैं। वह यह भी मानते हैं कि यह लक्ष्य मार्क्सवादी विचार से सर्वश्रेष्ठ तरीके से हासिल किया जा सकता है। देसाई के अनुसार मार्क्स ने जो दृष्टिकोण विकसित किया है, वह भारतीय समाज के अध्ययन के लिए प्रासंगिक और उपयोगी विकल्प बन सकता है। मार्क्स का मानव समाज के अध्ययन का तरीका वस्तुओं के उत्पादन और भोजन, वस्त्र आदि के जरिये आर्थिक गतिविधियों पर आधारित है। मार्क्स तर्क देते हैं कि पशु–पक्षियों से इतर मानव समुदाय अस्तित्व के लिए आवश्यक बुनियादी जरूरतों के लिए प्रकृति के रूपांतरण में सक्षम है। मानव समुदाय ने अपनी जरूरतों के उत्पादन के लिए प्रकृति पर ही निर्भर नहीं रहकर अन्य जीव प्रजातियों से स्वयं को अलग और विशेष सिद्ध किया है। उपकरणों और यंत्रों की मदद से मनुष्य ने प्रकृति से मिलने वाले उत्पादों को मनुष्य के अस्तित्व की जरूरत के हिसाब से ढाला। भोजन, वस्त्र और आवास के लिए वस्तुओं का उत्पादन मानव समाज का ऐतिहासिक कार्य था। इसलिए मानव समाज के अध्ययन के लिए बुनियादी तथ्यों की जांच, परीक्षण और निरीक्षण आवश्यक है। इस तरह मार्क्सवादी दृष्टिकोण सामाजिक वास्तविकता को समझने के लिए उत्पादन की आवश्यकताओं और तरीकों, श्रम के विभाजन, उत्पादन और गुण संबंधी सामाजिक संबंधों को भी समझाता है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण में संपत्ति के गुण संबंधों का विश्लेषण अति महत्वपूर्ण कारक है। इसका कारण देसाई बताते हैं, 'इनसे उत्पादन के उद्देश्य, प्रकृति, नियंत्रण, दिशा और प्रत्यक्षवादी आकार मिलता है। इसके आधार पर ही यह भी तय किया जा सकता है कि किसे किस आधार पर कितना अधिकार मिल सकता है।' (*ibid*. pp.13)

देसाई यह भी मानते हैं कि मार्क्सवाद को लेकर विद्वानों और छात्रों में पूर्वाग्रह, पक्षपाती रवैया रहता है। वह स्पष्ट करते हैं कि मार्क्सवाद दरअसल सिर्फ अर्थव्यवस्था आधारित सिद्धांत नहीं है, जैसा कि आमतौर पर इसे समझा जाता है। देसाई बताते हैं कि सामान्यतः यही माना जाता है कि मार्क्सवाद मानव जीवन के हर पहलू को आर्थिक कारकों के आधार पर ही निश्चित करता है, लेकिन असल में यह धर्म, समाज और

राजनीति जैसे पहलुओं को किसी भी रूप में आर्थिक आधार पर देखने का सुझाव नहीं देता है। हालांकि, यह मानव समुदाय के अस्तित्व और पुनर्गठन के लिए आर्थिक गतिविधियों के महत्व पर जोर जरूर देता है। यह आर्थिक और अन्य अन–आर्थिक गतिविधियों के बीच अंतरसंबंधों की खोज करने का प्रयास करता है। देसाई कहते हैं कि मानव समुदाय अस्तित्व और जातियों के उत्पादन के लिए आर्थिक गतिविधियों का अनुसरण करते हुए अपने पर्यावास और भौतिक वातावरण में बदलाव कर उत्पादन संबंधों में प्रवेश करता है। इसलिए समाज की स्थिति, परिस्थिति और परिवर्तनों को समझने के लिए आर्थिक गतिविधियों को मूल अक्ष के तौर पर देखने की आवश्यकता है। इसलिए मार्क्सवाद को अध्ययन के सिद्धांतों से किसी अन्य अनुभवहीन सिद्धांत से बदला या कमतर नहीं किया जा सकता। (*ibid*.)

8.3.2: देसाई के मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अहम पहलू (Crucial Aspects of Desai's Marxist Approach)

1. **समग्र एवं सन्दर्भ निर्दिष्टः** देसाई बताते हैं कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण अकादमिक सीमाओं से बद्ध नहीं है। यह समाज और सामाजिक परिवर्तनों को समग्र दृष्टि से देखता है और इस दौरान यह स्वयं को किसी सिद्धांत तक सीमित नहीं रखता है। यह सामाजिक पहलुओं को उनके मूल से अलग नहीं करता, बल्कि स्वायत्त रूप से हर पहलू का अध्ययन करता है। मार्क्सवाद इन पहलुओं का पूर्ण सन्दर्भ में इस बात को ध्यान में रखते हुए अध्ययन करता है कि वे किस तरह गढ़े गए हैं और किसी विशेष सामाजिक व्यवस्था में किस तरह जुड़े हुए हैं। इस प्रकार से सामाजिक व्यवस्था का संपूर्ण विश्लेषण संभव हो पाता है। (1981:14)

2. **ऐतिहासिकः** मार्क्सवादी दृष्टिकोण इस बात पर जोर देता है कि किसी समाज का अध्ययन स्थैतिक ढांचे के बजाय ऐतिहासिक परिवर्तनवादी व्यवस्था के तौर पर किया जाना चाहिए। किसी सामाजिक व्यवस्था में ऐसे विरोधाभासी बलों का समावेश होता है जो या तो व्यवस्था को अस्तित्वमान बनाए रखने के लिए परिवर्तनशील रहते हैं या फिर इसे नष्ट करने के लिए जोर लगाते हैं। इस प्रकार कोई समाज उभरते हुए, विकासशील, उत्तरवर्ती झुकाव की ओर बढ़ते हुए नजर आता है जो अंततः एक नये और उच्च सामाजिक व्यवस्था से जुड़ जाता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण के माध्यम से मार्क्सवाद समाज के उन दोनों कारकों को चिह्नित करने पर बल देता है जो संरक्षण का कारण बने और जिनकी वजह से परिवर्तन हुआ। यह विकासवादी और परिवर्तनकारी पहलुओं को ऐतिहासिक आधार पर तय करता है। देसाई बताते हैं कि आधुनिक समाजशास्त्र से इतर मार्क्सवाद संपत्ति संबंधों को केंद्रीय महत्व देता है। (1981) इसका तात्पर्य भौतिक जीवन के उत्पादन के तरीकों से है, जो मार्क्सवादी दृष्टिकोण की बुनियादी श्रेणी है। (*ibid*:15) उदाहरण के लिए देसाई ने अपनी पुस्तक *Social background of Indian Nationalism* (1948) में परिवर्तन को स्पष्ट करने के लिए एक सदी से अधिक काल में आए बदलावों का अध्ययन किया है। देसाई ने भारतीय समाज में सामंतवाद से लेकर पूंजीवाद तक व्यवस्था में आए परिवर्तनों को स्पष्ट करने के साथ वर्ग और राष्ट्र के बीच उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद के सन्दर्भ में अंतरसंबंधों को भी उजागर किया है। उन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के कारण हुए बदलावों और इनके चलते वर्गीय ढांचे, वर्गों के अंतरसंबंधों और इन सबके बीच उत्पादन व्यवस्था के पूंजीवादी विकास का अध्ययन किया है।

3. **मूल्य निरपेक्षता का विरोधः** देसाई के दौर में समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानव विज्ञान का अध्ययन ऐसे वैज्ञानिक तरीकों पर आधारित था, जिसमें ढांचागत तरीके को मूल पहलू माना जाता था। समाज के वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन का अर्थ था कि तथ्यों को मूल्य (Values) रहित होना जरूरी था। हालांकि, देसाई ऐसे तरीके के विरोधी थे जो सिद्धांत और व्यवहार व तथ्य और मूल्य को अलग करते हों। मार्क्स की तरह देसाई भी मानते थे कि तथ्य और मूल्य संयुक्त हैं और इन्हें विभक्त नहीं किया जा सकता। देसाई बताते हैं कि मार्क्सवाद की बुनियाद ही मूल्याधारित है। मार्क्सवाद के ज्ञान हासिल करने का मकसद स्वलाभ नहीं है, बल्कि सामाजिक परिवर्तन है। देसाई के अनुसार दर्शन और राजनीतिक विचारधारा के रूप में मार्क्सवाद सामाजिक शोषण के विरुद्ध संघर्ष का तरीका और पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था को नष्ट कर साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना का जरिया है।

8.4: भारत में ब्रिटिश शासन और राष्ट्रवाद (The British Rule and Nationalism in India)

इकाई के पूर्ववर्ती भाग में हमने देसाई के मार्क्सवादी दृष्टिकोण के मुख्य पहलुओं को जाना है। इस हिस्से में हम जानेंगे कि देसाई ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन में इस दृष्टिकोण का किस तरह इस्तेमाल किया। भारतीय राष्ट्रवाद, विकास कार्यक्रमों, राज्य एवं समाज, कृषक आंदोलनों आदि विषयों पर अध्ययन के दौरान देसाई ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण का प्रयोग किया। हालांकि, इस इकाई में हम देसाई की पुस्तक *Social Background and Indian Nationalism* (1948) को उदाहरणस्वरूप लेंगे। इस पुस्तक में देसाई ने ब्रिटिश शासन और भारतीय समाज पर इसके असर का मार्क्सवादी विश्लेषण किया है। इस पूरे अध्ययन में देसाई ने पूर्व ब्रिटिशकाल से लेकर भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन तक के काल का अध्ययन किया है। उन्होंने ब्रिटिश नीतियों, संपत्ति संबंधों और पूंजीवादी वर्ग ढांचे के विकास का परीक्षण अपने विश्लेषण में किया है। देसाई के अनुसार ब्रिटिश सत्ता ने राजनीतिक और आर्थिक नीतियों के जरिये भारतीय सामंतवादी व्यवस्था को पूंजीवादी अर्थव्यवस्था (जिसमें सामंती अवशेष भी बाकी थे) में बदला। भारत ब्रिटेन की ब्रिटिश कॉलोनी थी जो मूलतः ब्रिटिश पूंजीवादी व्यवस्था की जरूरतों और रुचियों के हिसाब से ही काम करती थी। देसाई के अध्ययन में भारतीय अर्थव्यवस्था में निम्नवत परिवर्तन आते गएः

8.4.1: पूर्व ब्रिटिशकालीन सामाजिक–आर्थिक स्थिति (Socio-Economic Conditions in Pre-British India)

ब्रिटिशकाल से पूर्व भारतीय पारंपरिक अर्थव्यस्था सामंतवादी थी और कुछेक नगरीय केंद्रों को छोड़कर इसका मूल ग्रामीण आर्थिकी पर निर्भर था। ग्रामीण आर्थिकी मुख्यतः स्थानीय, स्थिर और स्वयं के लिए पर्याप्त थी। यह मूलतः हल, बैलगाड़ी जैसी साधारण तकनीकों से होने वाली कृषि पर आधारित थी। यह ग्रामीण समुदाय किसानों, बलूटेदारों (सुनार, कुम्हार, बढ़ई, बुनकर समेत विभिन्न कार्यों के आधार पर विभाजित वर्ग) और अस्पृश्यों से मिलकर बनता था। कृषि उत्पादन का काम किसान किया करते थे, जो उत्पादन का कुछ हिस्सा जमींदार को देते थे, शेष का स्थानीय स्तर पर ही उपभोग किया जाता था। बलूटेदार समुदाय की विभिन्न जरूरतों के हिसाब से अपना काम किया करते थे। अस्पृश्य सेवकों–दासों की तरह और निम्नतर काम जैसे साफ–सफाई आदि किया करते थे। इस प्रकार ग्रामीण अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि आधारित थी और इस व्यवस्था में स्थानीय संसाधनों से मिलने वाला पूरा उत्पादन स्थानीय स्तर पर ही उपयोग–उपभोग कर लिया जाता था। बाजार की अवधारणा इस व्यवस्था में नहीं थी और परिवहन के बेहद कमजोर साधनों के चलते दूसरे स्थानों तक विनिमय के भी बेहद सीमित मौके उपलब्ध थे।

8.4.2: भारत पर ब्रिटिश विजय (The British Conquest of India)

यद्यपि ब्रिटिश विजय से पूर्व भारत पर कई बार बाहरी आक्रमण हो चुके थे, लेकिन इनके कारण भारत की सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था पर अधिक असर नहीं हुआ था। पिछले आक्रमणों में से अधिकतर राजनीतिक थे, जिनके परिणामस्वरूप राजा बदले जाते थे। विदेशी आक्रमणों, युद्धों आदि के बावजूद भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था सदियों तक अपरिवर्तनीय बनी रही। इस संबंध में देसाई लिखते हैं, 'भव्य और विध्वंसकारी रहे ये घटनाक्रम भारत के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, वैचारिक ढांचे पर तो असर डालने की वजह बने, लेकिन भारतीय अर्थव्यवस्था के आधार को प्रभावित नहीं कर सके।' दूसरे शब्दों में उन्होंने उत्पादन के तरीकों पर असर नहीं डाला, जिससे वे सामंती व्यवस्था का ही हिस्सा बने रहे। देसाई मानते थे कि पूंजीवादी देश सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों के लिहाज से सामंती व्यवस्थाओं से अधिक विकसित थे। इसकी वजह यह थी कि पूंजीवादी देशों में सामाजिक–आर्थिक ढांचा संयुक्त था, जबकि सामंतवादी व्यवस्थाओं में इनके बीच ऐक्य नहीं था। (*ibid.*:26). भारत में सामाजिक व्यवस्था का विकास एशियाई मूल से सामंतवादी व्यवस्था, पूंजीवाद और अंततः समाजवाद–साम्यवाद तक की यात्रा में हुआ। चूंकि, ब्रिटिश पूंजीवादी राष्ट्र तत्कालीन भारतीय सामंतवादी व्यवस्था से आगे था, लिहाजा उसने यहां आसानी से विजय हासिल कर ली। दूसरे शब्दों में कहें तो भारत पर ब्रिटिश शासन की जीत एक सामंतवादी देश पर पूंजीवादी देश की जीत थी। ऐसे में ब्रिटिश व्यवस्था ने अपने शासनकाल में भारत की सामंतवादी अर्थव्यवस्था को धीरे–धीरे पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में बदल दिया और इस क्रम में नये आर्थिक सुधारों को सामने रखते हुए पुराने आर्थिक ढांचे को इसने नष्ट कर दिया।

8.4.3: ब्रिटिश शासन में सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन (Social and Economic Transformation under British Rule)

ब्रिटिश शाासन के आगमन के साथ भारत की आर्थिक व्यवस्था पूरी तरह समाप्त हो गई और ऐसा नया आर्थिक व्यवस्था का ढांचा स्थापित हुआ, जिसने सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों में भी परिवर्तन किया। इसकी शुरुआत ग्रामीण समाज और कृषि व्यवस्था में बदलाव से हुई। ब्रिटिशकाल में नये भू–राजस्व नियम लागू किए गए और भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व की नयी व्यवस्था सामने आई। इस व्यवस्था ने ग्रामीण जमीनों पर ग्राम्य समाज के पारंपरिक अधिकार को समाप्त किया और जमींदारों, निजी किसानों के रूप में स्वामित्व के नये रूप उभारे। जमीनों पर निजी मालिकाना अधिकार से व्यक्तिगत भू–मूल्यांकन और राजस्व भुगतान की व्यवस्था बनी। पुरानी व्यवस्था में मूल्यांकन के लिए गांव को एक इकाई माना जाता था और राजस्व भुगतान सामूहिक रूप से देय होता था। देसाई लिखते हैं कि नयी व्यवस्था से ग्राम्य अर्थव्यवस्था का व्यापारीकरण हुआ, क्योंकि किसान राजस्व (लगान) चुकाने के लिए अपने उत्पादों को बाजार में बेचने लगे। किसानों से पारंपरिक खेती के बजाय कपास, जूट, गेहूं, गन्ना और तैलीय बीजों जैसे बाजार मूल्य वाली फसलों का उत्पादन शुरू किया। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश शासन ने भारत में उन फसलों की खेती को बढ़ावा देने का प्रयास किया जो इंग्लैंड के आधुनिक उद्योगों के लिए उपयोगी थीं। इन सभी नये परिवर्तनों से परिवहन और संचार के नये साधनों का भी विकास हुआ।

देसाई बताते हैं कि भारतीय कृषि की पुरानी व्यवस्था के नष्ट होने से किसानों में निर्धनता, आत्मनिर्भरता और गांवों में निरंकुश शासन व्यवस्था निरंतर बढ़ती गई, जिसका कारण जमींदारी व्यवस्था का उभरना और खेती का व्यवसायीकरण था। आगे चलकर हस्तशिल्प और ग्रामीण कारीगरों के कामकाज में गिरावट

भी आती गई। ब्रिटिश ने जानबूझकर भारतीय उद्योगों को नष्ट किया और भारतीय बाजार में विदेशी सामान की बिक्री को प्रोत्साहन दिया। देसाई के अनुसार भारतीय हस्तशिल्प और कारीगरी को नुकसान के ये प्रमुख कारण थे– 1. भारत से कच्चे माल को विदेशी उद्योगों के लिए निर्यात किया जाना 2. भारतीय विदेश व्यापार व्यवस्था पर ब्रिटिश कब्जा 3. भारतीय पारंपरिक उद्योगों पर तमाम प्रतिबंध 4. इंग्लैंड में मशीनों की मदद से बने अपेक्षाकृत सस्ते सामान को भारतीय बाजारों में बेचना। इन सभी परिवर्तनों ने भारत में नये सामाजिक संबंधों, ढांचों और संस्थागत बदलावों को जन्म दिया। नये नियम और कानून लागू किए गए। पंचायतीराज व्यवस्था का स्थान काफी हद तक नये भारतीय न्यायालयों की कानूनी व्यवस्था ने ले लिया। इस प्रकार ब्रिटिश सत्ता ने भारतीय समाज पर पूर्ण नियंत्रण कर लिया और अपने लाभ के अनुसार यहां शासन किया। (1948, *pp.*70-92).

8.4.4: आधुनिक शिक्षा, परिवहन और संचार के नये साधनों का उद्भव एवं विकास (Rise and Development of Modern Education and New Means of Transport and Communication)

सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों में बदलाव के साथ ब्रिटिश शासन ने नयी तकनीकों को भी लागू किया, जिन्होंने भारतीय समाज में बदलाव को बढ़ावा दिया। ब्रिटिश उद्योगों की जरूरतों ने भारत में ब्रिटिश शासन के लिए परिवहन और संचार के नये साधनों के विकास को जरूरी बना दिया। गांवों, शहरों और जिलों को एक राजनीतिक–प्रशासनिक इकाई के अंतर्गत रखने के मकसद से ब्रिटिश शासन ने भारत सड़कों, रेलमार्गों, डाक–टेलीग्राफ व्यवस्था को विकसित किया। इन सभी व्यवस्थाओं के विकास के पीछे सैन्य और आर्थिक कारण भी थे। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश शासन की मदद से ईसाई मिशनरियों ने भारत में आधुनिक शिक्षा व्यवस्था का प्रसार किया। ब्रिटिश सरकार ने स्कूलों–कॉलेजों की स्थापना की, जहां राजनीतिक–प्रशासनिक जरूरतों के हिसाब से ब्रिटिश शासन की मदद के लिए आवश्यक आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा दी जाती थी। इन संस्थानों से शिक्षित भारतीय नये आधुनिक देश में लिपिक, वकील, डॉक्टर की तरह काम कर सकते थे और इस तरह वे प्रशासन व्यवस्था के हिस्सा बन पाते। (Desai 1948).

8.4.5: नये सामाजिक वर्गों का विकास (Rise of New Social Classes)

इन सभी सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक और तकनीकी परिवर्तनों ने भारतीय समाज को व्यापक रूपांतरण दिया, जिसे देसाई भारतीय समाज का पूंजीवादी आर्थिक रूपांतरण कहते हैं। इन बदलावों ने भारतीय लोगों को नये सामाजिक समूहों और वर्गों से जोड़ा। कृषिप्रधान क्षेत्रों में भारतीय कृषि व्यवस्था की समाप्ति, खेती के व्यावसायीकरण, जमींदारी व्यवस्था ने इन नये वर्गों को विकसित किया– 1. जमींदार 2. किसान और कृषि श्रमिक 3. व्यापारी एवं साहूकार। शहरी क्षेत्रों में आधुनिक शिक्षा के विकास, व्यापार के विस्तार, वाणिज्यिक और औद्योगिक नीतियों व बैंकिंग की स्थापनाओं से ये नये वर्ग विकसित हुए 1. शिक्षक, डॉक्टर एवं वकीलों जैसे व्यावसायिक लोग 2. व्यापारिक एवं वित्तीय पूंजीपति 3. छोटे व्यापारी एवं दुकानदार 4. आधुनिक कामगार (Desai 1948, pp. 163,164)

8.4.6: भारतीय राष्ट्रवाद का विकास (Rise of Indian Nationalism)

आधुनिक शिक्षा, पत्रकारिता की भूमिका, परिवहन–संचार के नये साधनों के बूते आए बदलावों ने लोगों को ब्रिटिश शोषण के प्रति जागरूक किया और भारतीय लोग इसके विरोध में एकजुट होने लगे। जनता को जागरूक करने के लिए ब्रिटिश शासनकाल में कई सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन हुए। आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था से निकले नवबुद्धिजीवियों और राजनेताओं ने राष्ट्रीय भावनाओं को लेकर लोगों को जगाना शुरू किया जिसने लोगों को स्वतंत्रता के लिए राष्ट्रीय संघर्ष करने को प्रेरित किया। देसाई भारत में

राष्ट्रवाद की भावना को पांच प्रमुख अवधियों के चरणों में बांटते हैं– 1. प्रथम चरण (1885 तक), जिसमें सामाजिक सुधारों को लेकर पहल शुरू हुई। इस दौर में राजा राममोहन रॉय ने कई सामाजिक–धार्मिक सुधार आंदोलनों की अगुवाई की। 2. दूसरा चरण (1885से 1905 तक) उन नरमपंथियों का था, जिन्हें सरकार की नीतियों पर विश्वास था 3. तीसरा चरण (1905 से 1918 तक) चरमपंथियों का था, यह दौर विशेष चुनौतीपूर्ण एवं उग्र रहा। 4. चौथा चरण (1918 से 1934 तक) महत्वपूर्ण था, क्योंकि इस दौर में आमजन राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े और आंदोलन को व्यापक विस्तार मिला। 5. पांचवां और अंतिम चरण (1934–1939) इस अवधि में राष्ट्रवादी आंदोलन को तीव्र गति मिली और आमजन के साथ मिलकर देश में लोकतांत्रिक आंदोलन हुए। (Desai 1948, pp 408-417).

8.5: किसान संघर्ष एवं ग्रामीण परिवर्तन (Peasant Strggle and Rural Transition)

अपनी पुस्तक *Peasant Struggles in India* (1979) में देसाई ने औपनिवेशिक काल में देश के विभिन्न भागों में हुए किसान आंदोलनों पर उपलब्ध विविध शोधकार्यों के संग्रहीकरण के अलावा ऐतिहासिक क्रम से इनके अध्ययन के जरिये भारत में कृषक आंदोलनों की व्यापक रूपरेखा प्रस्तुत की है। देसाई ने पाया कि यह अध्ययन दमनकारी, शोषक नीतियों को समझने और इनके विरोध में जनजातियों, किसान आंदोलनों के आंदोलन की जानकारी लेकर इन्हें नये स्वरूप में संगठित करने और रणनीति तैयार करने में मदद करता है, ताकि इसके आधार पर व्यापक संघर्ष को विकसित कर सामाजिक–आर्थिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन कर इसके स्थान पर गैरपूंजीवादी, सामाजिक ढांचे की स्थापना करे। (ibid. xiv). इस प्रकार देसाई विश्व सामाजिक व्यवस्था में चल रहे परिवर्तनकारी दौर और स्थानीय किसान संघर्ष के बीच संबंध स्थापित करते हैं।

किसान आंदोलनों के अलावा देसाई (1961) ग्रामीण परिवर्तन का भी जिक्र करते हैं, जो भूमि सुधार कानूनों और अन्य नीतियों की वजह से सामने आए। वह तर्क देते हैं कि भूमिसुधार उपयोगी तो था, लेकिन इसका असर बेहद सीमित रहा। इसके परिणामस्वरूप अमीर किसान वर्ग और विकसित होते गए, जबकि खेती पर आधारित मूल निर्धन वर्ग की जीवनशैली में कोई बदलाव नहीं आया। खेतों में हल चलाने वाले असल लोगों को जमीन मिल ही नहीं सकी। कृषि नीति ने अमीर किसान, कृषि पूंजीपतियों, बिचौलियों के नये वर्गों का विकास किया, जो सामाजिक और आर्थिक तौर आगे चलकर और मजबूत बनते गए। इसी प्रकार देसाई ने पाया कि शहरी भारत में उच्च वर्ग विकसित हुए जो मूल समाज से अलग और तकनीक–शिक्षा, जीवनशैली के लिहाज से परिष्कृत थे। इन लोगों में पूंजीवाद और सामंतवाद की मान्यता बढ़ी। उपनिवेशवाद, पूंजीवाद और आधुनिक भारतीय शासन ने ऐसे सत्तासीन वर्ग को विकसित किया जिसमें सामंतवादी व्यवस्था के अवशेष थे और इनके साथ ही यह वर्ग निजी लाभ के लिए पूंजीवादी व्यवस्था का भी अनुसरण करता था। इस प्रकार सत्ता व्यवस्था के कारण ग्रामीण रूपांतरण से ये बदलाव सामने आए– 1. विभिन्न वर्गों के बीच मतभेदों में तीखापन बढ़ता गया, जिससे तनाव, अंतर्विरोध और संघर्ष की भावनाएं बढ़ीं 2. ग्राम्य समाज में अमीर वर्ग शक्तिशाली होते गए। (Patel 2007)

8.6: विकासशील समाजों का आधुनिकीकरण एवं विकास (Modernization and Development of Underdeveloped Societies)

देसाई ने न सिर्फ भारत में वर्ग विभाजन, राज्य और समाज व्यवस्थाओं का अध्ययन किया, बल्कि विकसित और विकासशील देशों में शक्ति की स्थिति और गतिशीलता पर भी बारीकी से जानकारियां जुटाईं। उनका लेखन न केवल भारतीय समाज की तस्वीर सामने रखता है, बल्कि वैश्विक सामाजिक–आर्थिक परिदृश्य के लिहाज से इसकी अवधारणा को स्पष्ट करता है। इस प्रकार राष्ट्रवाद, उपनिवेशवाद, पूंजीवाद के साथ वह आधुनिकीकरण और विकास की प्रक्रियाओं का भी परीक्षण करते हैं, जो नवगठित देशों के लिए अनिवार्य बन गई हैं। बीसवीं सदी के .दौर में कई औपनिवेशिक देश स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत थे। इनके परिणामस्वरूप विश्व में एक साथ कई स्वतंत्र राष्ट्र उभरकर सामने आए। इन देशों को 'तीसरी दुनिया' के नाम से जाना गया, जो विकासशील देश माने जाते हैं। इसका अर्थ यह कि ये देश आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों को इस तरह विकसित करने के लिये प्रयासरत हैं कि वे निर्धनता और पिछड़ेपन से पार पा सकें। इस लक्ष्य को हासिल करने के लिये वे विभिन्न नये मानकों और नीतियों को अपनाते हैं।

भारत को 1947 में तब स्वतंत्रता मिली, जब द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त ही हुआ था। द्वितीय विश्वयुद्ध के समाप्त होते ही विश्व शीतयुद्ध (Cold War) का साक्षी बना। यह शीतयुद्ध दुनिया के दो अहम हिस्सों में बंटने की वजह बना– 1. पूंजीवादी हिस्सा, जिसका नेतृत्व अमेरिका के हाथ में था 2. समाजवादी हिस्सा, जिसकी कमान सोवियत यूनियन संभाले हुए था। नयी स्वतंत्रता हासिल करने वाले देशों के लिए इन दोनों विरोधी पक्षों में से किसी एक को अपनी विकास नीतियों और मानकों के हिसाब से चुनने की बाध्यता बन गई। देसाई (1975) ने इस प्रवृत्ति को बारीकी से समझा और स्पष्ट किया। उन्होंने बताया कि नवगठित देशों के समक्ष सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह था कि वे पूंजीवाद को चुनें या साम्यवाद को। देसाई ने पाया कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया स्वयं भी इस प्रवृत्ति को बढ़ा रही थी। वह लिखते हैं:

'आधुनिकीकरण की पूंजीवादी धारणा निजी संपत्ति की धुरी पर रहती है, जिसके जरिये उत्पादन को नियंत्रित किया जाता है, जबकि पूरी प्रक्रिया को बल देने वाला मूल पूंजीवाद पर आधारित होता है। गैरपूंजीवादी प्रक्रिया में सार्वजनिक स्वामित्व उत्पादन का मूलबिन्दु है, जिसमें पूंजीवादी और भूस्वामी वर्ग गति प्रदान करने वाले कारक बनते हैं।' (*ibid*. pp 33-34).

देसाई आगे बताते हैं कि यद्यपि दोनों में ऊपरी तौर पर कुछ समानताएं दिखती हैं, लेकिन दोनों में काफी अंतर हैं। समानताओं की बात करें तो सामाजिक गतिशीलता, विद्युत और आणविक ऊर्जा की मदद से बड़े पैमाने पर उत्पादन, औद्योगीकरण, नगरीकरण, कानून की सर्वोच्चता, वैज्ञानिक ज्ञान को महत्व और मजबूत शिक्षा व्यवस्था के पक्ष सामने आते हैं। पूंजीवादी मार्ग निजी उद्यमशीलता को बढ़ावा देता है, जिसका मकसद लाभ हासिल करना होता है। इससे इस प्रक्रिया में समाज का विभाजन स्वामित्व और अस्वामित्व के वर्गों के रूप में सामने आता है। वहीं, आधुनिकीकरण का समाजवादी मार्ग सार्वजनिक स्वामित्व पर आधारित होता है। इससे यहां उत्पादन आवश्यकताओं पर आधारित होता है, यह सार्वजनिक स्वामित्व के आधार पर समाज को अलग–अलग तहों में बांटता है, संपत्ति और पूंजीवादी वर्ग का कामगार वर्ग में बदलाव होता है। देसाई ने पाया कि स्वतंत्रता के बाद भारत ने देश के विकास के लिए पूंजीवादी और समाजवादी दोनों ही पक्षों से संयोजन किया। भारत ने कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की अवधारणा पर आधारित मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया।

देसाई (1975) और उनके दौर के अन्य मार्क्सवादी विद्वान मानते हैं कि नव विकासशील देश, जिन्होंने विकास के लिए पूंजीवादी मार्ग अपनाया वे राजनीतिक रूप से स्वतंत्र तो हैं, लेकिन सांस्कृतिक और वैचारिक रूप से संबंधित अवधारणा को बढ़ावा देने वाले देश पर निर्भर रहते हैं। इसकी वजह यह है कि विकसित देश अपनी विकास नीतियों और मानकों के आधार पर खुद से संबद्ध विकासशील देशों को

प्रभावित करते हैं। ये विद्वान मानते हैं कि सहायता (Aid), सहयोग (Assistance) और समर्थन (Support) के नाम पर विकसित देश विकासशील देशों में लूट (Pillage) और शोषण (Exploitattion) का नया सूक्ष्म, लेकिन विस्तृत तंत्र विकसित करते हैं। देसाई (1975) आलोचनात्मक रूप से इस पूरी प्रक्रिया का विश्लेषण करते हैं। वह आधुनिकीकरण और विकास को उपनिवेशवाद और नव–उपनिवेशवाद के तौर पर देखते हैं। वह बताते हैं कि पूंजीवादी, साम्राज्यवादी देशों के नेतृत्व में चली उपनिवेशवाद की प्रक्रिया ने ही तीसरी दुनिया के देशों को अविकसित या विकासशील बने रहने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। दूसरे शब्दों में साम्राज्यवादी देशों के विकास की असल वजह औपनिवेशिक देशों की निर्धनता और पिछड़ापन ही था। इस तरह वह तीसरी दुनिया के देशों की अधीनता और दरिद्रता और वैश्विक पूंजीवादी व्यवस्था की उन्नति का संबंध स्थापित करते हैं। (*ibid.*, pp.3-18).

8.7: निष्कर्ष (Conclusion)

देसाई प्रख्यात मार्क्सवादी विद्वान थे जिन्होंने भारतीय सामाजिक अध्ययन के तरीकों को प्रभावित किया। इस इकाई के अध्ययन से हमने पाया कि वह उन चंद मार्क्सवादी शोधकर्ताओं में शामिल थे, जिन्होंने भारतीय समाज के अध्ययन के पारंपरिक तरीकों को चुनौती दी। भारत में ब्रिटिश शासनकाल और इसके सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक एवं तकनीकी परिवर्तनों, नये सामाजिक वर्गों के विकास और भारतीय राष्ट्रवाद पर देसाई के अध्ययन को आज भी भारतीय इतिहास और समाज के समाजशास्त्रीय अध्ययन–शोध के लिए प्रतिमान माना जाता है। हम पाते हैं कि भारतीय स्वतंत्रता के बाद भी देसाई ने भारत के विकास में भारतीय राज्य की भूमिका पर समालोचनात्मक अऔर व्यापक लेखन किया है। उन्होंने भारत में राज्य व्यवस्था, वर्ग ढांचों के उभार, उत्पादन के पूंजीवादी तरीकों का भी विश्लेषण किया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पूंजीवाद, उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, ये वो तीन धुरियां थीं, जिनके इर्द–गिर्द देसाई का पूरा कार्य संपन्न हुआ है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि वर्ष 1960 और उसके बाद देसाई के शोधकार्यों, लेखन के प्रकाशन से भारतीय समाजशास्त्रीय अध्ययन में मार्क्सवादी दृष्टिकोण को बल मिला। उत्पादन और इसके तरीकों को लेकर यह दृष्टिकोण भारत के इतिहासकारों, अर्थशास्त्रियों व समाजशास्त्रियों के मध्य विमर्श का जरिया बन गया। इनमें बिपिन चंद्र, उत्स पटनायक, कैथलीन गोह, गेल ऑम्वेड आदि रहे।

8.8: शब्दावली (Glossary)

1. **अनुभववाद (Empiricism):** का अर्थ उस ज्ञान से है, जिसे निरीक्षण–बोध के आधार पर दृष्टिकोण से प्राप्त किया गया हो। इस तरह किए जाने वाले शोध का तात्पर्य उस शोध से है जिसमें निरीक्षण–परीक्षण, प्रयोग, फील्डवर्क, गुणवत्तात्मक और मात्रात्मक अध्ययन से मिलने वाले तथ्यों, आंकड़ों को आधार बनाया गया हो। अनुभववाद का उभार मान्यता और अटकलों के आधार पर किए जाने वाले शोध के विरोधस्वरूप हुआ।

2. **उत्पादन प्रणाली (Mode of Production):** का तात्पर्य जीवन के लिए आवश्यक भोजन, वस्त्र, आवास और अन्य के उत्पादन की प्रक्रिया से है। इससे उत्पादन के तरीकों–संबंधों को नियंत्रित किया जा सकता है।

3. **उत्पादन शक्ति (Forces of Production)**: यह उन आवश्यक कारकों का समूह है जो उत्पादन के लिए आवश्यक हैं। उदाहरण के लिए भूमि और कच्चा माल (प्राकृतिक संसाधन), श्रम (मानवीय संसाधन) और पूंजी (मानवनिर्मित संसाधन) वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन के लिए जरूरी हैं।

4. **उत्पादन संबंध (Relation of Production)**: जीवन निर्वाह के लिए उत्पादन की प्रक्रिया में मनुष्य उत्पादन के एक निश्चित संबंध से जुड़ जाता है, जिसके चलते लोगों के बीच सामाजिक संबंध स्थापित होते जाते हैं।

उदाहरण– पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में कच्चा माल, औद्योगिक श्रमिक और मशीनरी उत्पादन शक्ति की तरह काम करते हैं, जबकि पूंजीपति, छोटे पूंजीपति और श्रमजीवी वर्गों के बीच उत्पादन संबंध विकसित होते हैं। उत्पादन शक्तियों और संबंधों के बीच उत्पन्न होने वाले अंतर्विरोध परिवर्तन और सामाजिक क्रांति के माध्यम बनते हैं। यह तब होता है, जब विकास की प्रक्रिया में किसी विशेष स्थिति में उत्पादन शक्ति और संबंधों के बीच विरोध बढ़ने लगे और इसके चलते उत्पादन प्रणाली में बदलाव की आवश्यकता महसूस हो।

8.9: सन्दर्भ (References)

Desai, A. R.(1948),*Social Background of Indian Nationalism,* Popular Prakashan, Mumbai. (Sixth Edition, 2000)

Desai, A. R. (1961), *Rural India in transition*, Popular Prakashan, Bombay.

Desai, A. R. (1975), *State and Society in India: Essays in Dissent*, Popular Prakashan, Bombay.

Desai, A.R. (ed.) (1979), *Peasant Struggles in India*, Oxford University Press, New Delhi.

Desai, A. R. (1981), "Relevance of the Marxist Approach to the Study of Indian Society", *Sociological Bulletin*, Vol. 30, No. 1, pp.1-20.

Munshi, I. and Denzil, S. (1994), "Remembering A R Desai", *Economic and Political Weekly*, Vol. 29, No. 49, pp. 3069-3070.

Patel, S. (2007), "Towards a Praxiological Understanding of Indian Society: The Sociology of A. R. Desai" in Uberoi, P. Sundar, N. and Deshpande, S. (eds.) *Anthropology in the East: Founders of Indian Sociology and Anthropology*. Permanent Black Swan. pp.417-443.

Raman, V. (2013), "The Marxist Sociology of A. R. Desai and the Bombay School: A Tribute and a Discussion", *Sociological Bulletin*, pp.254-268.

Savur, M and Munshi, I. (eds.) 1995. *Contradictions in Indian society : Essays in honour of Professor A.R. Desai*. Rawat Publications.

इकाई 9

रामकृष्ण मुखर्जी (Ramkrishna Mukherjee)

9.1: उद्देश्य
9.2: परिचय
9.2.1: जीवन परिचय
9.2.2: योगदान एवं महत्वपूर्ण कार्य
9.3: दृष्टिकोण एवं सिद्धांत
9.3.1: समाज क्या है
9.3.2: समाज का विज्ञानीकरण
9.4: सामाजिक शोध के प्रकार
9.4.1: विवरणात्मक शोध
9.4.2: व्याख्यात्मक शोध
9.4.3: परीक्षणात्मक या नैदानिक शोध
9.5: सामाजिक परिवर्तन एवं विकास
9.6: निष्कर्ष
9.7: सन्दर्भ

9.1: उद्देश्य (Objectives)

- रामकृष्ण मुखर्जी के कार्यों और उल्लेखनीय योगदानों का अध्ययन करना
- समाज के अध्ययन के लिये रामकृष्ण मुखर्जी द्वारा अपनाये गये दृष्टिकोण और सिद्धांतों की जानकारी और अध्ययन
- शोधकार्य के नियमन के लिये आवश्यक कदमों की जानकारी और इन्हें सीखने का प्रयास

9.2: परिचय (Introduction)

रामकृष्ण मुखर्जी भारतीय सांख्यिकीय संस्थान (Indian Statistical Institute) कलकत्ता के प्रतिष्ठित वैज्ञानिक थे, जिन्होंने 20वीं सदी में भारत के सामाजिक शोधकार्यों में उल्लेखनीय योगदान किया। शोधकार्यों को लेकर उनकी अभिरुचि की शृंखला बेहद विस्तृत थी, जिसमें कृषि और भूमि संबंधों, इनके अंतर्द्वंद्व, बंगाल के अकाल, परिवार और रिश्तेदारी, सामाजिक उन्नति, विकास और गतिशीलता, जीवन की गुणवत्ता तथा सामाजिक मानक आदि पहलू शामिल थे। एक सांख्यिकीविद होने के कारण उन्होंने भारतीय समाज के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन के लिये सांख्यिकीय सिद्धांतों का इस्तेमाल किया। उन्होंने विस्तृत अंकीय और परिमाण संबंधी आंकड़ों के जरिये विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं और इनके माध्यम से भारतीय समाज में आ रहे बदलावों को स्पष्ट किया। वस्तुतः भारतीय सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में उन्हें परिमाणात्मक सिद्धांत (Quantitative Method) का प्रणेता माना जाता है (Bhattacharya 2017). मुखर्जी एक मार्क्सवादी विद्वान थे, जिन्होंने सामाजिक विज्ञान के अध्ययन के लिये निगमन आधारित सिद्धांत (Inductive Methodology) का प्रतिपादन किया।

9.2.1: जीवन परिचय (Biographical Note)

रामकृष्ण मुखर्जी का जन्म पश्चिम बंगाल के एक समृद्ध ब्राह्मण, जमींदार परिवार में हुआ था। उनके पिता भारतीय रेलवे में इंजीनियर थे। अपने दौर के अन्य विद्वानों की तरह मुखर्जी कलकत्ता में ही पले–बढ़े। उनकी प्रारंभिक शिक्षा रिपन कॉलेजिएट स्कूल, मित्रा इंस्टीट्यूशन और प्रेसीडेंसी कॉलेज में हुयी। निर्मल कुमार बोस और डीपी मुखर्जी की ही तरह उच्च शिक्षा के लिये वह प्रकृति विज्ञान विषय चुनना चाहते थे, लेकिन नजर की कमजोरी इसमें बाधा बन गयी। उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से मानव विज्ञान में स्नातकोत्तर डिग्री हासिल की (Madan 2016; Munshi 2016). मात्र 22 वर्ष की आयु में वह बंगीय प्रांत किसान सभा (भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का बंगाल प्रांत का किसान संगठन) के सदस्य बन गये और वर्ष 1941 से 1945 तक कई किसान आंदोलनों में बेहद सक्रिय रूप से भाग लिया। इस अवधि में वह किसानों की हालत से गहराई से रूबरू हुये। इसी दौर में कार्ल मार्क्स और एंजेल को भी उन्होंने गहराई से पढ़ा और अपनी प्रख्यात पुस्तक Six Villages of Bengal के लिये आंकड़े जुटाये। आंदोलनों के दौरान उनकी बुद्धिजीविता, तार्किकता और विश्लेषणक्षमता ने कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव पीसी जोशी को प्रभावित किया। जोशी ने मुखर्जी को पीसी महालनोबिस से मिलवाया। महालनोबिस ने ही व्यक्तिगत रूप से मुखर्जी को सांख्यिकी की शिक्षा दी (Mukherji 2000). उन्होंने कलकत्ता में भारतीय सांख्यिकी संस्थान की स्थापना की और रामकृष्ण मुखर्जी पर उनका खासा असर रहा। 1944 में मुखर्जी भारतीय सांख्यिकी संस्थान से जुड़ गये और उन्होंने वहां सामाजिक शोध विभाग की स्थापना की। वर्ष 1946 में महालनोबिस की अनुशंसा पर मुखर्जी कैंब्रिज विश्वविद्यालय की एक शोध परियोजना से जुड़ गये। इसके तहत शोध टीम को सूडान और इजिप्ट में खुदाई से मिले कंकालों के शोध में महालनोबिस के सांख्यिकी सिद्धांतों का इस्तेमाल करना था। इस शोधकार्य के जरिये मुखर्जी को 1948 में डॉक्टरेट उपाधि मिली और इस शोधकार्य को उन्होंने वर्ष 1955 में **The Physical Characteristics of Ancient Inhabitants of Jebed Moya, Sudan** नाम से प्रकाशित करवाया। 1948–49 में मुखर्जी लंदन में महामहिम के सामाजिक सर्वे **(His Majesty's Social Survey)** के मुख्य शोध अधिकारी रहे। वह तुर्की सरकार के सलाहकार (1949), लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स के सलाहकार (1952) और 1953 से 57 तक हंबोल्ट यूनिवर्सिटी बर्लिन में भारतीय अध्ययन के अतिथि शिक्षक भी रहे। भारत सरकार के नेशनल सैंपल सर्वे ऑर्गेनाइजेशन में भी मुखर्जी ने निदेशक के तौर पर काम किया। वह प्रख्यात वैज्ञानिक और विख्यात विद्वान थे, जिनकी बुद्धिमत्ता ने अपने दौर में विश्वभर को लाभान्वित किया। बांग्लादेश, केन्या, सूडान, युगांडा, फ्रांस, जर्मनी, स्वीडन, यूनाइटेड किंगडम, चेकोस्लोवाकिया और तुर्की समेत दुनिया के कई देशों में उन्होंने काम किया (Dec 5, Mainstream Weekly). उनके उल्लेखनीय योगदान पर वर्ष 1981 में एशियाटिक सोसायटी ने उन्हें गोल्ड मेडल से सम्मानित किया। इसी तरह वर्ष 1985 में स्वामी प्रणवानंद एजुकेशन अवार्ड और 1986 में पंडित जवाहरलाल नेहरू अवार्ड भी उन्हें प्रदान किया गया। अकादमिक कार्यों से इतर बागवानी, शिल्पकला और शास्त्रीय संगीत में मुखर्जी की गहरी रुचि थी। वर्ष 2015 में कलकत्ता में मुखर्जी का देहावसान हुआ।

9.2.2: योगदान एवं महत्वपूर्ण कार्य (Contribution and Major Works)

जैसा कि हम पहले जान चुके हैं, रामकृष्ण ने सामाजिक उन्नति, विकास, परिवार–रिश्तेदारी, जाति और वर्ग ढांचा, जीवन की गुणवत्ता आदि समेत विविध मसलों पर काम किया है। इसके साथ ही उन्होंने दर्शनशास्त्र और समाज विज्ञान की सैद्धांतिक व्याख्याओं पर भी गहराई से काम किया है। समाज, संस्कृति और विकास के संबंधों पर भी उन्होंने उल्लेखनीय काम किया है। मुंशी (2016) बताते हैं कि रामकृष्ण ने इतने विविध और विस्तृत स्तर पर काम किया है कि उनके जीवन को किसी एक आयाम में स्पष्ट कर पाना संभव नहीं

है। भारतीय शोध इतिहास में वह ऐसे शोधकर्ता रहे हैं, जिनका कार्यकाल ईस्ट इंडिया कंपनी के दौर से वर्ष 2008 तक रहा है।

उनकी विविधता का अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि उन्होंने बंगाल के अकाल से लेकर ब्रिटेन की सामाजिक गतिशीलता, युगांडा की पारंपरिक समस्याओं और सूडान के प्राचीन लोगों तक पर काम किया है। उनके कुछ उल्लेखनीय कार्यों में निम्न पुस्तकों को गिना जाता है:

i) *Social Indicators* (1975),
ii) *What Will it Be?* (1979),
iii) *Sociology of Indian Sociology* (1979),
iv) *Classifications in Social Research* (1983),
v) *Systemic Sociology* (1993)

मुखर्जी भारतीय सामाजिक अध्ययन के लिये पारंपरिक वियोजन आधारित और सकारात्मक समाजशास्त्रीय शोध सिद्धांतों की आलोचना करते हैं। सांख्यिकी आंकड़ों के अध्ययन के जरिये रामकृष्ण किसी भी घटना के वास्तविक अध्ययन के लिये परिमाणों के आधार पर अध्ययन को जरूरी मानते हैं। भट्टाचार्य भारतीय समाजशास्त्र में रामकृष्ण मुखर्जी के योगदान को निम्नवत महत्वपूर्ण मानते हैं: (Bhattacharya 2017, pp. 97).

- समाज विज्ञान को समग्र रूप में एकात्मक अवधारणा के तौर पर स्थापित करना
- निगमन, परिमाणात्मक समाजशास्त्र का अन्वेषण
- विशुद्ध मार्क्सवादी दृष्टिकोण और समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का ऐसा मेल स्थापित किया, जो रूढ़िवादी मार्क्सवादी दृष्टिकोण से अलग है
- सामाजिक विश्लेषण में सांख्यिकी, परिमाणात्मक सिद्धांत की स्थापना में अग्रणी भूमिका का निर्वहन

9.3: दृष्टिकोण एवं सिद्धांत (Approach and Method)

प्रारंभ में रामकृष्ण ने 1943 के बंगाल अकाल और कृषि व भूमि ढांचे की प्रकृति और इनसे जुड़ी समस्याओं का अध्ययन किया। इसके लिये उन्होंने अनुभवजन्य, अवधारणात्मक प्रकृति के सिद्धांतों का इस्तेमाल किया। यद्यपि प्रारंभ में उन्होंने अपने शोधकार्यों में मार्क्सवादी दृष्टिकोण का भी प्रयोग किया, लेकिन जल्द ही उन्होंने आगमनात्मक आनुमानिक (Inductive Inferential) सिद्धांत का इस्तेमाल प्रारंभ कर दिया (Singh 1986). कम उम्र में ही मार्क्सवादी विचारधारा से जुड़ जाने के कारण मुखर्जी के भारतीय समाज के प्रति दृष्टिकोण और समझ पर मार्क्सवादी विचारों का असर दिखता था। *The Dynamics of A Rural Society* (1957) में वह मार्क्सवादी दृष्टिकोण के जरिये कृषक समाज की गतिशीलता में आर्थिक ढांचे की भूमिका को उन्होंने स्पष्ट किया। इस अध्ययन के लिये उन्होंने भूमि और व्यवसाय के मापदंडों के आधार पर उत्पादन के संबंधों को दो श्रेणियों में विभक्त किया। मुखर्जी ने कृषक समाज में जाति ढांचे का भी अध्ययन किया। ब्रिटिश उपनिवेश दौर के जाति और वर्ग के ढांचे पर असर को भी उन्होंने स्पष्ट किया। अपने इस अध्ययन में वह लोगों के सामाजिक जीवन पर आर्थिकी के असर को समझाते हैं। (Pramanick 2017, pp. 46)

आर्थिक ढांचे के अलावा रामकृष्ण ने भारतीय समाज में वर्ग के अध्ययन पर भी उल्लेखनीय काम किया है। वह मानते हैं कि व्यापारी वर्ग सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अपनी

पुस्तक ***The Rise and Fall of East India Company: A Sociological Appraisal*** **(1958)** में वह मार्क्सवादी दृष्टिकोण का इस्तेमाल करते हुये व्यापारी वर्ग के विकास और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रभाव का अध्ययन करते हैं। वह ईस्ट इंडिया कंपनी के उद्भव और पतन तथा इसके भारतीय समाज पर असर को स्पष्ट करते हैं। वह बताते हैं कि किस तरह अंग्रेज व्यापारी पूंजीवादी वर्ग यूरोप और भारत में विकसित हुये। उन्होंने इंग्लैंड में सामाजिक अध्ययन के लिये दो वर्गों को समृद्ध और वंचित नाम से पुकारा है और इन दोनों के बीच होने वाले संघर्ष को स्पष्ट किया है।

रामकृष्ण के अनुसार ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी अपने नायकत्व अथवा जीतने की क्षमता के कारण भारत में सफल नहीं हुये, बल्कि इसकी वजह यह थी कि उन्होंने भारत में व्यापारिक पूंजी के इस्तेमाल के विशेष तरीकों का इस्तेमाल किया। इस तरह यह भारतीय सामंती समाज पर पूंजीवाद की जीत बन गयी। वह बताते हैं कि ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय उद्यमों को नष्ट किया और भारत से धन को यूरोप पहुंचा दिया।

अपने बाद के शोधकार्यों में मुखर्जी ने आगमनात्मक आनुमानिक सिद्धांत का इस्तेमाल समाज के व्यवस्थित अध्ययन के लिये किया, जिसे व्यवस्थित समाजशास्त्र (Systemic Sociology) नाम दिया गया।

रामकृष्ण (1993) के अनुसार समाजशास्त्र का कार्य समाज को समझना है। वह सामाजिक वास्तविकता को लेकर निम्न दो लक्ष्यों से विश्लेषणात्मक बोध सामने रखते हैं:

- समाज विज्ञान के सामान्य विचार के तहत समाजशास्त्र की विशेष भूमिका को स्पष्ट करना
- यह परीक्षण करना कि किस तरह समाजशास्त्र समग्र समाज विज्ञान से अलग एक विशिष्ट शाखा है

रामकृष्ण मुखर्जी के अनुसार यह व्यवस्थित समाजशास्त्र की बुनियाद है, उनके अनुसार व्यवस्थित समाजशास्त्र के दो घटक हैं:

- **समाजशास्त्र की सत्तामूलता (Ontology of Sociology):** समाज होने की प्रकृति, यह बुनियादी तत्व है
- **समाजशास्त्र की ज्ञानमीमांसा (Wpistemology of Sociology):** समाज के संबंध में ज्ञान की प्रकृति, स्रोत और सीमाएं

रामकृष्ण के अनुसार समाज का मूल्यांकन इन दो घटकों के व्यवस्थित अध्ययन से संभव है। हालांकि, यहां यह भी उल्लेखनीय है कि रामकृष्ण के लिये समाज को समझने का अर्थ समाज के मूल्यांकन से अलग था, क्योंकि समाज को समझना समाज के मूल्यांकन तक सीमित नहीं है, बल्कि यह समाज के भविष्य और इसकी स्थिति के कारणों की भी व्याख्या करता है।

3.3.1: समाज क्या है (What is Society)

किसी समाज की स्थापना की पहली शर्त वहां लोगों और समूहों की उपस्थिति है, जिनके बीच परस्पर संवाद हो, भले ही यह संवाद नकारात्मक, सकारात्मक अथवा निष्पक्ष हो। दूसरी शर्त यह है कि यह वैयक्तिक नहीं होता यानी इसकी प्रकृति समूहवादी हो। इसके अलावा सकारात्मक और निष्पक्ष संवाद–संपर्क समूहों को परस्पर जोड़कर रखते हैं। ऐसे संवादों को अनुपूरक संवाद कहा जाता है और इनका गुण समाज को अस्तित्वमान रखना है। दूसरी ओर, प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से सामने आने वाले नकारात्मक संवाद समूहों में बदलाव की वजह बनते हैं और कई बार ये किसी समूह के विलोपन का भी कारण बन जाते हैं। ऐसे संवादों को अंतर्द्वंद्वात्मक संवाद कहा जाता है और ये समाज के बदलाव की प्रकृति रखते हैं। परिणामतः इन दोनों प्रकार के संवादों के चलते कोई समाज पूरी तरह विलुप्त भी हो सकता है। चूंकि, इन दोनों तरह के संवादों में लोगों की सहभागिता रहती है, लिहाजा उन्हें परिवर्तनशील तत्वों के तौर पर जाना जाता है (Mukherjee 1993). उपरोक्त तंत्र के जरिये मुखर्जी सामाजिक संवादों, सामाजिक क्रियाकलापों, सामाजिक व्यवहार, सामाजिक संबंधों और सामाजिक संबंधों के अनुक्रमों को लेकर अवधारणा स्थापित कर पाते हैं, ताकि समझा जा सके कि समाज क्या है।

> यहां घटना का अर्थ किसी भी वस्तु से है, जिसके गुणों की पहचान तो होती है, लेकिन व्यापकता की नहीं। इस प्रकार मानव समाज, किसी स्थान, समय और लोगों के संदर्भ में एक घटना है Mukherjee 1993, pp. 126\

मुखर्जी के अनुसार इसकी वजह यह है कि ये सभी समग्र सामाजिक व्यवस्था के अलग–अलग हिस्से हैं और इन सबको एकसाथ समझना आवश्यक है। मुखर्जी सात अंधों और हाथी की कहानी के जरिये इसे स्पष्ट करते हैं। इन अंधों ने हाथी को अलग–अलग स्थानों पर छुआ। एक ने (जिसने हाथी के पैरों को छुआ था) इस जानवर को पेड़ के तने के आकार का बताया तो दूसरे ने पूंछ को छूने के बाद इसे किसी रस्सी के समान जीव मान लिया, कान पकड़ने वाले अंधे ने हाथी को पंखे के आकार का जीव बताया, इसी तरह हर अंधे ने अलग–अलग व्याख्या की। मुखर्जी मानते हैं कि समाज को अलग–अलग व्यक्तियों के सघन समग्र स्वरूप के तौर पर देखा जाना चाहिये जो क्रियाकलापों, व्यवहार और संबंधों के लिहाज से एकीकृत हो। वह बताते हैं कि समाज एक ऐसा तत्व है जो लोगों के जीवन को निर्धारित करता है, लेकिन लोगों की व्यक्तिगत परिवर्तनशीलता को भी स्वतंत्रता देता है। इस प्रकार समाज लोगों की तात्कालिक परिस्थितियों के अनुसार विशिष्ट स्वरूप में नजर आता है और कई बार इसमें बदलाव भी आते हैं।

9.3.2: समाज का विज्ञानीकरण (Sciencing Society)

समाज की परिभाषा को स्पष्ट कर लेने के बाद मुखर्जी समाज के अध्ययन के लिये व्यवस्थित तरीके की ओर बढ़ते हैं, जिसे उन्होंने समाज का विज्ञानीकरण कहा है 1993 pp.101). वह बताते हैं कि समाज का विज्ञानीकरण किसी घटना से जुड़े पांच सवालों के जवाब तलाशकर उससे जुड़ी व्यवस्थित जानकारी हासिल करता है। ये पांच सवाल हैं– 1. यह क्या है? 2. यह क्यों है? 3. यह कैसे है? 4. इससे क्या होगा? 5. इसे क्या होना चाहिये? मुखर्जी बताते हैं कि ये सभी प्रश्न एक–एक कर किये जाने चाहिये और इनसे मिलने वाले जवाबों को अगले सवाल से जुड़ना चाहिये। वह बताते हैं कि प्रारंभिक तीन प्रश्नों पर ही समाज की समझ निर्भर करती है, जबकि बाद के दो प्रश्न समाज के मूल्यांकन के जवाब तलाशते हैं। वह उदाहरण देते हैं कि किस तरह महात्मा गांधी ने इन प्रश्नों का इस्तेमाल भारतीय समाज को समझने और अपने दर्शन को विकसित करने में किया। वह लिखते हैं, गांधी का सामाजिक दर्शन भारतीय समाज से जुड़े

क्या, कैसे और क्यों के प्रश्नों से उभरा। (1979, pp.7). मुखर्जी आगे बताते हैं कि इसे क्या होना चाहिये, इस सवाल का जवाब मानवजाति के मुख्य मूल्यांकन पर आधारित है, जिसके चार घटक हैंः

- प्रजातियों का अस्तित्व
- लोगों की सुरक्षा और उनका जीवनकाल
- व्यक्तियों की भौतिक समृद्धि, जिस पर उनका अस्तित्व, सुरक्षा और समग्र जीवन आधारित है
- हर व्यक्ति का मानसिक विकास, ताकि उसकी क्षमताओं का पूरा उपयोग हो

हालांकि, इन सभी सवालों और उनके मूल्यांकन की समझ अलग–अलग लोगों में अलग हो सकती है। ऐसी स्थिति में मुखर्जी मानते हैं कि विशेषज्ञ को विचारों का एकाधिकार रखने के बजाय शोधकर्ता और आम लोगों के विचारों को भी ध्यान में रखना चाहिये। वह बताते हैं कि इस संबंध में विचार को लेकर निम्न समन्वय का ध्यान रखा जाना चाहिये–

- अभिजात्य विशेषज्ञ का मूल्यांकन, जिसमें यह स्पष्ट किया गया हो कि मानवजाति के मुख्य मूल्यांकन के लिहाज से लोगों के सवालों के जवाबों के लिये क्या आवश्यक है
- व्यक्तिगत रूप से गठित समूहों के मूल्यांकन का समावेश, क्योंकि यह सीधे तौर पर वह सन्दर्भ स्पष्ट करता है लोग अपने लिये क्या चाहते हैं
- किसी स्थान, लोगों और विशेष परिस्थितियों के संदर्भ में उपरोक्त दोनों मूल्यांकन सेट के संवादों और संबंधों के जरिये निष्कर्ष निकाले जाने चाहिये

9.4: सामाजिक शोध के प्रकार (Types of Social Research)

जैसा कि हम इकाई के पूर्ववर्ती हिस्से में पढ़ चुके हैं कि सामाजिक घटनाओं को गहराई से समझने के लिये पांच बुनियादी सवाल पूछना और इनके जवाबों को तलाशना आवश्यक है। अब हम जानेंगे कि रामकृष्ण के अनुसार किस तरह इन पांच सवालों के जवाबों की तलाश की दिशा में किये जाने वाले प्रयास सामाजिक शोध प्रक्रिया के तीन विभिन्न अलग–अलग प्रकारों की स्थापना का कारण बनते हैं।

9.4.1: विवरणात्मक शोध (Descriptive Research)

शोध का पहला प्रकार है विवरणात्मक शोध। इसके तहत किसी घटना के विवरण पर ध्यान दिया जाता है। यह शोध मूलतः दो प्रारंभिक प्रश्नों, यह क्या है और यह कैसे है का जवाब तलाशता है। इसके तहत यह शोध मुख्यतः किसी घटना के संदर्भ में सूचनाओं और आंकड़ों का संग्रहीकरण करता है। चूंकि इस शोध का लक्ष्य विवरण देना होता है, इसमें सिद्धांत की अधिक
प्रासंगिकता नहीं रहती। शोध की रणनीति तथ्यों की तलाश करना और तथ्यों की विवेचना करना होती है। (Mukherjee 1993, pp. 150).

9.4.2: व्याख्यात्मक शोध (Explanatory Research)

इस शोध में शोधकर्ता एक कदम आगे बढ़ाते हुये यह क्यों है, इस सवाल का जवाब तलाशता है। इस शोध में शोधकर्ता उन संभावित कारणों की तलाश करता है, जो किसी घटना की वजह हैं। विवरणात्मक शोध के विपरीत इस शोध में विशेष सिद्धांत क्रिया, प्रक्रिया की आवश्यकता होती है, जिसमें क्रमिक प्रस्तावों की व्यवस्था, आंकड़ों का विश्लेषण और शोध का परिणाम शामिल हैं। इस शोध में निगमन शोध सिद्धांत का इस्तेमाल किया जाता है।

9.4.3: परीक्षणात्मक या नैदानिक शोध (Diagnostic Research)

तीसरे प्रकार के इस शोध में शोधकर्ता उपरोक्त तीनों सवालों के साथ यह क्या होगा का भी जवाब तलाशता है। इस प्रकार का शोध कल्याणकारी समाजशास्त्र के लिये उपयोगी है। जिसके तहत किसी नीति या कल्याणकारी कार्यक्रम के प्रभाव और इससे क्या होगा का जवाब तलाश किया जाता है। इस सवाल का जवाब तलाशने के लिये शोधकर्ता विभिन्न प्रासंगिक सिद्धांतों और पूर्वप्रयुक्त परिकल्पनाओं का इस्तेमाल करता है। इस प्रकार पूर्वप्रयुक्त परिकल्पनाएं और सिद्धांत शोधकर्ता के परीक्षणात्मक शोध के लिये वैकल्पिक बन जाते हैं। (Mukherjee 1993)

Chart 1: Types of Social Research

Mode of Research	Descriptive	Explanatory	Diagnostic
Object of Research	A constant phenomena or system of variation	A system of variation	A system of variation
Place-time co-ordinates of field of observation	Specified at a point or forms a closed circuit	A closed circuit	An open circuit; free at the contemporary terminal
Scope of Research	Description, classification	Description, classification, explanation	Description, classification, explanation, prediction
Terms of reference to answer questions	What is it? How is it?	What is it? How is it? Why is it?	What is it? How is it? Why is it? What will it be?
Orientation	Deductive-positivistic	Deductive-positivistic	Inductive-inferential
Role of theory	Implicit in what is described and classified	Yardstick for causal explanation	Produce alternate hypotheses
Role of empirical findings	Characterize and classify	Characterize, classify and formulate hypothesis	Characterize, classify and produce alternate hypotheses

Source: Mukherjee, 1993, Systemic Sociology, pp. 157.

9.5: सामाजिक परिवर्तन एवं विकास (Social Change and Development)

सामाजिक बदलाव और विकास भारत में प्रारंभ से ही समाजशास्त्रियों के प्राथमिक विचार का विषय रहा है। विकासशील समाजों के अध्ययन में परिवर्तन के अध्ययन में ये दोनों मूल बिन्दु रहे हैं। रामकृष्ण तर्क देते हैं

कि इन दोनों अवधारणाओं को अस्पष्ट रूप से इस्तेमाल किया गया है, क्योंकि इन्हें पश्चिम से लेकर सीधे विकासशील समाजों पर थोप दिया गया है। सामाजिक परिवर्तनों से संबद्ध विभिन्न पहलुओं के विश्लेषण के बाद वह बताते हैं कि सामाजिक परिवर्तनों को मूल्याधारित अवधारणा के तौर पर इस्तेमाल किया गया है। वह बताते हैं कि सामाजिक अध्ययनों में परिवर्तन को हमेशा परंपराओं से आधुनिकता की ओर बढ़ावे के तौर पर ही देखा गया है, जबकि यह वस्तुवादी परिवर्तन है। रामकृष्ण के अनुसार सामाजिक परिवर्तन मूल्यनिरपेक्ष होता है, जो किसी विशिष्ट दिशा में परिवर्तन को नहीं बढ़ाता। रामकृष्ण कहते हैं कि विकासशील समाजों में परंपरा और आधुनिकता को विभिन्न संदर्भों में परिवर्तन के बिंदुओं के तौर पर प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है। वह कहते हैं कि परंपरावाद और आधुनिकतावाद को अलग–अलग समाजों के लिये अनुभवजन्य परीक्षण से ही निर्धारित किया जा सकता है। वह कहते हैं कि कोई भी समाज विकसित या विकासशील के तौर पर नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उनके विकास के लक्ष्य अलग–अलग संदर्भों के हिसाब से अलग होते हैं। रामकृष्ण प्रस्ताव देते हैं कि किसी स्थानविशेष के लिये सिद्धांत का विकास समाज विज्ञान में सार्वभौमिकता का जरिया नहीं बन सकता है। वह कहते हैं कि अधिकतर सिद्धांत विकसित समाजों में निर्मित हुये हैं और इनका विकासशील समाजों में उपयोग अलग ही लक्षणों का कारण बनता है। वे अवधारणाएं, जिन्हें सार्वभौमिक माना जाता है, वे भी अलग समय और स्थान में पूरी तरह फिट नहीं हो सकते हैं। वह कहते हैं कि इन अवधारणाओं को तात्कालिक परिस्थितियों में अनुभवजन्य सिद्धांतों के आधार पर इस्तेमाल किया जाना चाहिये।

9.6: निष्कर्ष (Conclusion)

अपने कॅरियर के प्रारंभ में रामकृष्ण ने भारतीय समाज का अध्ययन मार्क्सवादी दृष्टिकोण से किया, लेकिन बाद में वह व्यवस्थित सामाजिक अध्ययन की ओर बढ़े। मुखर्जी ने यह बिंदु प्रतिपादित किया कि किसी घटना के अध्ययन के लिये शोधकर्ता को पांच बुनियादी सवालों के जवाब तलाशने आवश्यक है। उनके अध्ययन के इस तरीके ने उन्हें सार्वभौमिकता और व्यक्तिवादिता के दृष्टिकोण के समन्वय में सफलता प्राप्त की। उन्होंने शोध दृष्टिकोण के इन दोनों तरीकों के बीच के अंतर को भी पाटने का काम किया। इसके अलावा उन्होंने सामाजिक परिवर्तन और विकास के सार्वभौमिक सिद्धांतों को किसी विशेष समाज के संदर्भ में प्रासंगिकता के अनुरूप उपयोग का प्रयास किया।

9.7: सन्दर्भ (References)

- Bhattacharya, S. (2017), "Remembering Ramkrishna Mukherjee" in Papers in Honour of Professor Ramkrishna Mukherjee, *Journal of the Asiatic Society*, Vol. 59, No. 1, pp. 93-98.
- Bose, Pradip Kumar (1997), Problems and Paradoxes of Inductive Social Science: A Critique of Ramkrishna Mukherjee. *Sociological Bulletin*, Vol. 46 (2), pp.153-171.
- Madan, T.N. (2016), Ramkrishna Mukherjee: In memoriam. *Economic and Political Weekly*, Vol.51, No. 10, pp.26-29.
- Mukherjee, R. (1958) [1955] *The Rise and Fall of East India Company: A Sociological Appraisal*. Duke University Press, Berlin.

- Mukherjee R. 1970. Study of Social Change and Social Development in the 'Developing Societies'. *Economic and Political Weekly*, Special Number, July, pp. 1159-1170.

- Mukherjee R. (1979), *Sociology of Indian Sociology*. New Delhi: Allied Publishers Private Limited.

- Mukherjee R. (1991), Social and Cultural Components of Society and Appraisal of Social Reality. *Economic and Political Weekly*, pp. PE21-PE36.

- Mukherjee R. (1993), Systemic Sociology. Sage publications, New Delhi.

- Mukherji, P. N (ed.) (2000), *Methodology in Social Research: Dilemmas and Perspectives, Essays in Honour of Ramkrishna Mukherjee*, Sage Publications, New Delhi.

- Munshi, S. (2016), "Life and Works of Ramkrishna Mukherjee: A Preliminary Appreciation",*Sociological Bulletin*, Vol. 65 (2), pp. 262- 271.

- Pramanick, S.K. (2017), "Ramkrishna Mukherjee: A Crusader in Social Science Research Methodology" in Papers in Honour of Professor Ramkrishna Mukherjee, *Journal of the Asiatic Society*, Vol. 59, No. 1, pp.43-58.

- (2015), Ramkrishna Mukherjee [November 14, 1917-November 15, 2015], Vol.53 (50), *Mainstream Weekly,* New Delhi.
- Accessed at http://www.mainstreamweekly.net/article6113.html